श्री अमृतचन्द्राचार्य विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

टीकाकार

पं. मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक'

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री
विमलसागरजी महाराज के सन्मार्ग-दिवाकर महोत्सव पर प्रकाशित

आचार्य अमृतचन्द्र विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

टीकाकार

पं० मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक'

अर्थ सहयोग

श्री पारसमल राजकुमार पाटनी, कलकत्ता

श्री घेवरचन्द प्रकाशचन्द पाटनी, कलकत्ता

श्री नेमीचन्द हुकमीचन्द बडजात्या, कलकत्ता

श्री कन्हैयालाल सोताराम पाटनी, कलकत्ता

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् पुष्प संख्या–८

आशीर्वाद : **सन्मार्गदिवाकर आचार्य विमलसागरजी**

प्रेरक **उपाध्याय मुनिश्री भरतसागरजी महाराज**

निर्देशिका : **आर्यिका स्याद्वादमती माताजी**

प्रबंध संपादक : **ब्र० धर्मचन्द शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी**
B. Sc. LL. B.

ग्रन्थ : **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**

प्रणेता : **आचार्य अमृतचन्द्र**

संस्करण : द्वितीय प्रतियाँ १०००
वीर निर्वाण सं० २५२१ सन् १९९५

प्रकाशक : **भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्**

प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागरजी संघ

(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया,
बाँसवाड़ा [राजस्थान]

(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाबबाटिका,
लोनी रोड, दिल्ली

मूल्य : ७)

मुद्रक : **वर्द्धमान मुद्रणालय,**
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी–१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

चारित्र शिरोमणि
सन्मार्ग दिवाकर
करुणा निधि
वात्सल्य मूर्ति
अतिशय योगी—
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—
अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्मपतितों के उद्धारक
ज्योति पुञ्ज—
पतितों के पालक
तेजस्वी अमर पुञ्ज
कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा
बीसवीं सदी के अमर सन्त
परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक
जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत
पुण्य पुञ्ज—
गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108
श्री विमलसागरजी महाराज के चरणों में
"ग्रन्थराज"
समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय।
तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय॥
"स्याद्वाद" सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

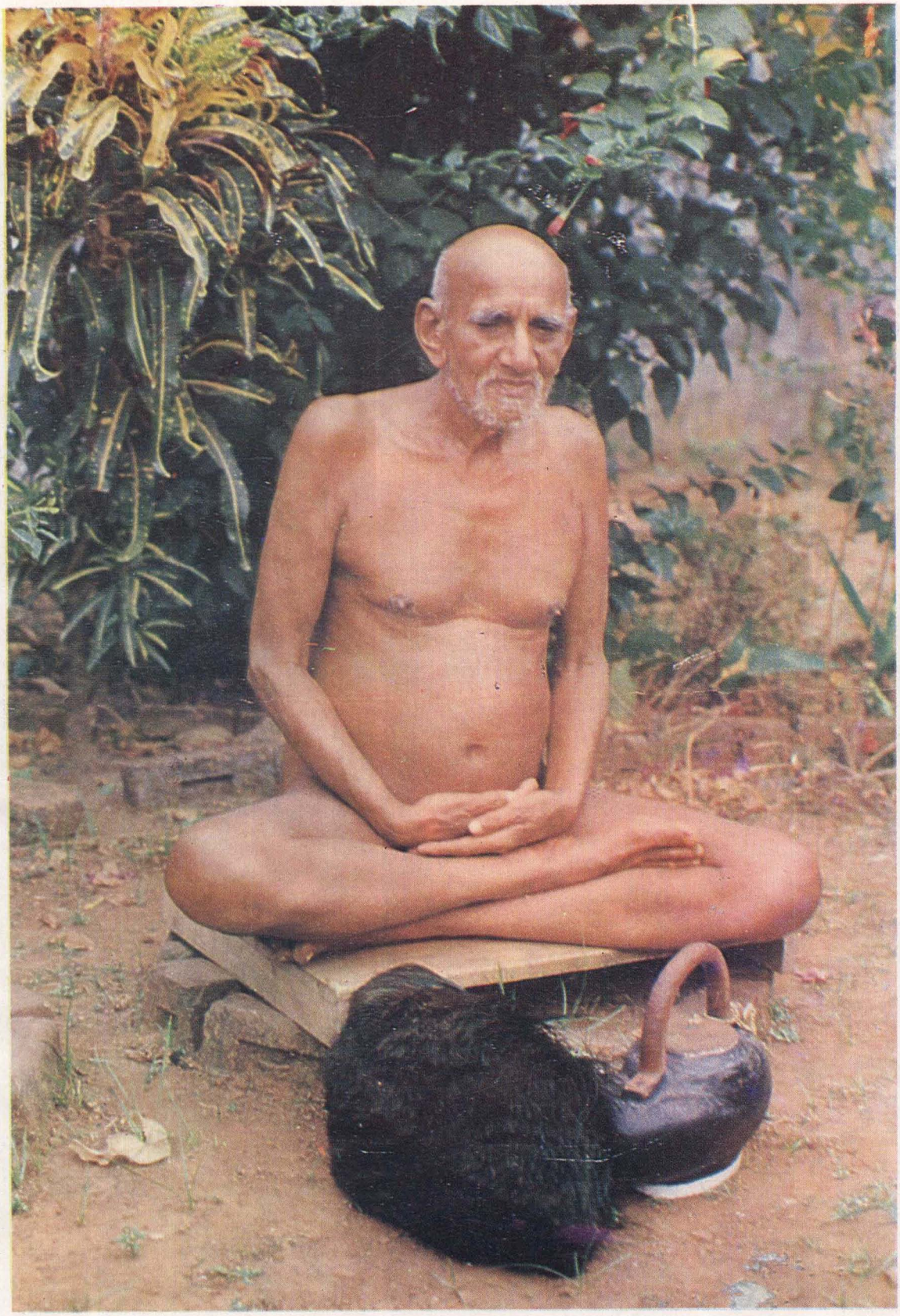

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वाद

विगत कतिपय वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य का आवरण आने लगा—एकान्तवाद-निश्चयाभास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। विगत ७०–८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगा कर निश्चयनय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य को प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रों में भावार्थ बदल दिये हैं, अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

बुधजनों ने अपनी क्षमता पर 'एकांत' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुलभ नहीं करवा पाये। आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज के सन्मार्ग दिवाकर महोत्सव के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो। इसी भावना से दुर्लभ आर्ष ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वतः ही पलायन कर जाता है।

आर्ष ग्रंथों के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

उपाध्याय भरतसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं। ऊटपटाँग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं। कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

येनैते विदलन्ति वादि गिरस्यतुष्यन्ति वागीश्वराः,
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् बन्धुर्यन्मित्रं यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज के सन्मार्ग-दिवाकर महोत्सव पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह संकल्प मैंने प० पू० गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सान्निध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिल रही है।

इस महान कार्य में विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द्र जी व ब्र० प्रभाजी पाटनी रहे, इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

आर्यिका स्याद्वादमती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥—पद्मनन्दी पं० ॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्रमें जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिए उन मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई दिव्यध्वनि से प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुंथित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया था वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्यायश्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ० स्याद्वादमती माताजी के लिये मैं शत्-शत् नमोस्तु वंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत्-शत् नमन करती हूँ।

ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले महानुभावों की मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले वर्द्धमान मुद्रणालय की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सभी सहयोगियों के लिये कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की, जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार की रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

ब्र० प्रभा पाटनी, संघस्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व को ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा को समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति को मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिन-वाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक थे सन्मार्ग दिवाकर, चारित्रचूड़ामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिये कल्याणकारी रही है। आचार्यवर्य की हमेशा यही भावना रहती थी कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जायँ जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सकें।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा को रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परमपूज्य ज्ञानदिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजीको प्रेरणा व निर्देशन में भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने सन्मार्ग दिवाकर महोत्सव के अवसर पर आर्ष ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा हैं।

ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एवं मार्ग मिला है, वे पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज एवं माता स्याद्वादमती जी हैं। उनके लिए मेरा क्रमशः नमोस्तु एवं वन्दामि अर्पण है।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/संपादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री

अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

पूर्वाचार्यों द्वारा रचित शास्त्रोंकी विशुद्ध प्रमाणित महत्ता

पूर्वाचार्योंके वचन प्रमाण क्यों हैं ?

वक्तुः प्रमाणात् वचनं प्रमाणम्, यह शास्त्र और लोक सम्मत निर्णय है कि वक्ता यदि प्रामाणिक है, निष्पक्ष सत्यभाषी है। रागद्वेष रहित है तो उसकी बात सत्य प्रमाण मानी जाती है। दिगम्बराचार्योंने शास्त्रोंकी रचना की है वे संसार विरक्त तपस्वी वीतराग महर्षि थे। इसलिये उनके द्वारा रचे हुये सभी शास्त्र पूर्ण प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त विशेष महत्त्वपूर्ण प्रमाणकी कसौटी यह है कि उन महर्षियोंने सर्वज्ञ तीर्थंकर-की दिव्यध्वनिके आधारपर ही शास्त्रोंकी रचना की है। शास्त्रोंकी रचनाका दूसरा मूलस्रोत गणधर देव और श्रुतकेवलीके वचन हैं। जैसाकि भगवत्कुंदकुंद स्वामीने समयसार प्राभृतकी रचनाके प्रारम्भमें सिद्धोंको नमस्कार करते हुए कहा है कि—

"वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं"

अर्थात्--कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जैसा श्रुतकेवली भगवान्ने बताया है उसीके अनुसार मैं समय-प्राभृतकी रचना करता हूँ। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रोंकी रचनाका मूल आधार श्रुतकेवलीके वचन हैं। श्रुतकेवलियोंका ज्ञान समस्त तीन लोकोंके स्वरूपको सर्वज्ञके ज्ञानके समान जानता है। भेद इतना है कि सर्वज्ञका ज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतकेवलीका ज्ञान परोक्ष है। सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसारमें कहा है कि—

सुद केवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥

अर्थ—श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ज्ञान समान रूपसे सभी पदार्थोंको—चारों गतियोंको त्रसनाड़ी, असंख्यात द्वीप समुद्र, सिद्धशिला आदि तीनों लोकोंके पदार्थोंको जानते हैं किन्तु भेद यह है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। इसलिये वीतराग महर्षि श्रुतकेवलीके वचन सर्वज्ञवाणीके समान ही पूर्ण प्रमाण हैं। उन्हीं श्रुतकेवलीके वचनोंके आधार समस्त पूर्वाचार्योंने शास्त्रोंकी रचना की है अतः सभी शास्त्र यथार्थ वस्तु तत्त्वके प्रतिपादक हैं। वे पूर्ण प्रमाण हैं।

इतना खुलासा समझ लेना चाहिये कि केवली और श्रुतकेवलीका ज्ञान समान बताया गया है वह बहुत स्थूल कथन है। वास्तवमें तो केवली भगवान्का ज्ञान भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी पदार्थों को, उनके समस्त गुणोंको और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष जानता है श्रुतकेवलीका ज्ञान उस केवलीके ज्ञान-के अनन्तभाग भी नहीं जानता है। एक परमाणुके अनन्त अंशोंको केवली प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं। उनका ज्ञान पूर्ण निरावरण है, श्रुतकेवलीका ज्ञान आवरण सहित है। वह क्षयोपक्षय है, केवलीका ज्ञान क्षायिक है। दोनोंके ज्ञानों में आकाश पाताल जैसा अन्तर है। फिर भी श्रुतकेवली परोक्ष रूपसे सभी त्रिलोकवर्ती पदार्थों-को स्थूल रूपमें जानते हैं इसलिये उनके वचन वस्तु तत्त्वका यथार्थ बोध कराते हैं इसलिये भगवत्कुन्दकुन्द स्वामीने उनके वचनोंके अनुसार ही शास्त्र रचना करनेकी प्रतिज्ञा की है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि दिगम्बराचार्योंने अपने स्वतन्त्र मन्तव्य अथवा अपनी समझके अनुसार शास्त्रोंकी रचना नहीं की है किन्तु गणधरदेव और श्रुतकेवलीके वचनोंके आधारसे की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य धरषेण लिखित परम्पराके स्रोत

आचार्य धरषेण द्वादशांगवेत्ता तो नहीं थे किन्तु अंगांग ज्ञानी थे। भगवान् महावीर स्वामीके निर्वाण होनेके ६०० वर्ष तक तो धर्म होना और जिनवाणीका रहस्य मौखिक रूपमें ही बताया जाता था। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए हैं। उनके पीछे लोगोंमें स्मृति शक्ति घटने लगी। पदार्थ समझकर धारणा कम हो गई अतः आचार्य धरषेणने अपने सिद्धांत ज्ञानका प्रसार और जगत्के मनुष्योंकी कल्याण भावनाको ध्यानमें रखकर आचार्य भूतबलि और आचार्य पुष्पदंतको बुलाकर और उनके विशेष ज्ञानकी परीक्षा लेकर उन्हें अपने महान् सिद्धान्त ज्ञानका रहस्य उन दोनों आचार्य शिष्योंको पूर्ण रूपसे बता दिया, फिर उन्होंने लिखित रूपमें षट्खंडागमकी रचना की। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द, वीरसेन, समन्तभद्र, उमास्वामी, अकलंक, देवनन्दि, पूज्यपाद पात्रकेसरी (विद्यानन्दि), सोमदेव, जिनसेन, अमृतचन्द्र, नेमिचन्द्र, गुणभद्र आदि वीतरागी स्वात्म साधनामें लगे हुये महातपस्वी आचार्योंने महान् गम्भीर और सूक्ष्म तत्त्व प्रतिपादक चारों अनुयोगोंके शास्त्रोंकी रचना पूर्व आचार्योंके रचित शास्त्रोंके आधारसे की है। यह शास्त्र रचनारूप जिनवाणी अक्षुण्ण रूपमें परम्परासे चली आ रही है। इस समय मोक्ष मार्गदर्शक यही जिनवाणी है। इसी जिनवाणीके वचनोंसे मुनि धर्म और श्रावक धर्म प्रचलित है।

सम्यग्दर्शनकी पहचान

सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्तिका मूल साधक गुण है। उसकी जो सर्वज्ञ और मनःपर्ययज्ञानी कर सकते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन तो सात प्रकृतियोंके उपश्रम क्षयोपशम और क्षयसे ही होता है। वह आत्मीय गुणका विकास है। वर्तमानमें व्यवहार सम्यक्त्व ही मुनिराजोंमें और श्रावकोंमें मोक्ष साधक है। इसकी पहचान देवशास्त्र गुरुओंमें अटल दृढ़ श्रद्धासे होती है। भगवानकी हार्दिक भक्ति, मुनियोंमें पूर्ण श्रद्धा भक्ति और शास्त्रोंमें पूर्ण श्रद्धा जिसके है वही व्यवहार सम्यग्दृष्टि है। वर्तमानके मुनि भी २८ गुणोंके पालक हैं। चतुर्थ कालके मुनियोंके समान ही उनकी भक्ति और श्रद्धा करना प्रत्येक श्रावकका कर्तव्य है। इस हीन संहननमें भी वर्तमान मुनिगण परीषहों और उपसर्गोंको सहन करते हैं और महाव्रतोंका पालन करते हैं। शास्त्रोंमें यहाँ तक लिखा है कि चौथे कालके मुनि बहुत कालमें अपने भावोंकी विशुद्धि कर पाते हैं, पंचम कालके मुनि उतनी विशुद्धि अल्प समयमें ही कर लेते हैं। भावलिंगकी पहचान सर्वज्ञ और मनःपर्ययज्ञानी कर सकते हैं इसलिये हम लोग तो उनके २८ गुणोंको एवं उनकी मुनिचर्याको देखकर पीछी, कमण्डलु इन बाह्य चिह्नोंको देखकर नग्नदिगम्बर वर्तमान मुनिराजोंके चरणोंमें अपना मस्तक रखकर बड़ी श्रद्धा भक्तिसे उनके दर्शन, उनकी वैयावृत्ति, उनकी धर्म देशनाका लाभ लेते हुए अपना कल्याण करते हैं यही हमारे जीवनकी सफलता है।

शास्त्रोंके वचनोंमें पूर्ण श्रद्धा रखकर उनके अनुसार अपना सम्यक्त्व, अपना ज्ञान, अपना चारित्र दृढ़ बनाना चाहिये यही व्यवहार सम्यक्त्व है और यही व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व प्रगट करनेका साधन है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय

इस शास्त्रका नाम पुरुषार्थसिद्धयुपाय है। यथा नाम तथा गुण इस लोकोक्तिके अनुसार इस शास्त्रमें पुरुषार्थसिद्धिका उपाय बताया गया है। पुरुषार्थ चार हैं—१–धर्म, २–अर्थ, ३–काम, ४–मोक्ष। इनमें तीन पुरुषार्थ तो गृहस्थ करते हैं और चौथा मोक्ष पुरुषार्थ मुनिगण करते हैं। पुरुष का प्रयोजन पुरुषार्थ है और उसकी सिद्धिका उपाय पुरुषार्थसिद्धयुपाय है। इसलिये ग्रन्थका नाम यथार्थगुण वाचक है, शंका यह होती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि इससे स्त्रियोंका, श्राविकाओंका नाम नहीं आता है। केवल पुरुषोंका नाम ही आता है। इसलिये इस शास्त्रका उपयोग केवल पुरुषोंके लिये बताया गया है। इस शंकाका समाधान यह है कि इसमें मोक्षमार्गका ही वर्णन है और मोक्षमार्गके प्रकरणमें स्त्रियोंका भी ग्रहण हो जाता है फिर शंका होती है। मनुष्यगतिनामकर्मके उदयसे पुरुष और स्त्री दोनों मनुष्य कहे जाते हैं। परन्तु पुरुषका उल्लेख होनेसे स्त्रीका ग्रहण कैसे हो सकता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे पुरुषके नामसे स्त्री भी गर्भित हो जाती है। जैसा कि "अस्ति पुरुषश्चिदात्मा" इस शास्त्रमें प्रमाणसे चैतन्य आत्माको पुरुष कहा गया है। चैतन्य आत्मा पुरुष स्त्री दोनों हैं अतः पुरुष और स्त्री अर्थात् श्रावक और श्राविका दोनोंके लिये शास्त्र हितकारी है।

चार पुरुषार्थोंमें धर्म पुरुषार्थ प्रथम और प्रधान है। धर्मका साधन करनेसे ही आगेके पुरुषार्थ प्राप्त हो सकते हैं। धर्म साधन नहीं है तो कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होंगे। क्योंकि धर्म साधनसे पुण्य होता है उससे अर्थोपार्जन आदि सुखप्रद कार्य होते हैं। अतः धर्म पुरुषार्थ प्रथम एवं मुख्य है। अर्थोपार्जन तो अनीतिसे भी होता है परन्तु न्यायपूर्वक बिना ठगीके जो अर्थ-धनका कमाना है वही अर्थ पुरुषार्थ है।

काम पुरुषार्थमें यह शंका होती है कि काम सेवन तो इन्द्रिय विषयकी लालसाका परिणाम है तो वह पुरुषार्थ कैसा? वह तो निंद्य है। इसके समाधानमें यह समझ लेना चाहिये कि एक तो कामवासना है जो इन्द्रिय विषकी तृप्तिका रूप है। वह त्याज्य है। वह काम पुरुषार्थ नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग चालू रखनेके लिये केवल अपनी धर्मपत्नीके साथ शुद्ध संतानकी उत्पत्तिको भावनासे जो संयोग किया जाता है वह काम पुरुषार्थ त्याज्य नहीं भी है अपितु व्रती पुरुष भी काम पुरुषार्थसे अपने गृहस्थाश्रमको धर्मसेवी बनाते हैं। मोक्ष पुरुषार्थ मुनिमार्ग द्वारा ही साध्य है। इन्हीं चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका उपाय इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने बड़े महत्वके साथ समुचित रूपसे किया।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरिको पद एवं श्रेणी

इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रकी रचना आचार्य प्रमुख श्री अमृतचन्द्राचार्यने की है। आचार्य शिरोमणि कुन्दकुन्द स्वामीकी यह श्रेणी अथवा परम्परा श्रेणीमें प्रमुख स्थान रखती है। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीके अन्तस्तत्वको आचार्य अमृतचन्द्रने जैसा स्पष्ट किया है वह अनुपम एवं अतुल्य है उनका सूक्ष्मान्वेषण एवं गंभीर भाव और शब्द रचना अलग ही है और अनोखी है। उनकी शब्द शैली और भाव भंगीसे ग्रन्थकर्ताका नामोल्लेख जाने बिना ही स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थके कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं।

समयसारकी संस्कृत टीकामें आचार्य कुन्दकुन्दके हृद्य (अभिप्राय) को आचार्य अमृतचन्द्रने सांगोपांग रूपमें खुलासा किया है। उसी प्रकारकी भाव शैली और शब्द शैली उनकी स्वतन्त्र रचना तत्त्वार्थसारमें है उसी प्रकारकी भावशैली और शब्दशैली ग्रन्थराज पंचाध्यायीमें भी मिलती है।

वर्तमानके कुछ विद्वान् अपनी समझसे मतभेद और वैसी धारणाके अनुसार पंचाध्यायीका कर्त्ता श्री पं० राजमल्लजीको बनाते हैं जिन्होंने लाटी संहिताकी रचना की है। परन्तु लाटी संहिताके स्वाध्यायी यह अच्छी तरह समझ गये होंगे कि लाटी संहिता और पंचाध्यायीकी रचनासे आकाश पाताल जैसा अन्तर है। लाटी संहितामें सिद्धान्तका स्थूल रूपमें कथन है। उसकी शब्द रचना भी साधारण है। और भाव भी गंभीर नहीं है। पंचाध्यायीकी रचना बहुत सूक्ष्म अत्यन्त गम्भीर और सिद्धान्तमर्मस्पर्शी हैं। शब्द शैली भी उनके अन्य शास्त्रोंकी रचनासे मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम मार्ग प्रकाशक

"आगम मार्ग प्रकाशक" ग्रन्थ हमने बनाया है उसमें सभी सैद्धान्तिक विषय सप्रमाण लिखे गये हैं, जिनसे प्रचलित सभी मतभेद दूर हो जाते हैं उसी 'आगम मार्ग प्रकाशक' शास्त्रके अन्तमें २० पृष्ठोंमें हमने यह सप्रमाण एवं सुतर्क पूर्ण सिद्ध किया है कि पंचाध्यायी महाशास्त्र आचार्य अमृतचन्द्रसूरिकी ही रचना है। प्रकरणवश हमने इतना लिखना उचित समझा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय लघु रचना होनेपर भी श्रावकोंके लिये परम कल्याणकारी है। हिंसा और अहिंसाका स्वरूप जितना महत्वपूर्ण इस शास्त्रमें है वह दर्पणके समान स्पष्ट रूपसे प्रकाश डालता है श्रावकोंकी चर्या और उनसे मूलगुण और व्रतोंका क्रमपूर्ण विवेचन विस्तारसे इस शास्त्रमें कहा गया है मुनियोंकी चर्याका विवेचन भी उत्तम रूपसे कहा गया है। और भी अनेक विषय इस शास्त्रमें ऐसे हैं जिन्हें पढ़नेसे स्वाध्यायशील श्रावक संसार विरक्ति बन सकता है और मोक्षमार्गमें लग सकता है।

जैन सिद्धान्त समझनेकी पहली कुञ्जी तीन शास्त्र

पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अतिरिक्त—रत्नकरण्डश्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह और तत्त्वार्थसूत्र ये तीन शास्त्र ऐसे हैं जो लघु शास्त्र कहे जाते हैं पर इनके भीतर सागरको गागरमें भरनेके समान समस्त जैन सिद्धान्त भर दिया गया है। ये तीनों शास्त्र उन महा दिग्गज सिद्धान्त रहस्यके पारगामी आचार्यके बनाये हुए हैं जिन्होंने महान्-महान् शास्त्रोंकी रचना की है। भले ही तीनों शास्त्र प्रवेशिका परीक्षामें रक्खे गये हैं जिन्हें छोटे छात्र पढ़ते हैं। बालक इन्हें कंठस्थ कर लें यह मूल उद्देश्य है किन्तु हम अनुभव करते हैं कि इन तीनों शास्त्रोंमें वह सिद्धांत रहस्य भरा हुआ है जो शास्त्री विद्वानोंके मनन करने योग्य है। इन शास्त्रोंको अच्छी तरहसे समझनेवाले छात्र या स्वाध्यायशील शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वान् माने जाते हैं।

ये शास्त्र सिद्धांत रहस्य समझनेके लिये पहली कुञ्जी है। इन पर रची हुई महान् गंभीर संस्कृत टीकायें क्लिष्ट हैं। उन टीकारूप महान् शास्त्रोंको समझनेके लिए उक्त तीन शास्त्र मूल बीज हैं। इन तीनोंके आशयको समझकर उन्हें कण्ठस्थ करना आवश्यक है।

इन तीनोंमें तत्त्वार्थसूत्र ऐसा महाशास्त्र है जिसपर सर्वार्थसिद्ध, तत्त्वार्थराजवार्तिक श्लोकवार्तिक आदि महान् शास्त्र रचे गये हैं। तीनों लोकोंमें अलोक सहित ऐसा कोई तत्त्व या पदार्थ नहीं बचा है जो इस तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं कहा गया हो। समस्त त्रिलोक तत्त्व प्रतिपालक यही मूल सूत्र है। जो सर्वज्ञवाणीको दीपकके समान प्रकाश करता है अलमति विस्तरेण—

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया।
तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वरः॥

सर्वकल्याणमस्तु

—मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय सूची

विषय		पेज से	पेज तक
मंगलाचरण	....	१	१५
ग्रन्थ रचना करने में आचार्य का अभिप्राय	....	१५	२२
संसारी जोवों की समझ	....	२२	२४
व्यवहार नय की उपयोगिता	....	२४	२७
उपदेश देने का पात्र	....	२८	२८
पुरुष (आत्मा) का स्वरूप	....	२९	४४
जीव स्वयं कर्ता भोक्ता है	....	४४	५०
पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय	....	५०	५५
जीव और कर्म में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध	....	५५	६२
अज्ञानी जीवों की समझ	....	६२	६६
पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय	....	६६	६८
मुनियों की अलौकिक वृत्ति	....	६८	७०
एक देश व्रत किसे देना ठीक है	....	७०	७५
दंडनीय उपदेश और उपदेश का क्रम	....	७५	८३
सम्यग्दर्शन का पहले ग्रहण क्यों	....	८४	९७
सम्यग्दर्शन का स्वरूप	....	९७	१३५
सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप	....	१३५	१६०
सम्यग्ज्ञान का विवेचन	....	१६०	१८०
सम्यक् चारित्र का स्वरूप	....	१८०	१८३
हिंसाका व्यापक स्वरूप	....	१८३	२०८
अष्ट मूल गुण	....	२०८	२१९
धर्मोपदेश पाने के पात्र	....	२१९	२३६
असत्य का लक्षण	....	२३७	२४६
चोरी का लक्षण	....	२४६	२५१
मैथुन का लक्षण	....	२५१	२५४
परिग्रह का लक्षण	....	२५४	२६६
सम्यग्दर्शन के घातक चोर	....	२६६	२७१
रात्रिभोजन का त्याग	....	२७१	२८०
सप्त शील पालने की आवश्यकता	....	२८१	२९६
सामायिक का स्वरूप	....	२९६	३००
प्रोषधोपवास का वर्णन	....	३००	३०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोगोपभोगपरिमाणव्रत	३०८	३१५
अतिथिसंविभाग व्रत	३१५	३२९
सल्लेखना का स्वरूप	३२९	३३५
अतीचारों की संख्या	३३५	३७२
तप का विधान	३७२	३७९
मुनिवृत्ति धारण करने का उपदेश	३७९	३८०
षट् आवश्यक	३८०	३९३
गुप्तित्रय	३९३	३९४
पंच समिति	३९४	३९५
दश धर्म	३९५	३९८
द्वादश अनुप्रेक्षा	३९८	४०७
परिषह जय	४०७	४१५
मुनिधर्म गृहस्थ को भी पालन करना चाहिये	४१५	४१७
गृहस्थों को भी मुनिपद धारण करना चाहिये	४१७	४१७
रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं है	४१७	४१८
रत्नत्रय और राग का फल	४१८	४२१
बंध का कारण	४२१	४२५
रत्नत्रय से बंध क्यों नहीं होता	४२५	४२६
रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रवृतियों का भी बंधक नहीं है	४२६	४२९
सम्यक्त्व को देवायु का कारण क्यों कहा गया है	४२९	४३०
भिन्न २ कारणों से भिन्न २ कार्य होते हैं	४३०	४३१
रत्नत्रय मोक्ष लाभ कराता है	४३१	४३२
परमात्मा की मोक्षावस्था	४३२	४३२
परमात्मा का स्वरूप	४३२	४३४
जैन नीति अथवा अपेक्षा विवेचना	४३४	४३७
ग्रन्थ समाप्त करते हुए आचार्य अपनी लघुता बताते हैं	४३७	४३९

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमन्महामहिम–अमृतचंद्रसूरिवर्य–विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भव्यप्रबोधिनी नामक विस्तृत हिंदीटीका सहित

मूलग्रन्थकारका मंगलाचरण

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिसमें (समस्तैः) संपूर्ण (अनन्तपर्यायैः) अनंतपर्यायों से (समं) सहित (सकला) समस्त (पदार्थ–मालिका) पदार्थों की माला अर्थात् समूह (दर्पणतले) दर्पण के तल भाग के (इव) समान (प्रतिफलति) झलकती है, (तत्) वह (परं) उत्कृष्ट (ज्योतिः) ज्योति अर्थात् केवलज्ञानरूपी प्रकाश (जयति) जयवंत हो ।

विशेषार्थ—ग्रंथकार श्रीअमृतचंद्र सूरिने इस मंगलाचरणमें केवलज्ञानरूपी ज्योति को ही नमस्कार किया है और जगत्में उसी का प्रकाश बना रहे, भावना प्रगट की है। जिन अनन्तचतुष्टयगुणोंसेअनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य से–श्रीअर्हन्तदेवमें परमपूज्यता एवं जीवनमुक्तपना आता है, उन्हीं में से यह केवलज्ञान ज्योतिएक प्रधान गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । प्रधानता इस गुणको इसलिये दी जाती है कि आत्मामें अनंतगुणोंके रहते हुए भी यही एक ज्ञानगुण ऐसा है जो अन्य समस्त गुणोंका प्रकाशक है तथा अपना भी स्वयं प्रकाश करता है । वचनद्वारा भी यही एक गुण कहा जा सकता है अन्य समस्त गुण अवक्तव्य हैं अर्थात् कहे नहीं जा सकते । अन्य समस्त गुण क्यों अवक्तव्य हैं, तथा केवलज्ञान ही क्यों वक्तव्य हैं ? इसका कारण यह है कि ज्ञान सविकल्पक—साकार है । अन्य—दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि समस्त गुण निर्विकल्पक-निराकार हैं । अतएव सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंका विवेचन नहीं किया जा सकता, परंतु उनकी भिन्नता दिखानेके लिये उनका जो लक्षण निरूपण किया जाता है, वह भी ज्ञानद्वारा ही किया जाता है । ज्ञान ही एक अपूर्व सूर्य है जो स्व-पर प्रकाशक है । जिस समय आत्मा घातिया कर्मों को नष्ट कर देता है, उस समय वह समस्त कषायभाव को अपने निजरूपसे सर्वथा दूर कर परमशुद्ध चैतन्यरूप को प्राप्त कर लेता है; उसी अवस्था में आत्मा में अन्य समस्त गुणों के पूर्ण विकाश के साथ साथ केवलज्ञान सूर्य का उदय होता है । यद्यपि केवलज्ञानको सूर्यकी उपमा देना ऐसा ही है जैसे कि बालक के मांगने पर उसे असली सिंह के स्थान में नकली सिंह देकर संतुष्ट करना । जिस प्रकार नकली सिंह में असली सिंह के गुणों का सर्वथा अभाव है, तो भी आकृतिसे सिंह समझकर बालक तुष्ट हो जाता है, उसीप्रकार प्रतिदिन उदय होनेवाले इस ज्योतिश्चक्रके प्रतींद्रके सूर्य-विमान में स्वपरप्रकाशकत्व-रूप चैतन्य गुणका सर्वथा अभाव है, फिर भी जगत् में सबसे बड़ा प्रकाशकत्व-रूप स्वरूप देखकर केवलज्ञानको उसीकी उपमा देकर उसके अचिंत्य महत्त्व का दिग्दर्शन कर लेते हैं । जगत् में शब्द-वर्गणारूप स्कंध कुल असंख्यात ही हैं । इसलिये जो शब्द हमें वस्तुके एक अंशका भी बोध कराते हैं, हम उन्हीं शब्दोंके प्रयोगसे वस्तुके समस्त स्वरूपके महात्म्यको समझ लेते हैं । अन्यथा इस उपचरित विवक्षाको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी छोड़दिया जाय, तो वस्तुतत्त्व सर्वथा अनिर्वचनीय हो जायगा; वैसी अवस्था में हम उसके वास्तविक बोध तक कभी पहुंच नहीं सकेंगे । इसलिये आचार्यप्रवर श्रीअमृतचंद्र महाराजने केवलज्ञानको उत्कृष्ट ज्योति शब्दसे सूचित किया है ।

श्रीअर्हत्परमेष्ठीमें परमपूज्यता और ईश्वरपना इसलिये प्राप्त हुआ है। कि वे सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं और हितोपदेशी हैं । जिस सर्वज्ञता आदि गुणों के द्वारा श्रीअर्हन्तदेवमें परमपूज्यता और ईश्वरपना आया, ग्रन्थकारने उन गुणोंका ही स्तवन किया है । वास्तवमें गुणोंसे भिन्न गुणी कोई पदार्थ भी नहीं है । गुणोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है । ज्ञानदर्शनादि गुणों को छोड़कर आत्मद्रव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, इसलिए ज्ञानकी पूजा है तो आत्माकी पूजा है, आत्माकी पूजा है तो ज्ञानकी पूजा है । इतना विशेष है कि शुद्ध आत्मा ही पूज्य हो सकता है, अशुद्ध आत्मा नहीं । अशुद्धता का कारण मिथ्याज्ञान है, शुद्धताका कारण सम्यग्ज्ञान है । अतः सम्यग्ज्ञान ही पूज्य एवं स्तुति करने योग्य है । सम्यग्ज्ञानका आविर्भाव (विकाश, प्रारंभ) चतुर्थगुणस्थानमें होता है, वहींसे आत्मामें एकदेश पूज्यता तथा ईश्वरपन का प्रारंभ भी हो जाता है । आगे चलकर ज्यों ज्यों कषायभावोंका नाश होकर चारित्रकी वृद्धि होती है, त्यों त्यों सम्यग्ज्ञान भी बढ़ता जाता है । दशवें गुणस्थानके अन्तमें जब सूक्ष्मलोभका भी नाश हो जाता है तब आत्माका क्षीणकषाय-रूप परिणाम हो जाता है, वही समय आत्माकी पूर्ण चारित्रप्राप्ति का है । पूर्ण चारित्रविशिष्ट आत्मा ही परम वीतराग कहलाता है, जहाँपर आत्मामें यह परम वीतरागता-गुण प्राप्त होता है, उसीके उत्तरकालमें उसमें केवलज्ञानरूपी परमज्योति प्रगट होती है । अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें आत्मा वीतरागी होता है, और वहींपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाप्रकृतियों का नाश करके केवलज्ञानी—सर्वज्ञ हो जाता है । वही तेरहवें गुणस्थानका प्रारंभ है इसी तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाला आत्मा श्रीअर्हंतपरमेष्ठीके नामसे विभूषित होता है । यहीं पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर-प्रकृतिका उदय होता है तथा भगवान्‌की निरपेक्ष एवं स्वयं सिद्ध दिव्यध्वनि खिरती है, जिसके प्रभावसे अनेक भव्य जीव मिथ्यात्वको छोड़ कर सम्यक्त्व धारण कर लेते हैं, अनेक सम्यक्त्वी विशिष्टचारित्रशाली हो जाते हैं, अनेक श्रावक मुनिपदको धारण कर मोक्षलक्ष्मीके स्वामी बन जाते हैं। इसलिये वीतरागता और सर्वज्ञता ये दो ही गुण ऐसे हैं, जिनसे आत्मा स्वयं परमपूज्य एवं मुक्तिवधूका स्वामी बन जाता है और अन्य आत्माओं को भी अपने समान बना लेता है। वीतरागता सर्वज्ञतामें अन्तर्भूत है, अतएव इस मंगलाचरणमें उसी एक उत्कृष्ट ज्योति—केवलज्ञानका स्वरूप विवेचन-रूप स्तवन किया गया है।

जिसप्रकार दर्पणमें सामनेके समस्त पदार्थोंका प्रतिविम्ब झलकता है, उसीप्रकार केवलज्ञानमें लोकालोक के समस्त पदार्थ और उनमें होने वाली भूतकाल, भविष्यत्काल एवं वर्तमानकाल—त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पर्यायें हर समय प्रतिविंबित होती रहती हैं। जिस प्रकार दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिविम्ब उसी दर्पणकी पर्याय है, बाह्य पदार्थ केवल निमित्तकारण है, उसी प्रकार केवलज्ञानमें प्रतिविम्बित होनेवाले समस्त पदार्थ उसी ज्ञानकी पर्याय है। बाह्य पदार्थ केवल निमित्तमात्र हैं। जिसप्रकार दर्पण स्व-स्वरूपको नहीं छोड़ता हुआ अपने स्थान पर नियत है और बाह्य पदार्थ स्व-स्वरूपको नहीं छोड़ते हुए अपने स्थान पर नियत हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान आत्मा में ही शुद्ध रूप से व्याप्त है, वह आत्मा को छोड़कर जगत में कहीं नहीं जा सकता। कारण—जो जिसका गुण है, वह अपने गुणी को छोड़कर कहीं बाहर नहीं जा सकता। गुण गुणी का तादात्म्य संबन्ध है। यदि गुण गुणी को छोड़कर दूसरे स्थान में भी चला जाय तो कहना होगा कि चेतन में जड़ता भी आ सकती है और जड़ में चेतनता भी आ सकता है, फिर सभी पदार्थ संकररूप धारण कर लेंगे। वैसी अवस्था में न तो पदार्थों की नियति ही रह सकेगी और न उनके लक्षण एवं कार्य कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप ही बन सकेंगे । इसलिये केवलज्ञान निरावरण परमशुद्ध ज्ञान है, वह आत्मा में ही व्याप्त है, उसमें पदार्थों का जो प्रतिबिंब पड़ता है, वह उसी ज्ञान की शुद्ध पर्याय है। वह पर्याय पर-पदार्थों के निमित्त से होती है इसलिए विकारी है, ऐसी जिनकी समझ है, वह भूलभरी है. कारण–ज्ञेय को विषय करना ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञेय की विषयता को छोड़कर ज्ञान का निज स्वरूप ही कुछ नहीं बनता, इसलिये ज्ञान में होने वाली समस्त पदार्थों की 'झलक' ज्ञान का ही शुद्ध रूप है । यदि पदार्थ की उदासीन निमित्तता ही ज्ञान में विभावता उत्पन्न करने वाली हो तो फिर काल की उदासीन कारणता को भी सिद्धों के स्वरूप में विभावता लाने वाली कहना चाहिये, परन्तु बिना प्रेरक कारण के कभी किसी पदार्थ में विकार नहीं आ सकता। ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, पदार्थ अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं ज्ञान में पदार्थ विषय पड़ते हैं, ज्ञान उन्हें जानता है, यह वस्तु स्वरूप ही है। पदार्थ बिना जाने हुए नहीं रह सकते, और ज्ञान उन्हें जाने बिना नहीं रह सकता; दोनों दोनों का स्वभाव ही हैं।

ज्ञान के लिए दर्पण का दृष्टान्त इसी अंश में है कि जिस प्रकार उसमें पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञान में झलकते हैं, स्पष्टता की अपेक्षा विचार किया जाय तो केवलज्ञान में और दर्पण में झलकने वाले पदार्थों में बहुत अन्तर है। दर्पण में प्रतिबिंबित होने वाले पदार्थों का केवल एक अंश स्थूलता से प्रतीत होता है। वह भी वास्तव में परोक्ष ज्ञान ही है। दर्पण में पदार्थ के दूसरी ओर का भाग नहीं झलकता, और न भीतर का भाग ही उसमें झलकता है। सूक्ष्म परमाणु और रूप-रसादिक की तो बात ही नहीं हैं। केवल ज्ञान में जगत् के समस्त पदार्थ सर्वांशरूप से झलकते हैं, इतना ही नहीं किन्तु पदार्थ के समस्त गुण एवं उनकी प्रतिक्षणवर्ती समस्त पर्यायें एक साथ उस परम निर्मल ज्ञान में झलकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसलिये दर्पण का दृष्टान्त स्थूल दृष्टि को लेकर, केवल प्रतिविंबित होने के अंश को लेकर दिया गया है। दृष्टान्त का दूसरा अंश यह भी घटित होता है कि जिस प्रकार दर्पण स्वयं रागद्वेष-विहीन एवं इच्छारहित (जड़) है, उसमें झलकने वाले पदार्थ भी उसी प्रकार हैं, केवल वस्तु-स्वभाव से दर्पण में प्रतिविंबित होते हैं, दर्पण उन्हें अपने में प्रतिविंबित कर लेता है, उसी प्रकार केवलज्ञान भी रागद्वेष-विहीन इच्छा रहित केवल स्व-स्वरूप में ही पदार्थों को विषय करता है। दृष्टांत का तीसरा अंश स्थिरता की अपेक्षा से है, जिस प्रकार दर्पण पदार्थों के पास नहीं जाता और पदार्थ-दर्पण के पास नहीं आते, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा से बाहर नहीं जाता और पदार्थ भी ज्ञान के पास नहीं आते। इस प्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्त की अंश-विवक्षा को समझकर वस्तु स्वरूप पहिचानना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है।

श्लोक में जो 'समं' पद दिया गया है, वह केवल ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट निर्मलता दिखाने के लिये ही दिया गया है। जिस प्रकार मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्ययज्ञान क्रम से पदार्थों का बोध करते हैं, उस प्रकार केवलज्ञान क्रम से बोध नहीं करता किन्तु एक साथ ही समस्त पदार्थों को जानता हैं। इसका कारण यह है कि केवलज्ञान निरावरण है, उसमें इन्द्रिय और मन की किंचिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं हैं, इसके विपरीत मति, श्रुत आदि चारों ही ज्ञान सावरण हैं, आदिके दो ज्ञानों में तो इन्द्रिय मन की साक्षात् अपेक्षा है, इसीलिये वे परोक्ष हैं, बाकी के दो ज्ञानों में परम्परा है। परंतु उपयोग की सर्वत्र आवश्यकता है, बिना उपयोग के लगाये ज्ञान पदार्थों की ओर उन्हें जानने के लिये उपयुक्त नहीं होता है, और उपयोग मनःपूर्वक होने से क्रम-भावी है, इसीलिये अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तभी उपयुक्त होते हैं, जब कि पदार्थों के जानने की इच्छा रखकर उन्हें उपयोग में लाया जाता है। यदि बिना उपयोग के जोड़े ही वे सदैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थोंको विषय करते हों तो फिर देवों को अवधिज्ञान सदैव होना चाहिये, परन्तु उन्हें सदैव नहीं होता किंतु वे जब जानने के लिये उद्यत होते हैं तभी जानते हैं। इसीलिये अवधि और मनःपर्ययज्ञान बारहवें गुण-स्थान तक ही रहते हैं, जहाँ तक कि मन का सद्भाव है। जहाँ मन की सत्ता ही नहीं है, वहीं तेरहवें गुण-स्थान में केवलज्ञान साम्राज्य प्रगट होता है। वहां उपयोग की अपेक्षा न होने से युगपत् पदार्थों का परिज्ञान होता है। इसी बात को द्योतित करने के लिये 'समं' विशेषण दिया गया है। इस प्रकार परमर्षि आचार्यवर्य श्री अमृतचंद्र महाराज ने आत्मा के शुद्धस्वरूप में प्रगट होने वाले अचिंत्य, अविनश्वर, निर्विकार केवलज्ञान साम्राज्य का स्तवनरूप मंगलाचरण किया है, और उसीका प्रकाश जगत् में जयवन्त रहे ऐसी भावना प्रगट की है। तथा इसी केवलज्ञान गुण के स्वरूप निरूपण से उन्होंने श्री अर्हन्तदेव का स्वरूप एवं उनकी भक्ति भी द्योतित की है।

आगमनमस्कार

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानं।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकांतं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(परमागमस्य) उत्कृष्ट आगम अर्थात् जैनसिद्धांतका (जीव) प्राणस्वरूप, (निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानं) जन्मसे अंधे पुरुषों-द्वारा होनेवाले हाथीके स्वरूप विधानका निषेध करनेवाले, (सकलनयविलसितानां) समस्त नयोंकी विवक्षासे विभूषित पदार्थोंके (विरोधमथनं) विरोध को दूर करने वाले (अनेकांतं) अनेकांतधर्म 'स्याद्वाद' को (नमामि) मैं (आचार्यवर्य श्रीमद्अमृतचंद्र महाराज) नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—अनेकान्त धर्म (स्याद्वादवाणी) को नमस्कार करते हुए श्रीआचार्य परमेष्ठीने उसके तीन विशेषण ऐसे दिये हैं जिनसे उस अनेकांत धर्मका असाधारण महत्व एवं सब धर्मोंसे श्रेष्ठता तथा वस्तुस्वरूपकी वास्तविकता प्रगट होती है। अनेकांतका पहला विशेषण 'परमागमका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव' दिया गया है, इससे यह बात प्रगट की गई है कि यदि आगममें प्रमाणता आती है तो अनेकांतसे ही आती है, जिस आगममें अनेकांत-दृष्टिसे निरूपण नहीं किया गया है, उस आगममें कभी प्रमाणता नहीं आ सकती; यही कारण है कि जैनधर्मको छोड़कर बाकी सभी आगम, आगम नहीं किन्तु आगमाभास हैं। इसका रहस्य इसप्रकार है कि दिगंबरजैनधर्मको छोड़कर समस्त धर्मों ने वस्तुस्वरूपका जो कुछ विवेचन किया है, वह एकांत-दृष्टिको लेकर ही किया है, परन्तु वस्तुका स्वरूप अनेक धर्मात्मक है। कोई भी ऐसी वस्तु संसारमें नहीं दीखती, जो प्रतिक्षणमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्था न धारण करती हो। हर समय वस्तुओंमें दो प्रकारका परिणमन (पलटन) होता रहता है—एक तो उस वस्तुका एक आकारसे, दूसरा आकार होना, दूसरे उस वस्तुमें रहनेवाले गुणोंमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना। जैसे आमके फलका छोटेसे बड़ा हो जाना, उससे रसके निकालने पर गुठलीका अलग हो जाना, गुठलीको भून लेनेपर उसकी और ही अवस्थाका हो जाना, जिसके जलने पर उसकी भस्म हो जाना ये सब परिणमन उस एक ही आम के फलके हैं। इस प्रकार के द्रव्यके परिणमन को व्यंजनपर्याय कहते हैं, यह पर्याय दो प्रकारकी होती है—(१) समान (सदृश) परिणमनवाली और (२) असमान (विसदृश) परिणमनवाली। समान परिणमनवाली पर्याय उसे कहते हैं कि जिसका परिणमन तो प्रतिक्षण होता रहे परन्तु द्रव्यकी स्थूल पर्याय ज्योंकी-त्यों प्रतीत होती रहे, स्थूल पर्यायका स्वरूप विपर्यय न होकर जो परिणमन होता है, उसे समान (सदृश) परिणमन कहते हैं। जैसे—सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम चैत्यालय, चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिश्चक्र। इन सबका परिणमन तो प्रतिक्षण होता है परन्तु सुमेरु अथवा अकृत्रिम चैत्यालय आदिके आकारमें कभी कोई प्रकारका स्वरूप विपर्यास नहीं होता। उनमेंसे अनेकों परमाणु निकल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतर नहीं आता। इस प्रकार का परिणमन सदृशपरिणमन कहलाता है। सिद्धोंके आत्माका परिणमन भी सदृश-परिणमन है। जिस परिणमनमें वस्तु एक आकारको छोड़कर दूसरे आकारको धारण कर ले, उसे असमान (विसदृश) परिणमन कहते है; जैसे—सोनेका, कड़ा (वलय) हो जाना, कड़ेसे अंगूठीका वन जाना, अंगूठीसे उसीका कर्णकुंडल बन जाना; इत्यादि सभी परिणमन उस द्रव्यके विसदृशपरिणमन हैं। एक मनुष्यका बालकसे युवा होना, युवासे प्रौढ़ होना, प्रौढ़से वृद्ध होना, इत्यादि सभी अवस्थाभेद उस मनुष्यका विसदृश—असमान परिणमन है। ये सभी द्रव्यके परिणमन हैं, और व्यंजनपर्यायके नामसे कहे जाते हैं।

दूसरे प्रकारका परिणमन गुणों का होता हैं। जैसे—आमके फलमें पहले हरे रंगका होना, पीछे पीले रंगका होना, अथवा हरे रंगसे पीला और लाल रंगका होना, पहले उसमें खट्टे रस का होना, पीछे परिपक्व होने पर मीठे रसका होना; इसीप्रकार खट्टे रसके रहने पर दूसरे प्रकारकी गन्ध का होना, मीठा रस होने पर दूसरे प्रकारकी गन्धका होना, आमके फलके कच्चे रहने पर कठोरताका होना, पकने पर उसका कोमल होना, ये सब परिणमन उस आम्रफलमें रहनेवाले रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणोंके हैं। आत्मामें भी ज्ञान कभी मनुष्यको जानता है. कभी तिजोड़ीको जानता हैं, कभी जवाहरातको जानता है; कभी कपड़ेके भेदप्रभेदोंको जानता है। ये सब परिणमन एक ही ज्ञानगुणके हैं, इस गुण परिणमनको गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय कहते हैं। इन्हीं समस्त पर्यायोंके अनादिसे अनन्तकाल तक होनेवाले समूहको द्रव्य कहते हैं। इन्हीं पर्यायोंके कारण वस्तु अनन्तधर्म-वाली कहलाती है, ये धर्म जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें भी परिनिमित्तसे विभावरूप भी धारण करते हैं; कभी परनिमित्तसे दूर होने पर स्वभावरूप धारण करते हैं। इन अवस्थाभेदोंके कारण ही वस्तु भी किसी विवक्षासे विवक्षित होती है और कभी किसी विवक्षासे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी विवक्षासे चौकीको काठ भी कहते हैं, और किसी विवक्षासे वृक्ष भी कहते हैं, किसी विवक्षासे उसे दूध भी कहते हैं; चौकी काठसे बनी है और चौकी रूप भी काठका स्वरूपान्तर है, इसलिए भूतपूर्वनय की अपेक्षा से अथवा वर्तमाननय की अपेक्षासे भी उसे काठ कहा जा सकता है। पहले वह वृक्षरूपमें थी अथवा आगे पुनः हो जायगी, इस दृष्टिसे उसे वृक्ष कहने में भी कोई स्वरूपविपर्यास नहीं आता। यदि कालान्तरमें वृक्षरूप होकर उसके परमाणु दूध रूप धारण करले, तो उस चौकीको भविष्यत्नय की अपेक्षा दूध भी कह सकते हैं। इसीप्रकार नाना पर्यायोंकी अपेक्षा एक ही वस्तुको अनेक कह सकते हैं, एक पर्यायकी दृष्टिसे एक ही कह सकते हैं; गुणोंकी दृष्टिसे उसे नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य कह सकते हैं। इसीप्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु सत्रूप है, अर्थात् 'है' और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा 'नहीं है' अर्थात् असत् है। चौकीरूप द्रव्यपिंड स्वद्रव्य है, उसके खण्डकल्पनाजनित प्रदेश स्वक्षेत्र हैं, उसमें होनेवाली पर्यायें स्वकाल हैं, तथा उस चौकीमें रहनेवाले गुण स्वभाव हैं। उपयुक्त चारों ही प्रकार एक चौकीके स्वरूपसे भिन्नवस्तुस्वरूप नहीं है, इसलिए चौकी अपने स्वरूपकी अपेक्षा तो 'है' पर-पदार्थ पुस्तककी अपेक्षा 'नहीं है'। क्योंकि पुस्तकका स्वरूप पुस्तकका ही है, वह चौकीका नहीं कहा जा सकता; इसलिए उस पुस्तकके स्वरूप-चतुष्टयकी अपेक्षा चौकीका नास्तित्व ही है। इसीप्रकार हरएक वस्तु निज-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सत्रूप है, परद्रव्य-क्षेत्र काल-भावकी अपेक्षा वही असत्रूप है। यदि निजस्वरूपकी अपेक्षा भी वस्तुमें अस्तित्व—सत्ता न हो, तो वह वस्तु वस्तु ही नहीं ठहर सकती, अभावरूप अवस्तु ठहरेगी। यदि परस्वरूपकी अपेक्षा भी वस्तु कही जाय—जैसे चार पायेकी चौकीका जो स्वरूप है, वही स्वरूप पुस्तकका भी माना जाय—तो सभी वस्तुओंमें सांकर्य हो जायेगा; अर्थात् स्वरूपभेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न होने से भी एक कहलावेंगी। फिर पुस्तकको चौकी, चौकीको लोटा, लोटाको दावात आदि कुछ भी कहा जा सकता है। जगत्में वस्तुभेद न रहनेसे कार्य-कारणभाव भी नहीं रह सकता, वैसी अवस्थामें किसीकी कोई कार्यसिद्धि नहीं हो सकती; इसलिए स्व-पर-विवक्षा मानना परम आवश्यक है। बिना उसके माने वस्तुस्वरूप बनता ही नहीं। इसीलिए अस्तित्व और नास्तित्व, एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदिमें परस्पर विरोध-सा मालूम होता है। अतएव स्याद्वाद एवं अनेकांतके स्वरूप से अनभिज्ञ—अन्य दर्शनवाले अनेकांतको परस्पर विरोधी धर्मवाला कहकर एकांतपक्षको पकड़ बैठे हैं, वह उनकी अल्पज्ञता एवं अजानकारीका परिणाम है, वास्तवमें जो विरोधी सरीखे धर्म विदित होते हैं, वे विरोधी नहीं, किन्तु एक दूसरेके अविरुद्ध और सहायक हैं, यहां तक सहायक हैं कि एक धर्मको नहीं माना जाय तो दूसरा भी नहीं बन सकता। अस्तित्व और नास्तित्व एवं नित्यत्व और अनित्यत्व एक ही वस्तुमें दो परस्पर विरोधी धर्म कैसे ठहर सकते हैं, ऐसी आशंका लोगोंको क्यों होती है और उसका क्या परिहार है, उसका खुलासा इसप्रकार है—

एक ही वस्तु नित्य भी कही जाय, और अनित्य भी कही जाय, अथवा एक भी कही जाय और अनेक भी कही जाय, ये दोनों बातें वास्तवमें विरोधीहैं। जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता, जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता; जब तक अपेक्षाबुद्धिसे काम नहीं लिया जाता, तब तक विरोधका उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है। जैनदर्शनसे भिन्न दर्शनवाले जितने भी हैं। वे सब विचारे स्याद्वादकेअपेक्षारहस्यको जानते ही नहीं हैं; ऐसी अवस्थामें वे विरोधी धर्मोंका एक वस्तुमें रहना अस्वीकार करते हैं। परन्तु जैनधर्मने जो वस्तुस्वरूप बताया है, वह सब नयदृष्टिसे बताया है। यदि नयदृष्टि (अपेक्षातत्व) को छोड़ दिया जाय तो वास्तवमें विरुद्ध- धर्मोंका एक स्थानमें कहना सर्वथा अशक्य एवं अयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठहरेगा। जिस दृष्टिसे वस्तु नित्य कही जाती है, वह दृष्टि द्रव्यदृष्टि है; क्योंकि द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, वह कितनी ही अवस्थाएँ क्यों न धारण करे परन्तु अपने स्वरूपका परित्याग कभी नहीं कर सकता; तथा जिस दृष्टिसे वस्तु अनित्य कही जाती है वह दृष्टि पर्यायदृष्टि है, पर्याय सदा पलटती रहती है, वस्तुमें एक पर्याय कभी नहीं रहती, जो एक समयमें पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, दूसरी ही उत्पन्न हो जाती है। दृटान्तके लिए दीपशिखाको ले लीजिए; दीपशिखा बराबर एक ही दीखती है, परन्तु वह एक नहीं किन्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, नवीन नवीन तैल-परमाणुओंके आकर्षणसे कभी तेज, कभी मंद, कभी अधिक ऊँची, कभी कम ऊँची, आदि अनेक अवस्थायें धारण करती रहती है। वे सब परिणमन सूक्ष्म हैं एवं सदृश है। इसलिए देखनेवाले छद्मस्थोंको एक ही शिखा प्रतीत होती है। इसीलिये पर्यायदृष्टिसे वस्तु अनित्य है, यदि पर्यायदृष्टिको छोड़ दिया जाय, फिर वस्तुको अनित्य कहा जाय, तो वैसा कहना सर्वथा बाधित है; कारण वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य भी है, उसे सामान्यरूपसे वस्तुको अनित्य नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार द्रव्य-दृष्टिको छोड़कर केवल सामान्यरूपसे वस्तुको नित्य कहा जाय, तो वैसा कहना सर्वथा प्रमाणबाधित है; कारण पर्यायदृष्टिसे वस्तु अनित्य भी है, उसे सर्वथा नित्य समझना भूल है। इसलिए पर्यायदृष्टिसे वस्तु सदा अनित्य और द्रव्यदृष्टिसे सदा नित्य कही जाती है। जबकि वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप अथवा गुणपर्यायरूप है तो दृष्टिभेद भी उसमें स्वभाविक है, जहां दृष्टिभेद है वहां धर्मभेद भी अनिवार्य है; अतः एक ही वस्तुमें दो धर्म परस्पर विरोधी नहीं किन्तु परम-अविरोधी और एक दूसरेके साधक हैं। इसी अपेक्षाकृत निरूपण को स्याद्वाद कहते हैं. 'स्यात्' नाम कथंचित् का है और 'वाद' नाम विवक्षाका है,अर्थात् किसी दृष्टिसे एक विवक्षा, किसी दृष्टिसे दूसरी विवक्षा वस्तुनिरूपणामें घटित होती है। इस स्याद्वाद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप कथंचित-विवक्षातत्वको नहीं समझनेसे ही अच्छे अच्छे बौद्ध, सांख्य आदिक दार्शनिक भूलमें पड़े हुए हैं। बौद्धदर्शनने केवल पर्याय-परिणमनको ध्यानमें रख कर वस्तुको सर्वथा अनित्य मान लिया, परन्तु जो आत्मा हिंसा करता है, वा तप करता है, उसको हिंसाका फल अथवा तपका फल क्या मिल सकेगा ? हिंसा अथवा तप करनेवाला आत्मा तो बौद्धदर्शनके सिद्धांतानुसार नष्ट हो चुका, क्योंकि उसके यहां आत्मा भी अनित्य है ! वस्तु को सर्वथा अनित्य मानने में नरक, स्वर्ग, पुण्य, पाप, दान, तप, शील, मोक्ष आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं ठहर सकती, कारण उन सब कार्योंका करनेवाला और उन पुण्यपापादिकके फलको भोगनेवाला आत्मा ही एक क्षणमें सर्वथा नष्ट हो जाता है, तो फिर वह पुण्यपापके फल को कैसे भोग सकता है ! इसी प्रकार सांख्यदर्शनवाला बौद्धसे विपरीत, वस्तुको सर्वथा नित्य मानता है, उसके यहां भी वस्तु-व्यवस्था नहीं बन सकती। जब कि आत्मा सर्वथा नित्य है तो परिणामों में कभी हिंसारूप प्रवृत्ति, कभी सात्विक भावोंकी जागृति, कभी क्रोधावस्था कभी हास्यरसास्वादन, कभी तपोजनित शुद्ध परिणति, कभी उसके प्रतिकूल अशुद्ध परिणति आदि भावोंका पलटना हो नहीं सकता। वैसी अवस्था में नरक, स्वर्ग मोक्षादि व्यवस्था भी नहीं बन सकती। यही युक्तिशून्य, अव्यवस्थित एवं प्रमाणबाधित व्यवस्था अन्यान्य समस्त वेदांती,मीमांसक, नैयायिक, वैशेषिक, प्रभाकर भट्ट, आदि दार्शनिक विद्वानोंके यहां समझना चाहिये। अतएव उनका आगम आगमाभास है। वस्तुस्वरूप अनेक धर्मात्मक है, वे अनेकधर्म पर्यायात्मक हैं, पर्यायें सूक्ष्म हैं, इसीलिये उनका यथार्थ विवेचन सर्वज्ञके द्वारा ही हो सकता है। जैनधर्मका स्वरूप सर्वज्ञ-देवने कहा है, इसीलिये उनके कहे हुये आगमका अनेकांत ही प्राण है। अतएव जैनागम परम प्रमाण है। जिसप्रकार भित्तिका जीव मूलभूत वस्तु भित्तिकी जड़ है, बिना जड़के वह ठहर नहीं सकती; रेलगाड़ीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव ऐंजिन है, बिना ऐंजिनके वह चल नहीं सकती; घड़ीका जीव चाबी है, बिना चाबी दिये वह चल नहीं सकती, तत्काल उत्पन्न बालकका बाह्य जीव दूध है, बिना दूध के वह जी नहीं सकता, (जीवसे यहां प्रयोजन वस्तुके अन्तःसारका है) उसीप्रकार श्रीआचार्य महाराजने अनेकांतको परमागम जैनसिद्धान्तका जीव बताया है। अनेकांतसे ही उसमें प्रमाणता आती है।

इसी अनेकांत-निरूपणाको छोड़कर जैनमतके सिवा अन्य सभी मतवाले वस्तुके एक एक अंशको ही वस्तु मानकर अपनी अपनी बातको पुष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, वह उनकी चेष्टा ऐसी ही है जैसी कि जन्म के अंधे पुरुषोंकी हाथीकी पहचानमें चेष्टा होती है। जन्मके अंधे पुरुष हाथीका आकार एवं उसका स्वरूप जाननेके लिये स्पर्शनसे काम लेते हैं; जो हाथीका पैर पकड़ लेता है, वह पैर ही को हाथी मान लेता है, पूंछ पकड़नेवाला पूंछको ही हाथी मान बैठता है, सूंड पकड़नेवाला सूंडको ही हाथी समझ बैठता है, इसीप्रकार कान, पेट आदि भिन्न भिन्न हाथीके अवयवोंको जन्मान्ध पुरुष हाथी समझते हैं, परंतु वह उनका समझना हाथीका स्वरूप नहीं है। समस्त अवयवोंका समूह ही हाथीका स्वरूप है। इस बातका परिज्ञान नेत्रवाला ही कर सकता है। इसीप्रकार एकांतवादसे वस्तुकी सिद्धि करनेवाले वस्तुके एक धर्मको ही वस्तु समझते हैं, परन्तु वस्तु अनेकधर्मात्मक है इस बातको अनेकांतवादी जैनधर्म प्रगट करता है; यही बात दूसरे विशेषणसे सिद्ध होती है।

पदार्थ अनेक धर्मोंका पुंज होनेसे नयविवक्षाएँ भी उतनी ही हैं। उन समस्त धर्मोंका विवेचन भिन्न भिन्न नयविवक्षाओंसे विवक्षित होनेके

किसी किसी प्रतिमें "परमागमस्य बीजं" ऐसा पाठ है। वह भी ठीक है, उसका ऐसा अर्थ है कि अनेकांत परमागम का कारण है, अर्थात् जैनागममें प्रमाणता आनेका कारण अनेकांत है। बीज और जीव दोनों पाठ ठीक हैं, हमारी दृष्टिमें 'जीव' पाठ अधिक महत्त्वका है, बिना अनेकांतके आगम निर्जीव ही है, इस बातको 'जीव' पाठ प्रगट करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण उन धर्मामें परस्पर विरोध नहीं रहता, यही बात 'निषिद्धजात्यन्ध-सिंधुरविधानं' इस तीसरे विशेषणसे प्रगट की गई है।

अनेकांत और स्याद्वाद दोनों ही स्थूलदृष्टिसे एक प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर उनमें भिन्नता प्रतीत होती है। 'अंत' नाम धर्मका है, अनेक धर्म जिसमें पाये जांय, उसे 'अनेकांत' कहते हैं। अनेकधर्म द्रव्यमें पाये जाते हैं, इसलिये द्रव्य अनेकांतस्वरूप है। जबकि पदार्थ अनेक (अनंत) धर्मात्मक हैं, तो वह अनेक नयोंसे ही विवक्षित हो सकता है। एक नयसे एक धर्मका निरूपण किया जाता है। जहाँ विवक्षित नयोंसे भिन्न भिन्न निरूपण होता है, वहीं कथंचित्वाद अथवा नयवाद कहलाता है। जहां समस्त धर्मोंका युगपत् परिज्ञान किया जाता है, वहां अनेकांत अथवा प्रमाणवाद कहलाता है। स्याद्वाद—नयवाद, अनेकांत—प्रमाणवाद. इस रूपमें परस्पर भेद भी है तथा विवक्षावश उनमें अभेद भी है। कारण अनेकांत भी अनेकांतरूप है, इसलिये वह प्रमाण और नय दोनोंसे साध्य है। परमाराध्य श्रीसमंतभद्रस्वामीने 'वृहत्स्वयंभू स्तोत्र'में श्री अरनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करते हुए कहा है "अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोर्पितान्नयात् ॥ १०३ ॥" इसी अनेकांत—स्याद्वादसे पदार्थका स्वरूप यथार्थ जाना जाता है, और इसीसे समस्त विरोध दूर होते हैं; ऐसे जैनधर्मके अंतःसारभूत एवं प्राणभूत अनेकांत— स्याद्वादको श्री अमृतचंद्रसूरि महाराजने नमस्कार किया है॥

ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा और आचार्यका अभिप्राय

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्धियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(लोकत्रयैकनेत्रं) तीन लोकके समस्त पदार्थोंको दिखानेके लिये एक—अद्वितीय नेत्रस्वरूप (परमागमं) उत्कृष्ट आगम—जैनसिद्धांतको (प्रयत्नेन) परिश्रम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक—भले प्रकार (निरूप्य) मनन करके (अस्माभिः) हमारे द्वारा (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" नामका ग्रन्थ (विदुषां) विद्वान् पुरुषोंके लिये (उपोद्ध्रियते) कहा जाता है।

विशेषार्थ - इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए आचार्यने स्वतन्त्र रचनाका निषेध किया है, उन्होंने यह बात प्रकट कर दी है कि जो कुछ हम कहेंगे वह हमारे स्वतन्त्र विचार नहीं होंगे किंतु आर्षमार्गका अनुसरण करके ही हम निरूपण करेंगे। जैनसिद्धान्तका पूर्वापर अच्छी तरह मनन करके ही इस ग्रन्थकी रचना करेंगे, इस कथनसे यह प्रकट होता है कि किसी ग्रन्थकी रचना तभी करनी चाहिए जब कि जैनसिद्धान्तका रहस्य विदित कर लिया जाय; बिना जिनागमका रहस्य समझे तथा उनकी कथनपद्धति को प्रमाणमें लिए बिना किसी भी ग्रन्थ-रचयिता की स्वतन्त्र की गई ग्रन्थ रचना प्रमाणकोटि में नहीं आ सकती, क्योंकि आर्षग्रन्थोंके जाने बिना और उनकी अविरुद्धता के बिना अपनी ना-समझी एवं अल्पज्ञता के कारण बनाये हुए ग्रन्थमें वस्तुस्वरूप यथार्थ नहीं कहा जा सकता। जैनधर्म सर्वज्ञ प्रणीत है, वह सर्वज्ञदेवके साक्षात् शिष्य गणधरदेव, उनके शिष्य प्रशिष्य अनेक आचार्यों की पूर्वापर अविरुद्ध कथनशैलीसे ज्योंका-त्यों चला आ रहा है, इसलिये जैनधर्म-कथित पदार्थ-परम्परा सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होनेसे एवं ज्योंका-त्यों गणधर आचार्योंद्वारा कहे जानेसे ठीक है, प्रमाणभूत है। यदि भिन्न भिन्न आचार्य अपनी अपनी स्वतन्त्र रचना करते और पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थोंकी पद्धति एवं अविरुद्धताका ध्यान न रखते तो आज द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग आदि चारों ही अनुयोगके शास्त्रोंमें अनेक विरोध दीखते; क्योंकि इतना सूक्ष्म-गुण द्रव्य पर्यायों का तथा जीवके भावस्वरूप गुणस्थानों आदिका—विवेचन अल्पज्ञों द्वारा न तो किया ही जा सकता है और न एक रूपमें हो ही सकता है। आचार्य कुंदकुंदस्वामी, भूतबलि पुष्पदंत, समंतभद्रस्वामी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकलंकदेव, जिनसेन, विद्यानन्दि, पूज्यपाद, गुणभद्र, नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती, वीरनंदि आदि जितने भी आचार्य होते आये हैं, उन सबोंके रचे हुए शास्त्रोंमें द्रव्यस्वरूप, व्रतस्वरूप आदि समस्त पदार्थोंकी रचना एक ही पाई जाती है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक आचार्यने ग्रन्थ प्रारम्भ में अपनी स्वतन्त्रताका परिहार और पूर्वाचार्योंकी प्रमाणता स्वीकार की है। आचार्योंके सिवा जिन पण्डितोंने ग्रन्थोंकी रचना की है; वह भी आर्षवचनोंके अविरुद्ध ही की है; अपने ग्रन्थोंकी प्रमाणताके लिए उन्होंने आचार्योंके वचनोंको ही प्रमाणभूत ठहराया है, यह बात सूरि कल्पपंडितप्रवर आशाधरजी, पं०टोडरमलजी आदिकी रचनासे सर्वविदित है। इसी सारपूर्ण आशयको लेकर आचार्यवर्य ग्रन्थकार महाराजने जैन-आगम की अनुकूलता प्रगट करके, उनके प्रति श्रद्धाका भाव द्योतित किया है। तथा जैनागमकी प्रमाणताको ही स्वनिर्मित ग्रन्थमें प्रमाणता कारण बतलाया है।

*पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रमें प्रधानतासे श्रावकाचार का वर्णन है, यद्यपि अनेक श्रावकाचार हैं, परंतु इस ग्रन्थमें हरएक व्रतका स्वरूप युक्तिपूर्वक विस्तारसे कहा गया है। हिंसा अहिंसाका जो स्वरूप इस ग्रंथमें कहा गया है; वह ऐसा अपूर्व है कि सुनने पढ़नेवालोंको; दोनोंका समस्त सूक्ष्म रहस्य भेदप्रभेद पूर्वक भले प्रकार समझने एवं मनन करने योग्य है। ग्रंथके प्रारंभ में नयों का दिग्दर्शन भी संक्षेपमें इतना अच्छा किया गया है कि उससे नयोंकी सार्थकताका परिज्ञान हो जाता है। इन सब बातोंसे यह ग्रंथ विद्वानोंके लिये अत्युपयोगी है। इसीलिये श्रीसूरि महाराजने 'विदुषां' इस पद से विद्वानोंको लक्ष्य करके इसका प्रणयन किया है। एक आचार्यप्रमुख महर्षिकी रचनासे उसके वेत्ता विद्वान् विशेषलाभ उठा सकते हैं।

*इस ग्रंथके नामकी सार्थकता आगे श्लोक ९ से १५ तक स्वयं आचार्यमहाराजने बतलायी है, इसलिए यहाँ हमने नहीं लिखी है।

—टीकाकार.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मका प्रसार करनेवाले कौन हो सकते हैं ?

मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयंते जगति तीर्थं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(व्यवहारनिश्चयज्ञाः) व्यवहारनय और निश्चयनयको जाननेवाले (मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः) मुख्य और गौण कथनकी विवक्षासे शिष्योंके गहरे मिथ्याज्ञानको दूर करनेवाले 'महापुरुष' (जगति) संसारमें (तीर्थं) धर्मको (प्रवर्तयंते) फैलाते हैं ।

विशेषार्थ—जैनधर्मका जितना भी उपदेश है वह नयके आधीन है; नयोंके अनेक भेद हैं, जितने वस्तुके धर्मभेद हैं उतने ही नयभेद हैं । वस्तुके धर्मभेद स्वपर-निमित्तसे अनन्त हैं इसलिये नयभेद भी अनंत हैं । मूलमें नयोंके दो भेद हैं–(१) निश्चयनय और (२) व्यवहारनय । जो पर-पदार्थ की कुछ भी अपेक्षा न करके केवल निज-गुणोंका अभेदरूपसे विवेचन करता हो, उसे निश्चयनय कहते हैं, और जो परद्रव्यके सम्बन्धसे वस्तुस्वरूपका विवेचन करता हो, उसे व्यवहारनय कहते हैं । यह स्थूल कथन है, सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर जो निश्चयनयका ऊपर स्वरूप बतलाया गया है, वह भी व्यवहार ही है । वास्तवमें निश्चयनय उसे कहते हैं कि जो-कुछ पदार्थके स्वरूपका भेदरूप कथन है , उसका निषेध करते जाना । अर्थात् निषेधात्मक निश्चयनय है । जैसे यह कहना कि जीवका ज्ञानगुण है, सम्यक्त्वगुण है, चारित्रगुण है । यद्यपि ज्ञान सम्यक्त्व चारित्र आदि सभी जीवके निज-गुण हैं, इसलिये उन गुणोंका जीवके बतलाना यह निश्चयनयका विषय पड़ जाता है; परन्तु यह बहुत ही स्थूलदृष्टि है । वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञान सम्यक्त्व चारित्र आदि गुण जीवसे भिन्नपदार्थ कुछ भी नहीं है; जो जीव है, वही ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र है; जो ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र है, वही जीव है जब कि दोनोंमें भेद ही नहीं है । दोनोंका तादात्म्यभाव है । अथवा दोनों एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही वस्तु है, तब उसमें जीव और ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र ऐसा भेद दिखलाना यह वस्तुस्वरूप नहीं रहा। एक अभिन्न वस्तुको दो कहना अथवा द्रव्यगुणका भेद प्रगट करना, यह सब कथन वस्तुस्वरूप नहीं है, इसलिये निश्चयनय इसका निषेध करता है। जीव ज्ञानवाला है। निश्चयनय कहता है, नहीं। जीव सम्यक्त्ववाला है। निश्चयनय कहता हैं, नहीं। जीवके अनंत गुण हैं। निश्चयनय कहता है, नहीं। जीव गुणपर्यायात्मक है। निश्चयनय कहता है, नहीं। इसप्रकार निषेधको विषय करने वाला ही निश्चयनय है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब निषेध ही उसका विषय है तो अभावस्वरूप होनेसे वह अभावात्मक ठहरता है? ऐसी आशंकाका उत्तर यह है कि—निषेध अभावस्वरूप नहीं है किंतु भावस्वरूप है; जैसे किसी मनुष्यको कहना कि यह पक्षी है क्या? उत्तर होगा नहीं। हाथी है क्या? उत्तर होगा नहीं। नारकी है क्या? उत्तर होगा नहीं। देव है क्या? उत्तर होगा नहीं। इत्यादि अनेक बातोंका निषेध करने पर क्या वह मनुष्य अभावात्मक ठहराया जा सकता है? कभी नहीं, कारण जिन धर्मोंका उसमें विधान किया जाता है, वे धर्म उसमें नहीं पाये जाते इसीलिये उसमें उनका निषेध किया जाता है। परंतु उन धर्मोंका निषेध करनेसे मनुष्यत्व तो उससे नहीं चला जा सकता, मनुष्यरूप वस्तु तो वह है ही। यह एक स्थूल दृष्टान्त है; इसीप्रकार निश्चयनय अभेदरूप अखंडपिंडात्मक वस्तुको विषय करता है, अखंडपिंडस्वरूप वस्तु शब्दसे नहीं कही जा सकती; कारण जो-कुछ भी शब्दोंसे कहा जायेगा वह सब एक धर्मात्मक होगा। जैसे द्रव्य कहनेसे केवल द्रव्यत्व-गुणका बोध होता हैं, परंतु वस्तु केवल द्रव्यत्वगुणवाली ही तो नहीं है। इसीप्रकार वस्तु कहनेसे वस्तुत्व-गुणका, ज्ञानी कहनेसे ज्ञानगुणवालेका बोध होता है। एक शब्दसे समस्त वस्तुका बोध कभी नहीं हो सकता। शब्दमें वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति ही नहीं है कि सर्वधर्मोंको एक साथ प्रतिपादन कर सके। इसका भी कारण यह है कि जितने भी शब्द बनते हैं वे सब धातुओंसे बनते हैं; धातुएँ क्रियात्मक होती हैं, क्रिया एक समयमें एक ही धर्मका द्योतन करती है। इसलिये शब्दोंद्वारा जो कुछ वस्तुस्वरूप कहा जायगा, वह भेदात्मक ही पड़ेगा। वस्तुस्वरूप अभिन्नरूप है, अतः निश्चयनय 'जीव का ज्ञानगुण है' इस कथनको भी मिथ्या समझता है। शब्दों द्वारा प्रतिपादित भेदात्मक धर्मोंका निषेध करते हुए भी अनन्तगुणोंका अभिन्नरूप अखंडपिंडरूप अवक्तव्य जीव द्रव्य ही निश्चय नयका विषय पड़ता है। उपर्युक्त कथनका सार इतना ही है कि निश्चयनयका विषय अवक्तव्यस्वरूप भावद्रव्य है। बाकी समस्त भेदरूप कथन व्यवहारनयका विषय है। जीवके ज्ञान कहना, यह भी व्यवहारनयका ही विषय है। क्योंकि द्रव्य गुणमें भेद प्रगट किया है। यहां पर यह शंका की जा सकती है कि जब द्रव्यगुणका कथन भी मिथ्या है जो कि वास्तविक है, तो परनिमित्तसे जितना भी कथन होगा वह तो अवश्य ही मिथ्या होगा। जैसे किसी पुरुषको क्रोधी कहना। क्रोध ज्ञानकी तरह आत्माका निजस्वरूप तो नहीं है, किंतु पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होनेवाला आत्माका वैभाविक परिणाम है। यह सब कथन निश्चयनयसे मिथ्या ठहरता है, तो क्या व्यवहारनय का विषय सब मिथ्या ही है? यदि ऐसा है तो व्यवहारनय भी मिथ्या ठहरा? इस शंकाका उत्तर यह है कि–

जो व्यवहारनयका विषय है, वह निश्चयनयसे मिथ्या इसलिये है कि वह नय शुद्धवस्तुस्वरूपको ही विषय करता है। परन्तु व्यवहारनय भी मिथ्या नहीं है, परनिमित्तसे होनेवाले धर्मोंको विषय करना ही उसका लक्षण है; तो जो अपने लक्षण से लक्षित है, वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। परंतु फिर भी शंका यही उपस्थित हो सकती है कि उसका विषय तो मिथ्या ही है? इसका उत्तर यह है कि उसे भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता; कारण वह निश्चयका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक है। व्यवहारका जितना भी विषय है, वह सब पदार्थस्वरूपका बोध कराता है; क्योंकि पदार्थके अवक्तव्य होने पर भी उसका दूसरेको बोध करानेके लिए सिवा भेद निरूपणके और कोई मार्ग नहीं है। यदि पुद्गलद्रव्यसे भिन्न जीवपदार्थका बोध कराया जाय तो कहना होगा कि जीवज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यगुणवाला है। पुद्गल रूप-रस-गंध-स्पर्शगुणवाला है। इस भेद को निश्चयनय ठीक नहीं समझता, परंतु वस्तुस्वरूपके बोधका कारण होने से व्यवहारनयसे ठीक है जीव क्रोधी भी प्रतीत होता ही है, वह शरीरविशिष्ट भी है, अल्पज्ञानी भी है। इन सम्पूर्ण अवस्थाओंको अवास्तविक —अयथार्थ नहीं कहा जा सकता, परंतु ये सब अवस्थायें जीवकी कर्मजनित हैं, और व्यवहार परसंबंधित अवस्थाओंको विषय करता है इसलिये व्यवहारदृष्टिसे व्यवहारनयका विषय भी ठीक है। यदि वह ठीक न माना जाय तो कर्मका फल—पुण्य-पाप-नरक-स्वर्गादि व्यवस्थायें केवल काल्पनिक ठहरेंगी। हाँ इतना अवश्य है कि जिस दृष्टिसे जो घटित किया जाय, उसी दृष्टिसे वह घटित हो सकता है। मुक्त और संसारी, दोनों जीवकी ही अवस्थायें हैं, उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता। परंतु अपेक्षा-भेदसे उनमें भेद है। एक समयमें एक ही अपेक्षासे पदार्थका निरूपण किया जा सकता है, इसलिए एक समयमें एक धर्म मुख्य ठहरता है, दूसरा अविवक्षितधर्म गौण ठहरता है। यदि व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीवका विवेचन किया जाय, तो मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी इन पर्यायोंमेंसे जिस पर्यायमें जीव उपस्थित है, उस पर्याय की मुख्यतासे ही उसका निरूपण किया जायगा। उस समय जीवकी शुद्ध अवस्थाका निरूपण गौण पड़ जाता है। जिस समय निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवका विवेचन किया जायगा, तो जीव चाहे किसी भी पर्यायमें क्यों न हो उसका शुद्धस्वरूप—सिद्धस्वरूप ही निरूपण किया जायगा। उस समय उसकी कर्मजनित अशुद्ध अवस्थाका निरूपण गौण पड़ जाता है। इसी विवक्षाभेदसे वस्तुकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि होती है। जो अपेक्षा-कथनको नहीं समझते, वे वस्तुस्वरूपके यथार्थ विवेचक भी नहीं हो सकते, इसीलिये इस श्लोकमें यह बात प्रगट की गई है कि जो व्यवहार-निश्चयके परिज्ञानी हैं, तथा मुख्यविवक्षा और गौणविवक्षा के निरूपण से शिष्योंके प्रगाढ़ अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं, वे जगत्में धर्मका प्रसार कर सकते हैं॥

संसारी जीवोंकी समझ

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयंत्यभूतार्थं।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोपिः संसारः॥ ५॥

अन्वयार्थ—(इह[1]) इस जगतमें (निश्चयं) निश्चयको (भूतार्थं) सत्यार्थ (व्यवहारं) व्यवहार को (अभूतार्थं) असत्यार्थ (वर्णयंति) कहते हैं; (सर्वः अपि) समस्त ही (संसारः) संसार (प्रायः) बहुधा (भूतार्थबोधविमुखः) यथार्थ ज्ञानसे विमुख है।

विशेषार्थ—इस जगत्में लोग निश्चयनयको ठीक बतलाते हैं और व्यवहारनयको मिथ्या बतलाते हैं, परंतु वास्तवमें यथार्थज्ञानसे प्रायः सभी संसारी अजानकार हो रहे हैं। बहुतसे पुरुषोंकी ऐसी धारणा है कि निश्चयनय ही ठीक है, क्योंकि उसी का विषयभूत पदार्थ ठीक है। आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है, यह जो कुछ कर्मों का विकार प्रतीत होता है, उससे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं है, आत्मा न अल्पज्ञानी है, न वेदनासहित है, न नारकी है, न और कोई है, न वह रोगी है, न प्रमादी है, ये सब पुद्गलका भाव है, आत्मामें उसका कुछभी भाव समझना भ्रम है, आत्मा सदा टंकोत्कीर्णवत् शुद्ध बुद्ध है; ऐसी कल्पना उन लोगों की है। जो केवल निश्चय को ही सत्यभूत समझे बैठे

(१) इस प्रकरणके पूर्वापर श्लोकोंको देखनेसे विदित होता है कि ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्रसूरिने निश्चयनयके समान व्यवहारनयको भी उपादेय बतलाया है, तथा व्यवहारनयको निश्चयका साधक बतला कर उसका परिज्ञान आवश्यक बतलाया है। दूसरे, उक्त आचार्यकी अन्यान्य कृतियोंमें भी व्यवहार को उपादेय कहा गया है। जो एकान्तरूपसे व्यवहारनयको मिथ्या समझते हैं, उन्हें इन्होंने तत्ववोधसे रहित बतलाया है। इसलिए उक्त आचार्यके अभिप्रायको जो कुछ हमने समझा है, तदनुसार इस श्लोकका उपर्युक्त अर्थ किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, और व्यवहार को केवल भ्रम समझते हैं। ऐसे ही लोग अपनी समझ के आधार पर बाह्यचारित्रको कुछ नहीं समझकर देवपूजन, संस्कारविधान, जातीय व्यवस्था, वर्णभेद, बाह्यशुद्धि आदि समस्त विषयोंको छोड़कर स्वयं तथा दूसरे पुरुषोंको भी धर्मकर्महीन बनाकर अकल्याण-भाजन बना डालते हैं। ऐसी समझ रखनेवाले आर्ष-मर्यादाके लोपक हैं, आर्ष-वचनोंके अश्रद्धानी एवं अवहेलक (तिरस्कार करनेवाले) हैं। ऐसी एकांत बुद्धिवालों पर विवेकियोंको खेद होता है। यदि व्यवहार सभी मिथ्या हैं—श्रावकाचार, यत्याचार, तपोविधान, हिंसा-अहिंसामय प्रवृत्ति आदि समस्त बातें व्यर्थ एवं भ्रमात्मक हैं, तो पुण्यपापका फलस्वरूप नरक-स्वर्गादि व्यवस्था, पाप-भीति, संसार से उद्वेग, मोक्षप्रयत्न आदि सब बातें भी कुछ नहीं ठहरेंगी। वैसी अवस्थामें श्रावकाचार, और यत्याचारका सर्वज्ञ-प्रतिपादित विधान भी झूँठा एवं भ्रमात्मक ही मानना पड़ेगा। उसे मानकर फिर निश्चयन-यावलम्बी किस सिद्धान्त पर आरूढ़ हो सकते हैं, सो वे ही जानें। जब कि संसारपूर्वक ही मोक्ष है और 'संसार' जीव की कर्मजनित अवस्था का नाम है, इसलिए कर्मजनित अवस्थाको भ्रम कहना भूल है यदि कर्मजनित जीवकी अवस्था भ्रम है तो फिर वेदान्तवाद भी ठीक मानना चाहिए, जो कि समस्त पदार्थोंको भ्रम समझता है। अतः जीवकी संसार-पर्यायें वास्तविक हैं, उनको विषय करनेवाला अर्थात् जीव की अशुद्ध अवस्थाको विषय करनेवाला व्यवहारनय भी वास्तविक है। इसीप्रकार शुद्ध पदार्थके गुण-पर्यायरूप भेद को विषय करनेवाला व्यवहार-नय भी यथार्थ है; इतना विशेष है कि वही विषय निश्चयदृष्टि से मिथ्या है,

---

बम्बईकी छपी हुई मूलसहित हिन्दीटीकामें लिखा है कि—"अन्वयार्थों—आचार्य इन दोनों नयोंमेंसे [इह] इस ग्रन्थ में [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं. [प्रायः] बहुत करके [भूतार्थबोधविमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसारस्वरूप है" उक्त आचार्यके अभिप्रायके समझनेवाले इस पर और भी विचारकरें। — टीकाकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारदृष्टिसे ठीक है। अतः जो पदार्थ जिस विवक्षासे विवक्षित किया जाय, उसी विवक्षासे उसे घटित करना चाहिए। व्यवहारको छोड़ कर कोई कभी निश्चय तक नहीं जा सकता, व्यवहारके अवलम्बनसे ही जीव मुक्तावस्था तक पहुचँता है। इसलिए व्यवहार भी उपादेय एवं श्रेयस्कर नय है। जिसप्रकार निश्चयको सिद्ध करनेवाला व्यवहारका अवलम्बन करता है, उसीप्रकार व्यवहार पर चलनेवालेको निश्चयका लक्ष्य रखना भी नितांत आवश्यक है। उसको भूल जानेपर व्यवहार से किसकी सिद्धि की जाय, यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सर्वथा एकान्तपक्ष जैनधर्मके प्रतिकूल है। न केवल व्यवहारसे जीवकी सिद्धि है और न केवल निश्चयसे ही सिद्धि है परंतु जगत्में कोई तो निश्चय पर सर्वथा आरूढ़ हैं—धर्म-कर्मको कुछ समझते ही नहीं, कोई व्यवहार पर ही डटे हुए हैं—असली तत्त्वके स्वरूप तक वे पहुँच ही नहीं पाते हैं; इसी एकांतपक्षको देखते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जगत् प्रायः सत्यबोधसे शून्य हो रहा है।

व्यवहारनयकी उपयोगिता

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयंत्यभूतार्थं।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश्वराः) आचार्य महाराज (अबुधस्य) अज्ञानी पुरुषोंको (बोधनार्थं) ज्ञान करानेके लिये (अभूतार्थं) व्यवहारनयका (देशयंति) उपदेश देते हैं, (यः) जो (केवलं) केवल (व्यवहार एव) व्यवहारनयको ही (अवैति) जानता है (तस्य) उसके लिये (देशना) उपदेश (नास्ति) नहीं है।

विशेषार्थ – यह बात पहले कही जा चुकी है कि पदार्थ अभिन्न अखंड-पिंडरूप है, अतएव वह शब्दसे अवाच्य है, ऐसी दशामें जड़ चेतन अथवा धर्म, अधर्म, आकाश आदि भिन्न भिन्न वस्तुओंका बोध करनेके लिये उनके गुणोंका लक्षण बनाकर उनमें भेद सिद्ध किया जाता है। एक एक गुणके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपणसे पूर्ण वस्तुस्वरूप नहीं होता, फिर भी उसी एक एक गुणनिरूपणसे भेदबुद्धिपूर्वक अनंतगुणात्मक द्रव्यका का बोध कर लिया जाता है। इसी भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनय हैं। जीवका ज्ञान कहना यह अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय है। जीवका ज्ञानगुण वास्तविक है, इसलिये वह सद्भूत है। परन्तु जीव और ज्ञान दो नहीं होते, फिर भी जो गुण गुणीका भेद किया गया है, यही व्यवहारनयका विषय है। इसलिये 'जीवका ज्ञान' यह सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। 'जीवका क्रोध' यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय है; कारण क्रोध वास्तवमें जीवका गुण नहीं है, किंतु पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जीवमें होनेवाली वैभाविक पर्याय है। इसीलिये इसे उपचरित कहते हैं, परंतु पुद्गलके निमित्तसे जीवहीमें तो क्रोधपर्याय होती है, अर्थात् जीवके ही गुणका विकार है इसलिये वह सद्भूत हैं, जीवसे उसके चरित्रगुणका भेद किया गया, जिसका क्रोध विकार है, यही व्यवहार है। इसलिये जीवको क्रोधी कहना यह उपचरित-सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। असद्भूतव्यवहारनय तीन प्रकार है–

(१) स्वजाति असद्भूतव्यवहारनय–जैसे परमाणुको बहुप्रदेशी कहना। परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है फिर भी उसे बहुप्रदेशी कहना यह असद्भूत कथन है, परंतु स्वजातिसंबंधी है।

(२) विजाति असद्भूतव्यवहारनय–जैसे मतिज्ञानको मूर्त कहना। यहां पर आत्मासे ज्ञानका भेद करना व्यवहार है, मतिज्ञान कोई शुद्धपर्याय नहीं है इसलिये असद्भूत है, और उसे मूर्त कहना विजाति है।

(३) स्वजातिविजाति असद्भूतव्यवहारनय–जीव अजीव ज्ञेयमें ज्ञान, जीवमें ज्ञान यह स्वजातिका विषय है, और अजीवमें ज्ञान यह विजातिका विषय है, और अजीव ज्ञेयमें ज्ञान की कल्पना करना असद्भूतव्यवहार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीप्रकार उपचरित- असद्भूतव्यवहारनय भी तीन प्रकार है—स्वजाति उपचरितअसद्भूतव्यवहार, जैसे 'मेरे पुत्रादिक'। यहांपर चेतनमें विवक्षा होने से स्वजातिसम्बन्धी है, परंतु पुत्रादिक जीवके नहीं हैं इसलिए उपचरित हैं और पुत्रादिक स्वयं जीवस्वरूप नहीं है इसलिए वह असद्भूतव्यवहारनयका विषय है इसीतरह विजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयका विषय—'वस्त्रादि मेरे हैं' है। यहां पर वस्त्रादि अचेतन हैं इसलिए विजातिमें उपचार है। और स्वजातिविजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयका विषय, जैसे—'देश राज्यादिक मेरे हैं—यहांपर स्वजाति विजाति दोनों हैं; बाकी उपचरितादि कल्पना पहलेके समान घटित कर लेना चाहिए।

इत्यादि समस्त कथन व्यवहारनयका विषय है। बिना व्यवहारका आश्रयण किये निश्चयका अथवा वस्तुस्वरूपका कभी बोध नहीं हो सकता; अतएव जो वस्तुस्वरूपको नहीं जानते हैं, उनको बोध करानेके लिए आचार्यों ने व्यवहारनयका उपदेश दिया है। अर्थात् साध्य का परिज्ञान करानेके लिए उसे उपयोगी एवं उपादेय बतलाया है। व्यवहारनय साधक है, निश्चयनय साध्य है। जिन पुरुषोंने व्यवहारनयको ही साध्य समझकर उसीके विषय को वस्तुस्वरूप समझ लिया है, निश्चयनयका लक्ष्य सर्वथा छोड़ दिया है, वे पुरुष इतने अज्ञानी हैं कि उपदेश देनेके पात्र भी नहीं है। अर्थात् तीव्र मिथ्यात्वपरिणामोंके कारण उन पर उपदेशका असर नहीं होता। वास्तवमें जीवका बोध करानेके लिये उसके ज्ञानादिक गुणोंका उल्लेख किया जाता है, परंतु जो गुण गुणीको भेदरूप ही समझ बैठे, वह नितांत अज्ञानी है। इसीप्रकार देवपूजन आदि षट्कर्मों का उपदेश उसे शुद्धात्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिये है; परन्तु जो पुरुष शुद्धात्मके लक्ष्यको सर्वथा भूलकर पूजादिक क्रियाओंमें केवल पूज्य - पूजकभाव तक ही वस्तुस्वरूप समझे, तो वह अज्ञानी है। अर्थात् पूजक उसी शुद्धात्माकी अशुद्ध अवस्था है, यदि 'कर्मपटल हटने पर पूजक स्वयं शुद्ध एवं पूज्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है' यह वास्तविक दृष्टि न रखी जाय; केवल मूलक दशाको ही निजरूप मान लिया जाय, तो वैसा मानना मिथ्यात्व है। इसप्रकारकी बुद्धि रखनेवाला—एकांती उपदेशका पात्र नहीं है।

उदाहरण—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिसप्रकार (अनवगीतसिंहस्य) सिंहको नहीं जाननेवाले पुरुषको (माणवकः) बिल्ली—मार्जार (एव) ही (सिंहः) सिंहस्वरूप (भवति) भासती है, (तथा) उसीप्रकार (अनिश्चयज्ञस्य) निश्चयनयके स्वरूपको नहीं जाननेवाले पुरुषको (व्यवहारः) व्यवहारनय (एव) ही (हि) अवश्य (निश्चयतां) निश्चयनयपनेको (याति) प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—यदि किसी विवक्षासे बिल्लीको सिंह कहा जाय तो अपेक्षादृष्टिसे वह कथन ठीक है; जैसे सिंहकी आकृति, नेत्र, पूँछ आदि अवयवोंकी समानता-उसीप्रकार क्रूरताके साथ झपटना आदि बातोंकी समानता देखकर कोई पुरुष, जिसे सिंहका भी परिज्ञान है; यदि बिल्लीको भी सिंह कहदे, तो उसका वह कहना समानाकारताकी दृष्टिसे ठीक है। परन्तु जो पुरुष सिंहको तो जानता नहीं; केवल सिंहका नाम सुनकर—'वह क्रूर नेत्रवाला होता है, ऊंची पूंछवाला होता है, पंजासे काम लेता है, इत्यादि बातोंको सुनकर बिल्लीको ही वास्तविक सिंह मान बैठे, तो उसका वह मानना सर्वथा मिथ्या है। उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपसे बाहर है। इसीप्रकार जोपुरुष वस्तुके निश्चय-स्वरूप तक तो पहुंचे नहीं, केवल निश्चयका नाम सुनकर व्यवहार-चारित्रको निश्चय-चारित्र, व्यवहारसम्यक्त्वको निश्चय-सम्यक्त्व, व्यवहार आत्मस्वरूपको निश्चय आत्मस्वरूप समझ कर उसी एकांत पर आरूढ़ हो जाय, तो वह पुरुष अज्ञानी है, ऐसी अज्ञानदशामें आचार्यों के उपदेशका भी प्रभावनहीं पड़ता; इसीलिये वह आत्मा उपदेशका[1] अपात्र कहा गया है।

(१) अज्ञानी उपदेशका पात्र नहीं है, इस कथनसे कोई यह दुरभिप्राय नहीं निकाल बैठें कि 'क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश देनेका पात्र

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (तत्त्वेन) वास्तविकरूपसे (व्यवहारनिश्चयौ) व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों नयोंको (प्रबुध्य) जानकर (मध्यस्थः भवति) मध्यस्थ हो जाता अर्थात् किसी एक नयका सर्वथा एकांती न बनकर अपेक्षादृष्टिसे दोनोंको स्वीकार करता है, (स एव) वह ही (शिष्यः) उपदेश सुननेवाला (देशनायाः) उपदेशके (अविकलं) सम्पूर्ण (फलं) फलको (प्राप्नोति) प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—व्यवहारका उपयोग कहांतक किया जाता है एवं वह दृष्टिसे प्रयोगमें लाया जाता हैं, उसके उपयोगसे किस साध्यकी सिद्धि होती है, इन बातोंके परिज्ञानसे जो व्यवहारनयके रहस्यको जान चुका है,—इसीप्रकार वस्तुके शुद्धरूपके परिज्ञानसे निश्चयनयके स्वरूपको भलीभांति जान चुका है, वह पुरुष वस्तुस्वरूपका यथार्थ पर्यालोचक है। वह किसी एक नय पर एकांतरूपसे कभी आरूढ़ नहीं हो सकता, अपेक्षादृष्टिसे दोनोंहीसे वस्तुके रहस्यका सहज बोध कर लेता है। ऐसा पुरुष ही आचार्योंके जैनसिद्धांत-रूप उपदेश ग्रहण करनेका पात्र है, सच्चा शिष्य है, और वही शिष्य उप-देशके अनेकांत वा स्याद्वादरूप अविकल (पूर्ण) फलको पा लेता है।*

आचार्य भी इतने अनुदार एवं संकीर्ण बुद्धिवाले होते हैं, जो कि अज्ञानियोंको उपदेश भी नहीं देना चाहते ?' आचार्यका अभिप्राय इतना ही है, कि तीव्र मिथ्यात्ववालेको दिया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है, गाढ़ मिथ्यात्वी उस अनेकांत कथनसे लाभ नहीं ले सकता, इसीलिये उसे अपात्र कहा गया है। उपदेश देनेका निषेध नहीं किया गया है, उपदेश तो अज्ञानियोंको ही दिया जाता है, तिर्यञ्चों तकको दिया गया है परंतु भद्र अज्ञानी उससे लाभ उठाते हैं, अभद्र तीव्र मिथ्यादृष्टियोंको वह उपदेश ऊपर-वृष्टिकी तरह व्यर्थ चला जाता है। आचार्योंकी उदारताका तो हम उल्लेख ही क्या कर सकते हैं, वे यहां तक उदार-भावना रखते हैं कि सब जीव क्रूरादि परभावोंसे हटकर स्व-स्वभावमें आ जांय। उनकी उस पवित्र भावनाका यहां तक प्रभाव पड़ता है कि उनके समीपमें आकर सिंहादि क्रूर जीव अपनी क्रूरता छोड़कर मैत्रीभावसे बैठते हैं। ऐसी भावना एवं ऐसा प्रभाव रखनेवालोंका उपदेश कितना उदार और अज्ञानको नष्ट करनेवाला हो सकता है, यह बतलानेकी आवश्यकता शेष नहीं रह जाती।— टीकाकार.

* "जइ जिणमयं पठिज्जह तो मा ववहार णिच्छयं मुंच।
एकण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण तच्चं च ॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषका स्वरूप

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुद व्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(स्पर्शगंधरसवर्णैः) स्पर्श-रस-गंध-वर्णसे (विवर्जितः) रहित—वियुक्त (गुणपर्ययसमवेतः) गुणपर्यायों से विशिष्ट (समुदव्ययध्रौव्यैः) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे (समाहितः) सहित संयुक्त (चिदात्मा) चैतन्यमय आत्मा (पुरुषः) पुरुष (अस्ति) है।

विशेषार्थ— इस ग्रंथका नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है। यह नाम चार पदोंका समुदायरूप है—पुरुष, अर्थ, सिद्ध और उपाय। अर्थ नाम प्रयोजनका है, पुरुष के प्रयोजनकी सिद्धि (प्राप्ति) के उपायको बतलानेवाला यह ग्रंथ है। पुरुष का प्रयोजन क्या है? उसकी प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है? तथा पुरुष किसे कहते हैं? इन बातोंका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। सबसे पहले इस श्लोकमें पुरुषका स्वरूप कहा गया है। तीन विशेषणोंसे पुरुषका 'स्वरूप' कहा गया है और चिदात्मा इस एक विशेषणसे उसका 'लक्षण' किया गया है। लक्षण और स्वरूपमें इतना अंतर है कि 'लक्षण' तो उस वस्तु को अन्य समस्त वस्तुओंसे भिन्न सिद्ध कर देता है और 'स्वरूप' वस्तु का भेदज्ञान नहीं कराता किंतु वस्तुका परिचय करा देता है। अर्थात्—मिली हुई अनेक वस्तुओंमेंसे लक्षित वस्तुको जो जुदा कर दे उसे लक्षण कहते हैं; जैसे अनेक पुरुषोंके इकट्ठे रहने पर राजाकी पहचान छत्रसे की जाती है, इसलिये बहुतसी भीड़में छत्र राजाका बाह्य-लक्षण होता है। बाह्य—लक्षण और—अंतरंग लक्षण, ऐसे लक्षणके दो भेद हैं। बाह्यलक्षण

इस गाथाका यह अर्थ है कि—यदि तू जिनमतमें प्रवृत्ति करता है, तो व्यवहारनय और निश्चयनयको मत छोड़। यदि व्यवहारनयको छोड़ देगा, तो उसके बिना व्रत, संयम, दान, पूजा, तप, आराधना, समाधिक धर्म, सामायिक आदि समस्त उत्तम एवं मोक्षसाधक धर्म नष्ट हो जायगा, तथा निश्चयनयको छोड़ देनेसे शुद्ध तत्वस्वरूपका कभी बोध नहीं हो सकेगा। इसलिये साध्य-साधकदृष्टिसे दोनों नयोंका अवलम्बन वस्तुस्वरूपका परिचायक है। विवक्षावश दोनोंमें मुख्य-गौण विवेचना की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे कहते हैं, जो वस्तुसे भिन्न होकर वस्तुका भेद करानेवाला हो। इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। छत्र राजाका लक्षण तो है, परंतु वह राजासे भिन्न पदार्थ है अंतरंगलक्षण उसे कहते हैं, जो वस्तुसे कभी भिन्न न हो सके, जैसे अग्निका लक्षण तेज (उष्णता), तेज वा उष्णता अग्निको छोड़कर कभी किसी दूसरे पदार्थ में नहीं जा सकती, तथा अन्य समस्त पदार्थोंसे अग्निका भेद कराती है। पुरुषका लक्षण चैतन्य (चेतना) किया गया है। यह पुरुषका अंतरंग लक्षण है, पुरुषको छोड़कर चेतना कभी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं पायी जाती, तथा जगत्के अन्य समस्त पदार्थोंसे पुरुषमें भेद कराती है। परंतु 'स्वरूप' वस्तुका भेदज्ञान नहीं कराता किंतु वस्तुका परिचय करा देता है। यदि गौका स्वरूप कहा जाय तो कहना होगा कि गौ चार पैर, दो सींग, दो आँखें, चार थन, पीठ–पेट पूंछवाली होती है'–ऐसा कहनेसे सुननेवालेको गौका परिज्ञान हो जाता है। परन्तु चार पैर, दो सींग, दो आँखें आदि पदार्थ गौके लक्षण नहीं हो सकते, कारण लक्षण भेद करानेवाला होता है। चार पैर, दो सींग आदि अन्य पशुओंसे गौको जुदा नहीं कर सकते; वे भैंस, बकरी आदि पशुओंमें भी पाये जाते हैं, इसलिये वे गौके लक्षण नहीं किंतु स्वरूप है। यहांपर पुरुषका लक्षण चैतन्य किया गया है। चेतना या चैतन्य पुरुष–आत्मा को छोड़कर अन्य किसी अजीव पदार्थमें नहीं पाया जा सकता और नकभी जीव को छोड़ ही सकता है, इसलिए जीवका चेतनालक्षण ऐसा है कि जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव इन तीनों दोषोंसे रहित है। जिसमें ये तीन दोष नहीं आते हों वही लक्षण समीचीन निर्दोष कहा जाता है। जो लक्षण अपने समस्त लक्ष्यमें न रह कर उसके एकदेशमें रहे, उसे अव्याप्तलक्षण[२] कहते हैं। जो लक्षण अपने लक्ष्यमें ही रहे और अलक्ष्यमें

(१) जिसका लक्षण किया जाय, उसे लक्ष्य कहतेहैं; जैसे गौका लक्ष्य किया जाय तो 'गौ'लक्ष्य कही जायगी।

(२) जिस लक्षणमें अव्याप्तिदोष पाया जाय, उस लक्षणको अव्याप्तलक्षण कहते हैं। इसीप्रकार जिस लक्षणमें अतिव्याप्तिदोष पाया जाय, उस लक्षण को अतिव्याप्त लक्षण कहते है; तथा जिस लक्षणमें असंभव-दोष पाया जाय, उस लक्षणको असंभविलक्षण कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी चला जाय, उसे अतिव्याप्त-लक्षण कहते हैं; तथा जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वथा न रहे, उसे असंभवि लक्षण कहते हैं। दृष्टांतके लिए गौको ले लीजिए, यदि गौका लक्षण लालरंग कहा जाय तो वह अव्याप्त तथा अतिव्याप्त है। क्योंकि लालरंग किसी किसी गौमें पाया जाता है—सब गौमें नहीं पाया जाता, इसलिए तो अव्याप्त है और लालरंग गौको छोड़कर घोड़ा आदि पशुओं में भी पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्त है। यदि गौका लक्षण 'सूंढ़ जिसके हो वह गौ होती है' किया जाय, तो वह असम्भविलक्षण है, गौमें सर्वथा नहीं रहता। यहांपर पुरुषका जो चेतनालक्षण है, वह तीनों दोषोंसे रहित निर्दोष लक्षण है। चेतना नाम ज्ञानदर्शनका है, अर्थात् जीव के चेतनागुणकी ज्ञानदर्शनरूप दो पर्यायें है। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'चेतनाजीव का अव्याप्तलक्षण है; मरे हुए मनुष्यमें चेतनालक्षण नहीं पाया जाता, जीते हुए मनुष्यमें पाया जाता है।' ऐसा कहनेवाले वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं, वे मनुष्य शरीरको ही जीव समझ कर उसमें ज्ञानदर्शन मानते हैं, उन्हें यह नहीं मालूम कि शरीर तो पुद्गल—जड़की पर्याय है, वह जीव नहीं है; जबतक उसमें जीव रहता है तबतक इस शरीरको जीता हुआ कहते हैं, जीव के निकल जाने पर उसे मृत शरीर कहते हैं। चेतना जीवका लक्षण कहा गया है, न कि शरीरका; इसलिए वह सदा जीवके साथ ही रहता है। जब शरीरसे जीव चला जाता है तो उसके साथ उसका चेतना गुण भी चला जाता है। चेतना गुण जीव को कभी नहीं छोड़ सकता, और जीव चेतनागुणको कभी नहीं छोड़ सकता। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिए कि जीव और चेतना दोनों ही एक वस्तु हैं, जो जीव है सो ही चेतना है, जो चेतना है सो ही जीव है। केवल गुणगुणी का भेदरूप कथन किया जाता है, जिससे जीवकी पहचान हो जाय। इसलिए जो शरीरको ही जीव मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'चेतना जीवका कोई गुणविशेष नहीं है किंतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]पुद्गलसे ही ज्ञानतन्तुओंका विकाश होता है, और अंतमें वह विकाश उसी पुद्गलमें समाविष्ट हो जाता है।' जो ज्ञानतन्तुओंका विकाश है उसे ही वे लोग जीव बतलाते हैं। जीव एक स्वतंत्रपदार्थ है, ऐसा वैज्ञानिक[2] (साइन्टिफिक) नहीं मानते हैं। इस विषयमें विचार करने की बात है कि यदि जीव कोई स्वतन्त्र पदार्थ न हो एवं पुद्गलका ही विकाश हो, तो जैसे जीवित शरीर में ज्ञान पाया जाता है वैसे किसी पुद्गलमें क्यों नहीं देखनेमें आता ? पुद्गलके गुण रूप रस, गंध, स्पर्श हैं, ये चारों ही प्रत्येक पुद्गलमें नियमसे पाये जाते हैं, कोई ऐसापुद्गल नहीं है जिसमें उक्त चारों ही गुण न हों। यदि ज्ञान भी पुद्गलका ही गुण होता, तो किसी न-किसी पुद्गलमें उसकी व्यक्ति अवश्य ही दीखती, परन्तु किसी भी पुद्गलमें रूपरसादिकी तरह ज्ञानगुण नहीं दीखता; इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान पुद्गलका गुण नहीं है।

जो लोग यह मानते हैं कि 'जीव योंही योग्यता पाकर पुद्गलमें पैदा हो जाते हैं, जैसे—कीचड़ पानी आदिमें झट बहुतसे जीव देखनेमें आते हैं।' इसप्रकार जो जीवको पुद्गलमें उत्पन्न होता हुआ मानते हैं, वे वास्तविक तत्वकी तह तक नहीं जा सके हैं। यथार्थ बात यह है कि जीव तो अजर अमर है, उसका न तो कभी विनाश होता और न उत्पत्ति होती है। जगत्में जितने भी द्रव्य हैं, वे सब सदा रहनेवाले हैं, किसीका कभी नाश नहीं होता। यदि वस्तुओंकी नवीन उत्पत्ति होने लगे तो द्रव्योंकी नियति तथा उनकी कार्यकारणरूप नियमित श्रृंखला नहीं रह सकती, वैसी अवस्था में सभी पदार्थ संकर एवं लुप्त हो जांयगे। इसलिए 'सत्से कभी असत् नहीं होता असत्से (अभावसे) कभी सत् (भाव) नहीं होता' इस सिद्धान्तको साइन्स (भौतिक-मतवाद) भी स्वीकार करता है। जीवभी

(१) जिसे अंग्रेजीमें "मैटर" कहते हैं। (२) आजकल कुछ वैज्ञानिक (साइन्टीफिक) आत्माको पुद्गलसे भिन्न, एक स्वतंत्रपदार्थ मानने भी लगे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक सद्भावरूप वस्तु है, इसलिए वह तो सदा रहता ही है, परंतु प्रत्येक वस्तुके समान वह भी एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें आया करता है। कर्म यद्यपि पुद्गलकी पर्याय है, फिरभी उसका अनादिकालसे जीवका संबंध होनेसे जीवके शुभ अशुभ परिणामोंके अनुसार वह कर्म जीवको चारों गतियों में घुमाता फिरता है। पूर्व कर्मोदयसे जैसे जैसे जीवके विभाव-भाव होते हैं वैसे वैसे ही जीव शरीर धारण करता है एवं नवीन कर्मोंका सम्बन्ध करता है। यही अवस्था जीवकी बराबर तबतक रहती है जबतक कि कर्मोंका भार कुछ हल्का होने पर अपने स्वाभाविक परिणामोंसे समस्त सरागभावोंको दूर नहीं कर देता। जिस गतिका, जिस शरीरनामकर्मका, और भी—जिन अविनाभावी कर्मोंका. जिस जातिका उदय होता है, जीवको उस गतिमें, उस शरीरमें एवं वैसी अवस्था में जाना पड़ता हैं। इसलिये जो जीव कीचड़ पानी वनस्पति आदिमें उत्पन्न होते दीखते हैं, वे जीव उत्पन्न नहीं होते किंतु उन उन स्थानों में वहां के पुद्गल-परमाणुओं को कर्मोदय-वश शरीर बनाकर उनमें दूसरी गतियों से जीव आकर वास करते हैं। जीव पैदा नहीं होते, किंतु शरीर पैदा होते हैं अर्थात् उन क्षेत्रों के परमाणु ही शरीर रूप पर्याय धारण कर लेते हैं और उन्हीं में जीव आ जाते हैं। जीव भी स्वेच्छा से नहीं आते, मरणकाल में इच्छा की व्यक्ति नहीं रहती, जीव की मूर्छित अवस्था रहती है, वह तो कर्मों की प्रेरणा से जहां तहां घूमता फिरता है। कर्मों की तीव्रता और मंदता से जीवों को बाह्य-योग्यताएँ यथानुकूल मिलती हैं। जैसी जैसी बाह्य सामग्रियाँ मिलती हैं, उसी उसी प्रकारसे जीवोंके गुणों का विकाश होता है। कोई जीव कर्मोंसे यहां तक सताये हुए हैं कि उन्हें ऐसा शरीर मिला है, जिसमें केवल स्पर्शनइन्द्रिय ही है; उसमें मुँह, नाक, आखें आदि कुछ भी नहीं हैं। ऐसे शरीर में रहने वाले जीवों के गुणों का विकाश अत्यन्त मंद रहता है। वे केवल स्पर्शरूप ज्ञान करते हैं; स्पर्शरूप ज्ञान भी उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीव मंद होता है। पानी को पाकर वनस्पति हरी हो जाती है, बिना पानी के वह सूख जाती है, पानी देते हुए रक्षा करने से वह बढ़ती है; यह वनस्पति का बढ़ना, हरा होना, बिना पानी के मुरझाना आदि कार्य देखने से सिद्ध होता है कि उसमें जीव है। यदि वनस्पति में जीव नहीं होते तो वह चौकी, किवाड़, खम्मा, दीवार, सोना, चांदी, थाली, मकान, पुस्तक, कपड़ा आदि पदार्थों के समान पानी देने पर एक सी रहती; न तो घटती, न बढ़ती। जैसे चौकी आदि पदार्थ पानी देने पर ज्यों के त्यों रहते हैं। तैसे वह भी रहती। परन्तु चौकी, किवाड़, खम्भा आदिमें जीव नहीं है, वनस्पतिमें जीव है, तथा मनुष्योंके समान वृद्धि और मुरझाना आदि होता है इतना विशेष है कि उन जीवों पर कर्मों का यहांतक प्रभाव पड़ा हुआ है कि वे केवल शरीर और एक स्पर्शनइन्द्रिय पा सके हैं, इसीलिये इतने मंदज्ञानी हैं कि उन्हें 'अपने' तकका बोध नहीं है। उन्हीं वनस्पतिमें रहनेवाले जीवोंके समान पहाड़ोंमें, अग्निमें, हवामें जीव पाये जाते हैं। पहाड़ों में रहने वाले जीव पृथ्वीकायके कहलाते हैं, कारण पृथ्वी ही उनका शरीर है। जिन पहाड़ मिट्टी आदिमें जीव रहते हैं, वे पहाड़ मिट्टी आदि पदार्थ बढ़ते हैं। पहाड़ों का बढ़ना वहाँ रहने वालों को मालूम होता है—जो पहाड़ के स्कंध वा टेकरियां कुछ वर्ष पहले छोटी छोटी रहती हैं, वे ही कुछ वर्ष पीछे बढ़-कर बहुत विशाल बन जाती हैं। जिस पाषाण में जीव नहीं होता, वह कभी बढ़ नहीं सकता; जैसे घरों में रहने वाले पत्थर के खम्भे, सिललोढा, चाकी, पत्थर के बांट, पत्थर की मूर्ति आदि वस्तुयें नहीं बढ़ सकतीं; कारण उनमें जीव नहीं है।

मिट्टी पाषाण अदि में जो जीव रहते हैं, वे भी वनस्पति के समान केवल एक स्पर्शन - इन्द्रिय वाले हैं। इसी प्रकार जल अग्नि वायु में भी जीव रहते हैं, वे भी ऊपर कहे हुए जीवों के समान एकेन्द्रिय हैं। जल में जो जीव आंखोंसे प्रत्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने में आते हैं, वे तो दो-इन्द्रिय भी हैं; तीन-चार-पाँच इन्द्रिय वाले भी हैं, उनकी चर्चा नहीं है। जिन जीवों का जल ही शरीर है, उन्हीं का यहाँ वर्णन है। जो जल से अतिरिक्त दीखते हैं उनका जल शरीर नहीं है, शरीर उनका दूसरा ही है, जल तो केवल आधार है। जैसे मनुष्यका शरीर दूसरा है, पृथ्वी उसका आधार है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पाँचों ही प्रकार के जीव एक स्पर्शन-इन्द्रिय वाले हैं। जिन जीवों का कर्मभार कुछ हलका होता है, उनके एक रसना-इन्द्रिय भी प्रगट होती है। जब उन जीवोंको रसनाइन्द्रिय रूप बाह्य योग्यता मिलती है तो उनका गुण विकाशभी पहले जीवोंसे(एकेंद्रिय जीवोंसे) बढ़ता है; वे केवल स्पर्शका ही बोध नहीं करते किंतु पदार्थको चख कर उनका स्वाद भी लेते हैं। परन्तु स्वाद लेनेके सिवा वे उनकी गन्धका ज्ञान नहीं कर सकते, उन्हें देख नहीं सकते; कारण कर्मोदयवश उन्हें बाह्ययोग्यता उतनी ही मिली है। ऐसी योग्यतावाले जीवोंमें लट, शंख आदि जीवोंकी गणना है। उनकी अपेक्षा और भी जो कर्मभारसे हलके हैं; उन्हें नासिकारूप भी बाह्ययोग्यता मिली है; वे वस्तुओंकी गन्धका भी ज्ञान कर लेते हैं। चींटी, मकोड़ा आदि जीव तीन इंद्रियवाले हैं। उनसे भी जो कर्मभारसे हलके हैं उनके आंखें भी हैं, जैसे भ्रमर, वर्रे आदि। उनसे बढ़कर योग्यता उन्हें प्राप्त है जिनके कान भी हैं। उनसे भी बढ़कर योग्यता उन्हें प्राप्त है जिनके मन भी है। जिन जीवोंके मन है, वे ही पांचों इंद्रियोंसे जो ज्ञान करते हैं उसके परिणाम तक मन-द्वारा पहुंचते हैं। देव, नारकी और मनुष्य, इन तीन गतियोंवाले जीव तो सभी मनवाले होते हैं। तिर्यंचोंमें पशुपक्षी आदिके मन हैं, बाकी चार इंद्रियवालों तक तो नियम से मन नहीं है पंचेंद्रिय भी कोई कोई ऐसे हैं जिनके मन नहीं है। सब जीवों के समान होनेपर भी कर्मों की तीव्रता मंदतासे उनकी अनेक अवस्थायें देखने में आती हैं जबतक शरीरमें जीव रहता है तबतक शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इन्द्रियां सभी काम करती हैं, जीवके निकल जाने पर शरीर जड़ का जड़ रह जाता है। 'जीव कोई वस्तु नहीं है किंतु पुद्गल (मैटर) का विकाश है' इस भ्रममें पड़कर आजतक अनेक वैज्ञानिकवादवाले (साइन्टिफिक) प्रयत्न कर चुके; परन्तु असम्भवको सम्भव नहीं कर सके— मरे हुए मनुष्यको आजतक कोई नहीं जिला सका।

यदि जीव पुद्गलका पर्याय होता, तो किसी-न-किसी स्कन्ध में वैसी योग्यता आजतक क्यों नहीं मिल सकी ? कभी तो किसी परमाणु-स्कन्धमें वैसी योग्यता मिल कर ज्ञानोत्पत्ति मिल जाती ! परन्तु अनेक प्रकारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक (पौद्गलिक) उन्नति करने पर भी पुद्गलमें ज्ञानोत्पत्ति किसीने नहीं की; इससे सिद्ध होता है कि जैसे जिसके कारण होते हैं, उनसे वैसे ही कार्य होते हैं। जड़से जितने प्रकारके भी आविष्कार होंगे; वे सब जड़रूप ही होंगे; जड़से चेतनका कभी आविष्कार नहीं हो सकता। यदि जड़से चेतनका आविष्कार होने लगे तो संसारमें ज्ञान की शृंखला कभी नहीं बन सकती, परन्तु समस्त जीवोंमें ज्ञानकी एक शृंखला पाई जाती है। मनुष्यका जो बाल्यावस्थामें ज्ञान होता है, वह युवावस्थामें भी बना रहता है तथा वृद्धावस्थामें भी बना रहता है। इतना ही नहीं, किन्तु जिससमय बालक उत्पन्न होता है, उससमय भी उसे पहली अवस्थाका अर्थात् इस जन्मसे पहले जन्मका ज्ञान रहता है। बहुत से ऐसे दृष्टांत सुने तथा देखे गये हैं कि अनेक बालकोंको जातिस्मरण हुआ है, उन्होंने पहले जन्मकी सब बातें बताई हैं।* यदि ज्ञान पुद्गलसे ही उत्पन्न होता तो फिर पूर्वापर जोड़रूप ज्ञान नहीं पाया जाता; नाना

* जिससमय हम मोरेनाके "श्रीगोपाल दि० जैन विद्यालय"में अध्यापन-कार्य करते थे, उससमय वहाँ एक ब्राह्मणका ४ वर्षका बालक आया था। उसके संरक्षक उसे ग्वालियर-नरेशके पास ले जा रहे थे। बालक कहता था कि अमुक सिपाही ने मुझे कुए पर पानी पीते हुए गोली से मारा था, मैं उससे बदला लेकर ही रहूँगा। मोरेनाके जानकार कहते थे कि वह सिपाही अभी तक मौजूद है। उसने एक प्रसिद्ध डाकूको, उसके नहीं पकड़े जाने पर, महाराजकी आज्ञानुसार मौका पाकर उसे गोली से मार दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल-स्कन्धोंके जुड़ने-विघटनेसे भिन्नभिन्न असंबद्ध एवं खंडशः ज्ञान होता। वैसे अशृंखल टुकड़ेरूप ज्ञानसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि कोई ज्ञान नहीं हो सकते। एक शरीरके नष्ट हो जाने पर तो उस पुद्गल-स्कन्धसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानतन्तु नष्ट ही मानने पड़ेंगे। नवीन पुद्-गलस्कन्धोंमें नवीन ही ज्ञानतन्तु उत्पन्न होंगे। वैसी अवस्थामें पूर्व बातों की स्मृति कभी नहीं आ सकती, परन्तु पूर्व बातोंकी स्मृति बालकोंमें देखी जाती है। किसी किसी बालकका ज्ञान इतना विकाशशील (विशेष क्षयोप-शमरूपमें) देखा जाता है कि वह बिना शिक्षा लिये ३,४ वर्षकी आयुमें कठिनसे कठिन गणितके प्रश्नोंका उत्तर निकाल देता है, कोई कोई बालक बिना शिक्षा लिए बढ़ियासे-बढ़िया गायन गाता है, कोई कोई बालक स्वल्प शिक्षा लेनेपर झटपट एक गणनीय विद्वान् बन जाता है। ये सब बातें ऐसी हैं जो नवीन बालकके पूर्वसंस्कारोंको सिद्ध करती हैं, और बतलाती हैं कि 'जीव' एक पदार्थ है, उसीकी पूर्वापर अवस्थाओंमें क्रमसे होनेवाले ये विकाश हैं।

पुरुष शब्दका अर्थ आत्मा है। पुरुष शब्द मनुष्यगतिमें रहनेवाले पुल्लिग-शरीरधारी जीवमें भी प्रचलित है। मनुष्योंके तीन भेद हैं— १ पुरुष, २ स्त्री और ३ नपुंसक। यहांपर पुरुष शब्दका अर्थ मनुष्य गति वाला पुरुष नहीं है, किंतु आत्मा है। पुरुष, आत्मा, जीव, चेतन, ज्ञाता, दृष्टा, ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं। जो उत्तम गुणोंको धारण करे, लोकमें उत्तम कार्य करे, संसारी जीवोंमें जो स्वयं उत्तमता प्राप्त करे और उत्तम चारित्रवाला बनकर लोकमें अपनेको सर्वोत्तम पूज्य बनावे, उसे

है। उसके मरणकालको ४ वर्ष ९ मास होते हैं। बालकने सिपाहीको पहचान भी लिया था। सुना जाता है कि महाराज ने उस बालकको बुलाकर उससे उस सिपाहीको क्षमा दिलाई थी और बालकको पारि-तोषिक भी दिया था। यह सच्ची घटना समाचारपत्रोंमें भी निकल चुकी है,
इस घटनासे भलीभांति सिद्ध होता है कि जीव एक स्वतंत्र वस्तु है, वह अनेक पर्यायोंमें घूमता-फिरता है, उसीके ज्ञानगुणका पूर्वापर एकरूपमें यह परिणाम दीखता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]पुरुष कहते हैं। यह पुरुष शब्दकी व्युत्पत्तिसे किया गया अर्थ मनुष्यगति-वाले पुरुषसे संबंध रखता है। प्रकृतमें शुद्ध जीवका वाचक 'पुरुष' शब्द है। जिस 'पुरुष'का अर्थ व्युत्पत्तिसे बतलाया गया है, वह इस शुद्ध जीव की अशुद्ध एवं वैभाविक अवस्था है। वह अवस्था अनादि कालसे है, उसी वैभाविक पुरुषपर्यायमें आकर अपने पुरुषार्थसे यह आत्मा शुद्ध पुरुष वा शुद्ध चेतन बन सकता है। इसलिये स्वाभाविक पुरुषपर्यायकी प्राप्तिके लिये वैभाविक पुरुष-पर्याय ही साधक (कारण) है; क्योंकि बिना वैभाविक पुरुष-पर्यायके प्राप्त किये स्वाभाविक पुरुषपर्याय कभी किसी जीवको नहीं प्राप्त हो सकती।

यह जीव अशुद्ध अवस्थामें शरीर तथा सूक्ष्म पुद्गल वा कार्माणवर्ग-णाओंके निमित्तसे कथंचित मूर्त कहलाता है। यह मूर्तता केवल संबंध-जनित है। वास्तवमें आत्मा अमूर्त है, पुद्गल ही मूर्त है। रूप-रस-गंध -वर्णको मूर्ति कहते हैं। मूर्ति जिसमें हो, वह मूर्त कहलाता है। ऐसा मूर्त सिवा पुद्गलके अन्य कोई द्रव्य नहीं है। रूप रसादिक पुद्गलके गुण हैं, वे जीवमें कभी नहीं आ सकते। जितने पदार्थ देखने में आते हैं, सुननेमें आते हैं, चखनेमें आते हैं, छूने में आते हैं तथा सूंघनेमें आते है, वे सब पुद्गल हैं। जीव न सुननेमें आता, न देखा जाता, न चखा जाता, न सूंघा जाता, न छूनेमें आता; वह आकाशके समान अमूर्तिक—इंद्रियोंके अगोचर अरूपी पदार्थ है। कोई पुरुष आंखों-द्वारा जीव को देख नहीं सकता, केवल शरीरोंको देखकर उनमें बसनेवाले जीवका अनुमान कर लेता है।

---

१. पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमे य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो॥

—गोम्मटसार, जीवकांड

अर्थात् पुरुष ही संसारमें सर्वोत्तम कार्य कर सकता है, वही कर्मको नष्ट कर सर्वोत्तम गुणोंका विकाश कर सकता है। एवं पुरुष शब्दकी सार्थकता वहीं होती है जहाँ आत्मा पुरुषपर्यायमें रहकर स्वी-कीय पौरुषसे ध्येयरूप मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हो कर शुद्धवीतराग सर्वज्ञ-पुरुष-पदमें पहुँच जाता है। जो शुद्धपुरुष—शुद्धआत्मा है, वही 'अस्तिपुरुषश्चिदात्मा' इस श्लोक-द्वारा बतलाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार फल, पत्ते, शाखा, स्कंध, गुच्छा, टहनी आदिका समूह ही वृक्ष है—इनको छोड़कर वृक्ष कोई वस्तु नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व आदि विशेष गुण और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण—इनका समूह ही जीव द्रव्य है। इन गुणों को छोड़कर जीव और कोई पदार्थ नहीं है। इन गुणों में प्रतिक्षण अनेक पर्यायें होती रहती हैं; इसलिए पर्यायोंका पिंड भी जीव है। पर्यायोंके अनेक भेद होते हैं, इस बातका निरूपण पहिले किया जा चुका है

बिना अस्तित्वगुणके, अर्थात् बिना सत्ताके कोई पदार्थ नहीं कहा जा सकता। पदार्थ वही हो सकता है, जो सत्स्वरूप है, भाव रूप है। भाव सदा एक रूपमें कभी नहीं रहता, वह सदा परिणमन करता रहता है। कभी किसी रूप में आता है और कभी किसी रूपमें। जीवभी एक भावात्मक पदार्थ है। वह भी सदा परिणमन करता रहता है। कभी मनुष्य-पर्यायसे देव-पर्यायमें चला जाता है और कभी देव-पर्यायसे मनुष्य अथवा तिर्यञ्च हो जाता है, कभी मनुष्य अथवा तिर्यंचसे नारकी बन जाता है और कभी नारकीसे मनुष्य अथवा तिर्यंचपर्यायमें आ जाता है। कभी मनुष्यसे तिर्यंच अथवा तिर्यंचसे मनुष्य अथवा देव हो जाता है। इस प्रकार जीवकी एक पर्यायका नाश और एकका उत्पाद होता रहता है। ध्रौव्य उसका सदात्मक अवस्थारूप बना रहता है। यह 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' जीवका वैभाविक अवस्थाका है परंतु यह त्रितयात्मक पर्याय एक अस्तित्वगुणकी है, इसलिये शुद्ध जीवमें भी सदा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य हुआ करता है। सिद्धोंमें भी एक पर्यायका नाश, एक का उत्पाद और सदवस्थारूप परिणामका ध्रौव्य सदा होता रहता है। दृष्टांतके लिए सिद्धोंके ज्ञानगुणको ले लीजिए, सिद्धोंके ज्ञानमें घट—रूप वर्तमान—पर्याय विषय पड़ती है तो साथ ही घटकी पूर्व मृत्तिकारूप पर्याय—भूतपर्याय और घटकी उत्तर—पर्याय कपाल या ठीकरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप भी विषय पड़ती है, दूसरे क्षणमें घट फूट जाता है तो वर्तमान–पर्याय ठीकरा या कपाल हो जाती है। भूतपर्याय घटरूप हो जाती है; उत्तर–पर्याय छोटे छोटे कण–रूप हो जाती है। सिद्धोंके ज्ञानमें उसी प्रकार परिणमन हो जाता है। इसी प्रकार जगत्के सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और वे प्रतिक्षण सिद्धोंके ज्ञानमें प्रतिभाषित होते रहते हैं; इसलिए सिद्धों में भी एक पर्यायका उत्पाद, एक का व्यय तथा सदवस्थाका ध्रौव्य होता ही रहता है। कदाचित् कहा जाय कि 'ऊपर जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटाया गया है, वह परापेक्षी है, स्वयं पदार्थ में कैसे होता है ?' तो इसका उत्तर यह है कि–पहले तो ज्ञान गुणके परिणमन को परापेक्षी कहना युक्तियुक्त नहीं है; कारण ज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह पदार्थों को विषय करे, बिना विषय किये उसमें शून्यता आ जायेगी। पदार्थ ज्ञानमें विषय पड़ते ही हैं, यह भी पदार्थों का स्वभाव है। यह ज्ञान–ज्ञेयका संबंध परावलम्बी नहीं कहा जा सकता; किंतु वस्तुस्वभाव है। कमरेमें लटके हुए दर्पणमें कमरे के पदार्थों का प्रतिबिंब पड़ेगा ही, वह अनिवार्य है, एवं दर्पणका स्वभाव है। दीपक पदार्थों को दिखाता है, यदि पदार्थ न रक्खे हों तो उन्हें वह नहीं दिखा सकता। जो कुछ भी भित्ति वा जमीन वहां होगी, उसे वह अपने प्रकाशसे दिखाता ही है, यह उसका स्वभाव ही है। सूर्य पदार्थों का प्रकाश करता है, यह प्रकाश करना उसका स्वभाव ही है। पदार्थों के प्रकाशसे यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्यका प्रकाश परावलंबी है। परावलम्बी तो तब कहा जाय, जब कि वह पदार्थों के होते हुए ही या उनकी प्रेरणा से प्रकाश करे; और उनके अभावमें में अंधा बना रहे। परंतु ऐसा नहीं है। पदार्थ हो, चाहे न हो, वह तो सदा प्रकाश ही करता रहेगा। जो उसके सामने पदार्थ उपस्थिति होंगे उन्हींको वह प्रकाश करेगा। इसी प्रकार ज्ञानगुण है। ज्ञानमें पदार्थ झलकते है, यह उसका स्वभाव ही है। पदार्थों के झलकानेमें ज्ञान पदार्थों की कोई अपेक्षा एवं सहायता नहीं चाहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंतु वस्तुस्वभाव ही वैसा है। इसलिये सिद्धोंका ज्ञानगुण द्वारा जो परिणमन होता है, वह स्वाभाविक परिणमन है। वस्तुस्वभाव अनिवार्य है, उत्पादादित्रय होना अस्तित्वगुणकी पर्याय है, वस्तुमात्रमें सत्ता है, इसलिए सिद्धोंमें भी उत्पादादित्रय सदा होते ही रहते हैं। जिसप्रकार ज्ञानगुणका दृष्टांत दिया गया है, उसीप्रकार सिद्धोंमें अन्य समस्त गुणों का परिणमन होता रहता है। ज्ञान एक ऐसा गुण है, जो विवेचनामें लाया जा सकता है; कारण वह सविकल्पक है। अन्य समस्त गुण निर्विकल्पक हैं, अतएव वे अवक्तव्य होनेसे अविवेच्य हैं। सिद्धों के समस्त गुणोंमें अगुरुलघु गुणका षट्गुणी—हानिवृद्धि—रूप परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है। यह स्वभावपरिणमन किसी परपदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता। इस स्वाभाविक परिणमनसे भी सिद्धोंमें सदा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य होता रहता है। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन समस्त द्रव्योंमें भी प्रतिक्षण उत्पादादित्रय होते रहते हैं। पुद्गलका परिणमन तो मूर्त एवं स्थूल होनेसे दृष्टिगोचर होता है, बाकी अमूर्त पदार्थों का परिणमन छद्मस्थोंके प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं है, परोक्ष आगमादि ज्ञानका विषय अवश्य है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों ही वस्तुके सत्तागुणकी एक क्षणवर्ती त्रितय रूप पर्याय हैं। ये तीन परिणाम भिन्नभिन्न समयमें नहीं होते, किंतु तीनोंहीका एक समय है। उत्पादका अर्थ है उपजना, व्ययका अर्थ है बिनस जाना, ध्रौव्यका अर्थ है ठहरना अर्थात् स्थिर रहना। इन अर्थों से यह प्रयोजन नहीं समझना चाहिये कि वस्तु ही उपजती और बिनसती है। यदि वस्तु ही उपजती-बिनसती होती, तो उत्पाद और व्यय इन दो के कहनेकी ही आवश्यकता थी; तीसरा ध्रौव्य क्यों कहा गया? इस ध्रौव्यके कहनेसे सिद्ध होता है कि वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती। वह तो नित्य सदा स्थाई है, हरएक वस्तु अजर अमर है; उसकी पर्यायें उपजती और नष्ट होती हैं। उत्पत्ति होना और नष्ट होना, इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनोंका एक समय कैसे हो सकता है ? कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और कभी कालान्तरमें नष्ट होता है, दोनोंका एक समय कैसे कहा गया ?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—दोनोंका भिन्न समय समझना भ्रम है, जो एक पर्यायके उत्पन्न होनेका समय है, वही दूसरी पर्यायके नष्ट होनेका समय है। जैसे घड़ेका फूटना और दो कपालों (दो टुकड़ों) का उत्पन्न होना, दोनोंका एक ही समय है। बीजका नष्ट होना और अंकुरका उत्पन्न होना, दोनोंका एक ही समय है। जिस समय घड़ा फूटा है, उसी समय दो कपालोंका उत्पाद हुआ है और उसी समय मिट्टीका ध्रौव्य है। बीज जिस कालमें नष्ट हुआ है, उसी कालमें अंकुर उत्पन्न हुआ है और वृक्षका ध्रौव्य भी उसी क्षणमें उपस्थित है। इसलिए तीनोंका एक ही क्षण है परन्तु जो उत्पाद है सोही व्यय नहीं है। यहांपर अपेक्षाभेद है; उत्पाद जिस अपेक्षासे है, व्यय उससे भिन्न अपेक्षासे है और ध्रौव्य उससे भिन्न अपेक्षासे है। यथा—घड़ेके फूटनेकी अपेक्षासे तो व्यय है, दो कपालोंके उत्पन्न होनेकी अपेक्षासे उत्पाद है और मिट्टीकी अपेक्षा ध्रौव्य है। उसीप्रकार बीजकी अपेक्षा नाश, अंकुरकी अपेक्षा उत्पाद, तथा वृक्षकी अपेक्षा ध्रौव्य है; कारण वृक्षत्व दोनोंमें है। इसलिए उत्पादादि तीनों ही अपेक्षाभेदसे भिन्नभिन्न स्वरूप वाले हैं, परन्तु तीनोंका काल एक होनेसे वे एकपर्यायस्वरूप हैं। दो पर्याय नहीं हैं। जो घटका फूटना है, वही तो कपालका उत्पन्न होना है; न तो समयभेद ही है और न पर्यायभेद ही है। घट और कपालमें पर्यायभेद है, परन्तु घटनाश और कपालोत्पादमें पर्यायभेद नहीं है और पर्यायभेद न होनेसे तीनोंको एकरूपता आती है; इसके लिए अपेक्षाभेद है।

कोइ कोई ध्रौव्यको स्थाई समझते हैं, इसीलिये वे व्यय-उत्पादको पर्याय और ध्रौव्यको गुण बतलाते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं हैं। ध्रौव्य भी उत्पाद-व्यय के साथमें होनेवाली एक पर्याय है। ध्रौव्य भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पाद व्ययके साथ बदलता रहता है। यहां शंका हो सकती है कि 'ध्रौव्यके बदलने पर वस्तुका ही नाश माना जायेगा ? 'इसका उत्तर यह कि–ध्रौव्य बदलता अवश्य है; यदि वह बदले नहीं तो अस्तित्वगुणका परिणाम नहीं कहा जा सकता, बदलने पर भी अस्तित्वके सद्भावका सूचक होता है। इसकी सूक्ष्मता इसप्रकार है–जैसे घड़ेके फूटने और कपालके उत्पन्न होनेमें मिट्टी ध्रौव्य है, ध्रौव्य होने पर भी मिट्टी एकरूपमें नहीं रहती, घड़ेकी अवस्थामें मिट्टीका अस्तित्व दूसरे आकारमें है और कपालकी अवस्थामें मिट्टी का अस्तित्व दूसरे आकारमें है, परन्तु जैसे घट का नाश और कपालका उत्पाद हो जाता है, वैसे मिट्टीका नाश और उत्पाद नहीं होता, मिट्टी दोनों अवस्थाओंमें मिट्टी–रूप ही रहती है। यही ध्रौव्यमें कथंचित् नित्यता घटित होती है। इसीलिए ध्रौव्यकी, गुणके साथ व्याप्ति है और व्यय-उत्पादकी, पर्यायके साथ व्याप्ति है। गुणका परिचय ध्रौव्यसे होता है और व्यय-उत्पादसे पर्यायका परिचय होता है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य तीनोंसे गुणपर्यायात्मक द्रव्यका स्वरूप जाना जाता है।

यहांपर एक शंका यह उपस्थित हो सकती है कि 'ऊपर तीनोंका एक ही समय बतलाया गया है; ऐसी अवस्थामें मनुष्यपर्यायका नाश तथा देवपर्यायका उत्पाद, इन दोनोंका भिन्न समय होनेसे व्यय-उत्पादका एक समय कहना विरुद्ध पड़ता है। कारण जो जीव तीन मोड़ लेकर जन्म लेनेवाला है, उसके दूसरी पर्यायका उत्पाद मरण–समयसे चौथे समयमें होता है; ऐसी अवस्थामें व्यय–उत्पादका एक समय कैसे बन सकता है ? स्थूलदृष्टिसे विचार करनेसे शंका ठीक मालूम होती है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टिमें विचार करने पर ऊपर की गई शंका निर्मूल ठहरती है। जो मनुष्य-पर्यायका मरणकाल है, उसी क्षणमें देव–पर्यायका उत्पाद होता है। यद्यपि स्थूलतासे मरणकालसे तीन समय पीछे देवपर्यायका उत्पाद प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें मरण और उत्पत्तिका विचार करनेसे दोनोंका एक ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल सिद्ध होता है। आयु और गतिके छूटनेको ही मरण कहते हैं, मनुष्यायुका नष्ट होना और मनुष्यगतिका नष्ट होना ही मनुष्यजन्मका नाश अथवा 'मरण' कहलाता है तथा आयु-गतिका उदय होना ही नूतन 'जन्म' कहलाता है। जिससमय मनुष्यपर्यायमें रहनेवाले जीवकी मनुष्यायु और मनुष्यगतिका नाश होता है, उसी कालमें देवायु और देवगतिका उदय[1] प्रारंभ होता है; अन्यथा विग्रहगतिमें किस गति और किस आयुका उदय माना जायगा ? इसलिये जीवका मरणकाल और आगामीपर्यायका उत्पाद एक ही क्षणमें होता है और इसीलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, वस्तुके स्वभावसिद्ध एवं निर्दोष लक्षण हैं। अतएव पुरुषके स्वरूप-कथनमें तीनोंका विशेषणरूपसे विधान किया गया है।

जीव स्वयं कर्ता और भोक्ता है

परिणममानो नित्यं ज्ञान विवर्तैरनादिसंतत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह पुरुष-जीव (नित्यं) सदा (अनादिसंतत्या) अनादि-संततिसे (ज्ञानविवर्तैः) ज्ञानके विवर्तोंसे (परिणमन करता हुआ (स्वेषां) अपने (परिणामानां) परिणामोंका (कर्ता) करनेवाला (च) और (भोक्ता) भोगनेवाला (च) भी (भवति) होता है।

विशेषार्थ—अनादिकालसे यह जीव कर्मोंके संबंधसे अशुद्ध हो रहा है; जैसे खनिमें पड़ा हुआ सोना सदासे अशुद्ध ही रहता है। ऐसा नहीं है कि पहले सोना शुद्ध हो, पीछे अशुद्ध होता हो ; किंतु खानमें जबसे सोनारूप पर्याय उसने धारण की है, तभीसे वह अशुद्धिमें सना हुआ है। इसीप्रकार जीव भी संसारमें अशुद्ध ही सदा रहता है। यहां पर यह प्रश्न करना

---

१ "गदिआणुआउ उदओ सपदे".....॥ २८५ ॥ — गोम्मटसार, कर्मकांड

अर्थात् गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीनोंका उदय एक साथ होता है। जिससमय मनुष्यपर्यायका व्यय होता है, उसीसमय देवायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, इन तीनोंका उदय एक साथ प्रारम्भ हो जाता है। यही जीवका नूतन जन्म कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि " दो पदार्थोंका संबंध अनादिसे नहीं हो सकता, दोनों जुदेजुदे रहकर पीछे किसी निमित्तवश किसी काल-विशेषमें एक दूसरेमें मिल जाते हैं। कर्म पुद्गलकी पर्याय है, अतः वह स्वतन्त्र द्रव्य है; जीव भी स्वतन्त्र द्रव्य है, पीछे दोनों संबंधित होते हैं। जैसे घरके कोनेमें डंडा रक्खा हो, पुरुष उसे हाथमें लेकर चलने लगे तो डंडा और पुरुषका संबंध होता है। वह संबंध सादि है, अनादि नहीं। पहले पुरुष भी स्वतंत्र है और डंडा भी स्वतंत्र है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि डंडा और पुरुष दोनों अपने जन्मकालसे ही मिले हुए हों। इसी-प्रकार कर्म और जीव दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं। उनका भी संबंध अनादि नहीं है, किंतु सादि हैं ?" इस प्रश्नका उत्तर इसप्रकार है कि—इस जगत् में कुछ पदार्थ ऐसे भी पाये जाते हैं जो स्वतन्त्र होते हुए भी अनादि-कालसे सम्बन्ध किये हुये हैं। कुछ ऐसे भी पाये जाते हैं जो पहलेसे भिन्न-भिन्न हैं, पीछे मिले हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो मिलकर फिर अलग-अलग हो जाते हैं कुछ ऐसे भी हैं कि अनादिसे मिले हुए हैं और अनन्तकाल मिले ही रहेंगे। अलग-अलग कभी न तो हुए ही; और न होंगे ही। कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो अलग-अलग होकर फिर मिल जाते हैं; और कुछ ऐसे भी हैं जो एकबार अलग होकर फिर कभी नहीं मिल सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे न कभी मिले, और न कभी मिलेंगे। सुमेरुपर्वत, ज्योतिश्चक्रके विमान आदि अकृत्रिम पौद्गलिक ऐसे स्कंध हैं जो अनादि-कालसे मिले हुए हैं, तथा अनन्तकाल तक मिले रहेंगे; न कभी जुदे थे, न होंगे। सोना आदिक ऐसे पदार्थ हैं जो सदासे किट्टिकालिमादिक मलों से विशिष्ट रहते हैं; पीछे अग्निमें तपाने से उनका सम्बन्ध छूट जाता है—सोना जुदा हो जाता है, मल जुदा हो जाता है। कुछ पर्वतादिक पाषाण ऐसे हैं जो पहले जुदे-रूप मेंथे, पीछे एकत्रित स्कंधरूप हो गये। संसारी अभव्य जीव अनादिकालसे सदा अशुद्ध रहता है; और अनन्तकाल तक सदा वैसा ही रहेगा। अभव्यजीवका कर्म सम्बन्ध न तो कभी टूटा, और न कभी टूट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही सकता है। अभव्यत्वगुणके निमित्तसे उस आत्माका परिणाम सदा ऐसा ही रहता है कि जो संक्लेशभावको दूर कर सम्यक्त्व-प्राप्तिके योग्य होता ही नहीं। कुछ पुरुषोंको ऐसी आशंका हुआ करती है कि 'अभव्यको सम्यक्त्व–प्राप्तिका निमित्त क्यों नहीं मिलता, एवं उसके परिणाम किसी कालमें क्यों नहीं सीझते?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझना चाहिए कि यदि कर्मकी ही कोई तीव्रता एवं विचित्रता ऐसी होती जो कि आत्माकी सम्यक्त्व–प्राप्तिमें बाधक होती तब तो उपर्युक्त आशंका किसी प्रकार ठीक समझी जाती। कारण कर्मकी तीव्रता किसी निमित्तको पाकर किसी कालमें आत्मीय–पुरुषार्थसे मन्द होकर सम्यक्त्व–प्राप्तिमें बाधक नहीं रह सकती थी। परन्तु अभव्य की आत्मामें सम्यक्त्वप्राप्तिका बाधक अभव्यगुण है। वही अन्य भव्य आत्माओंसे इतनी विशेषता रखता है कि आत्मामें प्रथम गुणस्थान अथवा मिथ्यात्व – परिणामके सिवा दूसरे गुणस्थानके योग्य परिणाम ही नहीं होने देता। गुणोंका कार्य वस्तु स्वभाव है, कोई भी शक्ति उसमें कभी परिवर्तन नहीं कर सकती। जैसे जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति रहनेसे ही उन दोनोंमें विभावरूप परिणमन होता है। यदि आत्माकी उपादानशक्ति (वैभाविकी शक्ति) कारण न हो, तो कितने ही बाह्यनिमित्त क्यों न मिलते, आत्मा कभी अशुद्ध नहीं हो सकता था, और न पुद्गल ही अशुद्ध होता। जिसप्रकार आकाश, काल, धर्म, अधर्म, इन चारों द्रव्योंमें उपादानशक्ति (वैभाविकी शक्ति) न होनेसे कभी कोई विभाव–परिणाम नहीं होता–इसलिए बिना उपादानशक्तिके बाह्यनिमित्त कुछ नहीं कर सकते और जिस प्रकार एक विभावशक्तिने जीव और पुद्गलमें अशुद्धता उत्पन्न कर दी, उसीप्रकार अभव्यत्वशक्ति आत्माको कभी शुद्ध न होने दे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि भिन्नभिन्न शक्तियोंके भिन्नभिन्न कार्य होते हैं। जिस शक्तिका जो कार्य है; वह अनिवार है। इसलिए अभव्य आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकता। भव्यत्व और अभव्यत्वगुणके निमित्तसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही आत्माओंमें इतना बड़ा अन्तर पड़ गया है कि भव्य शुद्ध हो जाता है, अभव्य नहीं होता। बाकी अन्यान्य समस्त अनन्तगुण दोनोंप्रकारके आत्माओंमें समान हैं। अभव्य आत्मामें भी समस्त शक्तियां भव्य आत्मा के तुल्य हैं। जैसे केवलज्ञान-शक्ति, सम्यक्त्व-शक्ति, चारित्र–शक्ति ये शक्तियां भव्यमें रहती हैं, वैसे अभव्य में भी हैं। यदि अभव्यमें वैसी शक्तियां नहीं मानी जांय, तो उसके केवल ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मोंका उदय भी नहीं बनेगा। उन कर्मोंका उदय उन शक्तियोंकी व्यक्तिको ही रोकने वाला है, इसलिए उनके कर्मोंके मानने पर आच्छादित शक्तियां भी माननी ही पड़ती हैं। इसप्रकार अभव्यजीव अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है और अनन्तकाल तक बद्ध ही रहेगा। उसकी कर्मों से कभी मुक्ति नहीं हो सकती। यह अभव्यत्वशक्तिका ही महात्म्य है।

भव्य जीव भी अनादिकालसे बँधा हुआ है, परंतु काललब्धिके मिलने पर–कर्मोंका भार हल्का पड़ जानेपर–भव्यत्व–शक्तिका पक्व परिणमन होने पर वह सम्यक्त्वादिक निज–गुणोंका विकाश करता है, पीछे आत्मीय विशुद्धताके बढ़ जानेसे कर्मोंके उदयको अत्यन्त मन्द करता हुआ वही आत्मा अपने वीतराग–परिणामोंसे कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर सदाके लिए मुक्त हो जाता है। एकबार मुक्त होने पर वह फिर कभी कर्मोंसे बद्ध नहीं होता।

जो लोग आत्मा और कर्मको स्वतन्त्र बतलाते हुए उनका सादि–संबंध बतलाते हैं, उनसे पूंछना चाहिए कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चारों द्रव्योंका संयोग–संबंध सादि है या अनादि ? यदि सादि है तो उन्हें सक्रिय मानना पड़ेगा, क्योंकि बिना क्रियाके वे परस्पर मिल कैसे सकते हैं ? तथा बिना संबंधके पहले वे कहां किस रूपमें स्वतंत्र ठहरे थे, फिर किस निमित्त से मिले ? यदि अनादि है, तो मानना पड़ेगा कि स्वतन्त्र द्रव्य ऐसे भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, जिनका अनादि-संबंध होता है। जीवद्रव्य और कर्मद्रव्य यदि पहिले भिन्नभिन्न माने जांय, तो जीवको शुद्ध मानना पड़ेगा; क्योंकि अशुद्धता जीवमें कर्मों के निमित्तसे आती है, कर्मों के अभावमें वह शुद्ध रहता है, जैसे कि सिद्धपरमेष्ठी। यदि जीव पहले शुद्ध था, तो पीछे अशुद्ध कैसे हुआ? यदि 'बाह्य कारणके मिलनेसे अशुद्ध हुआ' ऐसा कहा जाय, तो बाह्य कारण तो सिद्धोंको भी मिले हुए हैं। वे क्यों नहीं अशुद्ध हो जाते, सूक्ष्म कर्माणवर्गणायें सिद्धोंके समीप भी हैं? यदि कहा जाय कि आत्माकी निजशक्तिका विभाव उसे अशुद्ध बनाता है तो वह विभाव शुद्ध जीवमें कबसे क्यों हुआ? बिना कर्मोंके सम्बन्ध हुए ही यदि विभाव हो गया, तो सिद्धोंके भी क्यों नहीं हो जाता? इन विकल्पोंसे यह बात सिद्ध होती है कि जीव और कर्मके सम्बन्धमें निमित्त-नैमित्तिकभाव एवं हेतु-हेतुमद्भाव है। इसीलिये जीवमें अनादिकालीन अशुद्धता सिद्ध होती है। डंडा और पुरुषका जो दृष्टांत सादि-सम्बन्धके लिए दिया गया है, वह विषम है। यहांपर खनिसे निकले हुए सोनेका दृष्टांत घटित करना चाहिए। पुद्गलोंमें कोई स्कंध परस्पर अनादिसे संबंधित हैं, जैसे कि अकृत्रिम पदार्थ। कोई सादि संबंध करते हैं, फिर भिन्नभिन्न हो जाते हैं; पीछे फिर मिल जाते हैं। उसका कारण उनमें रहनेवाले रूक्ष-स्निग्धादिक भाव हैं। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'जब जीवका कर्मके साथ अनादि-संबंध है, तो वह अनंतकाल तक ठहरेगा भी। ऐसी अवस्थामें जीवकी मुक्ति होना ही असंभव है।' ऐसा कहनेवाले पदार्थके विचार तक नहीं पहुंच सके हैं। जिन कारणोंके मिलने से आत्मा कर्मोंका भार धारण कर रहा है, उनके हटा देनेपर उसे मुक्ति होनेमें देर लगने का कोई कारण नहीं दीखता। ईंधनका बहुत बड़ा पुंज यदि अनेक वर्षों में इकट्ठा किया जाय, तो क्या उसके जलानेमें भी उतना ही काल आवश्यक है? जिस प्रकार दैदीप्यमान अग्नि समस्त संचित काष्ठको एक पलभर में ध्वंस कर देती है, उसीप्रकार आत्माके वीतराग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम—शुक्लाध्यानरूप अग्नि भी उन अनादिकालसे संचित कर्मों को क्षणभरमें नष्ट कर देती है।

जब तक जीव घातिया-कर्मों से लिप्त रहता है, तब तक उसके गुणोंका पूर्ण विकाश नहीं हो पाता, प्रतिपक्षी कर्मों के निमित्तसे आत्मीयगुण आच्छादित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, किंतु उनका विपरीत परिणमन भी होता है। आत्माके गुणोंका विपरीत परिणमन मोहनीयकर्मके निमित्तसे ही होता है; बाकी समस्त कर्म गुणोंको ढक लेते हैं, परंतु विपरीत परिणाम नहीं करते। जैसे, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके निमित्तसे ज्ञानगुण और दर्शनगुण की प्रकटता नहीं होगी। जैसे जैसे कर्मों की तीव्रता अथवा मंदता होगी, उसीके अनुसार उन गुणोंकी प्रगटता भी तरतमरूपसे मंद अथवा तीव्र होती रहेगी। इसीप्रकार अंतरायकर्म वीर्यादि गुणोंका विकाश नहीं होने देगा, परंतु उन्हें विपरीत स्वादवाला नहीं बनावेगा। मोहनीयकर्ममें सब कर्मों से यही विचित्रता और महा कठोरता है कि—वह अपने प्रतिपक्षी गुणों को तथा उनसे संबंध रखनेवाले गुणोंको भी विपरीत-स्वादु (उल्टा स्वाद वाला) बना देता है। आत्माके सम्यक्त्व-गुणका यह कार्य है कि वस्तुके स्वभाव-सिद्ध स्वरूप पर पहुँच कर उसीका यथार्थ श्रद्धान करना, एवं आत्मीय शुद्ध-स्वरूप वा स्वानुभूतिका अनुभव करना। यह आत्माका चतुर्थ गुणस्थानवर्ती परिणाम है, परंतु ज्योंही अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ अथवा मिथ्यात्वकर्मका उदय हुआ, त्योंही झट आत्मा अपने उस शुद्धस्वरूप वा परमानंदमय सुखस्वरूपसे च्युत होकर द्वितीय गुणस्थान अथवा प्रथम गुणस्थानवर्ती विभाव-परिणामोंका आस्वादी बन जाता है। उन मिथ्यात्वरूप विभाव परिणामोंके कारण आत्मा वस्तुको विपरीत स्वरूप वाला समझता है तथा वैसा ही श्रद्धान कर लेता है। मिथ्यात्वके प्रभावसे सम्यक्त्वका साथी सम्यग्ज्ञान भी अपने स्वरूपसे च्युत होकर मिथ्याज्ञान हो जाता है। वैसी अवस्थामें वह पदार्थों को विपरीतरूपसे ही ग्रहण करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—कर्मजनित भावोंको आत्मीय भाव मान बैठता है—रागादि भावोंको आत्मीय भाव समझता है—समीचीन उपदेशको विपरीत मानता है—विपरीतको ठीक मानता है—शरीरादिक एवं अन्यान्य सांसारिक वासनाओंमें रुचिपूर्वक मग्न हो जाता है—उनमें गाढ़ स्नेह करने लगता है। उसी तीव्र मोहवश बाह्यप्रवृत्ति भी धर्म विपरीत करने लगता है। यह सब वैभाविक भावोंका ही परिपाक है। वैभाविक भाव जीवके निज भाव हैं, परंतु कर्मके उदयसे होनेवाले भाव हैं, वे जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं। उन रागद्वेषादिक विभावभावोंका कर्ता जीव है तथा उनसे होनेवाले फलोंका भोक्ता भी जीव है। कषाय एवं अज्ञानवश जीव स्वयं उन विभावभावोंको उत्पन्न करता है, और उनसे होनेवाले परिणामोंका स्वयं भोगनेवाला है।

यहांपर यह भी समझ लेना चाहिये कि निश्चयनयसे आत्मा अपने ही शुद्धभावोंका कर्ता और भोक्ता है। परभावोंका वह न कर्ता है, न भोक्ता है। व्यवहारनयसे जीव राग द्वेषादिक परभावोंका भी कर्ता तथा भोक्ता है। रागद्वेषादिक वास्तव में परभाव हैं; कारण पर पुद्गलके निमित्तसे ही होनेवाले आत्माके विभावभावको परभाव कहते हैं। रागादिक, पर-निमित्तसे आत्माके ही विभावभाव हैं, इसीलिये उन्हें आत्मीय भाव कहा गया है।

पुरुषार्थसिद्धिका स्वरूप

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिससमय (सर्वे विवर्त्तोत्तीर्णं) समस्त वैभाविकभावोंसे उत्तीर्ण वा रहित होकर (सः) वह पुरुष (अचलं) निष्कंप (चैतन्यं) चैतन्यस्वरूपको (आप्नोति) प्राप्त होता है. (तदा) उससमय (सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिं) समीचीन पुरुषार्थसिद्धि—पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिको (आपन्नः 'सन्') पाता हुआ (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवति) हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जबतक आत्मामें सकंपता वा चलायमानता रहती है, तबतक वह कर्म का आकर्षण करता रहता है, उस सकंपताका कारण योग[1] है, दशवें गुणस्थान तक आत्मामें सकषाय योग रहता है, वहांतक आत्मा कर्मोंको खींचता भी है और बंध भी करता है। दशवें गुणस्थान में कषाय भाव अत्यंत मंद है, केवल सूक्ष्मलोभका उदय है, सो भी अंतर्मुहूर्त मात्रकी स्थिति लेकर उदय में आता है; इसलिये उसकेद्वारा जो कर्मबंध होता है उसकी स्थिति भी अंतर्मुहूर्त मात्र पड़ती है। इसीलिये उपशम-श्रेणी मानड़ेवाले जीवके दशवें गुणस्थान से ग्यारहवाँ गुणस्थान होता है। जिन उपशांत परिणामोंसे वह कषायोंका उपशम करता है, अंतर्मुहूर्तमात्र में उनमें कषाय-निषेकोंका उदय होने से सकषायता आ जाती है। उस अवस्थामें जीव तत्काल वहांसे गिर जाता है और दशवें नवमें आदि नीचेके [2]गुणस्थानोंमें आ जाता है। क्षपकश्रेणी माडने-वाले जीवके दशवेंसे एकदम बारहवां गुणस्थान होता है, वह विशुद्धतम परिणामोंसे कर्मों का क्षय करता जाताहै। कषायभावोंका उदय केवल दशवें गुणस्थान तक ही जीवके रहता है, आगे नहीं। परन्तु आगेके तीन गुण-स्थानोंमें—ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें (उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोग-केवली) इन तीन गुणोंस्थानोंमें —योग तो रहता है और इसीलिये इन गुण-

---

१ पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥— गोम्मटसार, जीवकांड

अर्थात् – आत्माकी निज-शक्तिका नाम योग है। वह शक्ति सिद्धोंमें भी है, परन्तु कोई भी शक्ति जब-तक वाह्य-निमित्तको नहीं पाती, तब तक वह विभाव-परिणाम नहीं धारण करती है योगशक्तिको वाह्य-मनोवर्गणा अथवा वचनवर्गणा अथवा कायवर्गणाका जब अवलम्ब मिलता है, और पुद्गलविपाकी नामा नामकर्म तथा अंगोपांग नामकर्मका आत्मामें उदय होता है, उससमय उस योगशक्तिमें विभाव-परिणमव होता है, उसीसमय आत्मामें सकम्पता होकर कर्मोंका ग्रहण होने लगता है। जिससमय योगशक्ति मनो-वर्गणाका अवलम्बन कर कर्म नोकर्मको ग्रहण करती है, उससमय उसे "मनोयोग" कहते हैं. वचनवर्गणाके अवलम्बन करने पर "वचनयोग" और कायवर्गणाके अवलम्बन करने पर काययोग कहते हैं

२ ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करने पर एकदम चतुर्थ गुणस्थान हो जाता है, विना मरणके दशवें आदि गुणस्थान क्रम से प्राप्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानोंमें भी जीव कर्मों का आकर्षण करता है, क्योंकि सयोगकेवली तक आत्मा योगोंके निमित्तसे सकंप रहता है; परन्तु उनमें कषायका उदय न रहनेसे कर्मों का बंध नहीं होता। जो कर्म योग–द्वारा आते हैं, वे आत्मामें ठहरते नहीं। ठहरानेवाला कषायभाव है, वह वहां उदित नहीं है; इसलिये जिस क्षणमें कर्म आते हैं, उसी क्षणमें आत्मासे निकल कर कर्म–पर्याय छोड़ देते हैं। वहांपर कर्मों के आनेका, आत्मासे उनका सम्बन्ध होनेका और आत्मासे उनके निकल जानेका एक ही समय है। सयोगकेवली गुण-स्थानमें, जहां आत्मा परमपूज्य सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है, वहां भी सकंपता-वश कर्म ग्रहण करता है। यद्यपि वह कर्म–ग्रहण आत्माके गुणोंका घात नहीं करता, फिर भी आत्माकी योग शक्तिके स्वभाव–परिणामनको रोकता है। इसलिये जिससमय आत्मा अचल चैतन्यको पा लेता है, अर्थात् जब आत्मा में योगजनित चलायमानता नहीं रहती है, उसीसमय आत्मा अयोग–केबली–गुणस्थानको पाकर वहां परमोत्कृष्ट शुक्लध्यान (व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान) द्वारा समस्त अघातिया–प्रकृतियोंका नाश करके लोकशिखर पर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है।

यही अवस्था 'मोक्ष' कहलाती है। समस्त कर्मबन्धनसे छूटनेका नाम ही मोक्ष है। मोक्ष गये हुये जीवोंका फिर कभी संसारमें लौटना नहीं होता। वहां न जन्महै,न मरण है, न बुढ़ापा है, न भय है, न रोग है, न शोक है, न दुःख है। आत्मा सदा अनन्तज्ञान-सुख-वीर्य-दर्शनधारी शुद्धा-वस्थामें विराजमान रहता है। उसे कभी कोई विकार नहीं होता। आत्मा उस अवस्थामें कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् संसारमें पुद्गलके निमित्तसे सांसारिक सुख दुःख एवं उनकी उत्पादिका क्रियाओंका कर्ता और भोक्ता बन रहा था। कर्मोदयवश जैसे जैसे भावोंका उपार्जन करता था एवं जैसे जैसे कर्तव्य करता था, उन्हींके अनुसार होनेवाले फलोंको भी भोगता था,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चारों गतियोंमें जिसगतिके योग्य कार्य करता था उसी गतिमें वह उपार्जित कर्मोंके उदयसे पहुंच कर फल भोगता था। इस जीवको कोई दूसरा सुख दुःख देनेवाला नहीं है; जब कोई मनुष्य बीमार पड़ता है, तब घरवाले अनेक उपचार करते हैं, रातदिन सेवा में लगे रहते हैं, अत्यन्त प्रिय रोगीके बदलेमें स्वयं मरने तकके लिए तैयार होते हैं, परन्तु रोगीके दुःखको कोई रत्तीभर भी नहीं बटा सकता। उस जीवने तीव्र या मध्यम या मंद जैसे कर्म किये हैं, उनके अनुसार उसे फल भोगना ही पड़ेगा। जो लोग यह कहते हैं कि 'परमात्मा जैसा करता है, वैसा होता है; वही हरएक जीवको सुखदुःख का फल देता है।' ऐसा कहनेवाले परमात्माके स्वरूपकी विडम्बना करते है; परमात्माका स्वरूप वीतराग है, अशरीर है, निरीच्छ है, वह किसीका कर्ताहर्ता हो नहीं सकता। जिसके कार्य करनेकी इच्छा हो, शरीर हो, सरागी हो, वही किसी कार्यको कर सकता है; विना शरीरके किसीने संसारमें कोई कार्य आजतक किया नहीं, कर भी नहीं सकता। जो बात असंभव है, वह कभी किसीके द्वारा साध्य-कोटिमें आ नहीं सकती। यदि परमात्मा ही जगत्का कर्ताहर्ता हो तो फिर जगत्में किसी प्रकारका कोई अन्याय, अत्याचार एवं अनर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ है, वह सबोंके भावोंको पहचानता है। वह जानता है कि कौन क्या कर रहा है अथवा करनेवाला है, वह सर्वशक्तिमान भी है, इसलिपे पापियोंको बुरे कामोंसे रोक सकता है। ऐसी अवस्थामें व्यभिचारी, चोर, बेईमान, हिंसक आदि अधर्मी पुरुषोंकी सृष्टि नहीं होनी चाहिये। परन्तु देखनेमें आता है कि कहीं वेश्यायें पापकर्म कर रही हैं, कहीं चोरियां हो रही हैं, कहीं शराबी शराब पी रहे हैं। सर्वज्ञ और शक्तिशाली ईश्वर उन्हें रोक क्यों नहीं सकता ? यदि कहा जाय वे अपने किये हुये कर्मोंके अनुसार वैसे वैसे कार्योंमें लगे हुये हैं' तो फिर ईश्वर करता ही क्या है ? उसका नाम क्यों बदनाम किया जाता है ? जो जैसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है वैसा फल कर्मानुसार उसे मिल जाता है। कर्तावादी ईश्वरको दयालु भी बताते हैं। जो दयालु होता है वह समर्थ होने पर दुःखी जीवों के दुःखको दूर कर सकता है, परन्तु आज दुनियांमें अनेकों अंधे, भिखारी, लूले, लंगड़े, दीनहीन दुःख पा रहे हैं। क्यों नहीं ईश्वर उनपर दया करता ? क्यों दुष्काल पड़ते हैं ? क्यों असमयमें वर्षा होती है ? क्यों अग्नियां लग जाती हैं ? क्यों दुनियां महामारी, प्लेग, हैजा, एन्फ्लूएंजा आदि भयंकर रोगोंका ग्रास बनती चली जाती है ? क्या समर्थ और सर्वज्ञ ईश्वर इन सब बातोंका कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता ? जब कि एक छोटासा राजा अपनी शक्तिके अनुसार अनेक कष्टोंको दूर करनेवाले सुप्रबन्ध कर डालता है, तो ईश्वरकी शक्ति तो अपार है, सब कुछ सुधार कर सकता है। फिर क्या बात है कि सभी जीव मनचाहा काम करते हैं, सभी परिणमन प्रकृतिके अनुसार होते हैं, ईश्वर-द्वारा कभी कोई सुधार देखने-सुननेमें नहीं आता ? ईश्वरवादी इन बातोंका कुछ भी संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते। वास्तवमें न कोई ईश्वर ऐसा होता है जो अनादि से शुद्धबुद्ध हो, सभी अनादिसे अशुद्ध होते हैं, पीछे मुक्तिलाभ करते हैं। जगत् अनादिसे अनन्तकाल तक सदा अपने स्वरूपमें रहता है, न उसकी रचना होती है और न प्रलय ही होता है। सभी पदार्थ प्राकृतिक नियमके अनुसार परिणमन करते रहते हैं प्राकृतिक नियमसे ही नदीके पत्थर गोल हो जाते हैं, उसीसे परमाणुओंका परिणमन होकर जल बरस जाता है, घास पैदा हो जाती है, जल स्थल हो जाता है, स्थल जल हो जाता है। पुद्गलमें अचिंत्य शक्ति है; उसमें स्वयं क्रिया होती है। संसारमें कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो चेतनकर्ता द्वारा बनाये जाते हैं, कुछ ऐसे हैं जो अपने कारणों-द्वारा स्वयं बनते और बिगड़ते हैं। ऐसा न तो कोई ईश्वर है जो जगत्को बनाता और बिगाड़ता हो, और न जगत्का ही यह स्वरूप है कि वह रचाजाता और उसका प्रलय किया जाता हो। जीव भी सभी अपने कर्मों के अनुसार फल भोगते हैं, जबतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके कर्मोदय रहता है, तबतक उनके इच्छायें उत्पन्न होती हैं; उन्हींके आधारपर वे भले-बुरे कार्योंसे रत होते हैं। कर्मोदयके नष्ट हो जानेपर आत्मा शुद्ध हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है; अर्थात् वीतराग अवस्था के प्रकट होनेपर उसे कोई कार्य करना बाकी नहीं रहता, वह निज स्वरूपमें तल्लीन होकर सदा आत्मीय सुखका अनुभव करता रहता है। आत्माकी उसी अवस्थाको "पुरुषार्थसिद्धि"—'पुरुष'–आत्माके, 'अर्थ'–प्रयोजन–मोक्षकी, 'सिद्धि'–प्राप्ति कहते हैं।

जीव और कर्ममें निमित्त-नैमित्तिकभाव

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवकृतं) जीवद्वारा कियेगये (परिणामं) रागद्वेषादिक विभाव-भावका (निमित्तमात्रं) निमित्तमात्र (प्रपद्य) पाकर (पुनः अन्य पुद्गलाः) जीवसे भिन्न जो पुद्गल हैं वे (अत्र) इस आत्मामें (स्वयमेव) अपने आप ही (कर्मभावेन) कर्मरूपसे (परिणमंते) परिणमन करते हैं। अर्थात् पुद्गलद्रव्यकी ही कर्मपर्याय होती है जीवके विभाव भाव उसमें निमित्तमात्र पड़ते हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें यह बात स्पष्ट की गई है, कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन होने पर भी जीवमें पुद्गलद्रव्य कारण नहीं है, और न पुद्गलमें जीवद्रव्य ही कारण है। दोनों ही भिन्नभिन्न स्वतंत्रद्रव्य हैं। कर्मरूप पर्याय पुद्गलद्रव्यकी है, तथा जीवके विभावभाव जीवद्रव्यके हैं। कर्मरूप पर्यायमें जीवके परिणाम केवल निमित्तमात्र हैं; और जीवके विभावभावोंमें पुद्गलद्रव्य निमित्तमात्र है। निमित्तमात्र कहनेका यही प्रयोजन है कि 'जीव और कर्मका घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे पुद्गलके कुछ गुण जीवमें चले जाते हों अथवा जीवके कुछ गुण पुद्गलमें आजाते हों'–ऐसा कोई न समझ लेवे। कितना ही घनिष्ट सम्बन्ध क्यों न हो जाय, एकद्रव्यका दूसरे द्रव्य-रूप परिणमन कभी किसी अंशरूपमें भी नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त द्रव्य अपने अपने उपादानकारणोंको लेकर परिणमन करते रहते हैं। हां, इतना अवश्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमनमें निमित्त भूत पड़ जाता है। निमित्तके साथ 'मात्र'पद देनेका यही प्रयोजन है, कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमनमें अंशांशमात्र भी उपादानरूपसे कारण नहीं हो सकता, केवल भिन्नस्वभाव रखकर ही परिणमनसे साधक हो जाता है।

आत्मामें कर्म-रूप पर्याय पुद्गलकी पर्याय है। कर्मपर्याय समस्त पुद्गलस्कन्धोंसे नहीं बनती, और न हर-किसी पुद्गलस्कंधको आत्मा आकर्षण ही करता है, किंतु कार्माणवर्गणासे कर्मपर्यायकी रचना होती है। इसका सारांश इसप्रकार है कि-पुद्गल-द्रव्यकी तेईस प्रकारकी वर्गणाएँ हैं, उनमें पांच प्रकारकी वर्गणाएँ ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्बन्ध है, बाकी १८ प्रकारकी वर्गणाओंसे जीवका कोई प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। पांच प्रकारकी वर्गणाओंमें-आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा, इन चार प्रकार की वर्गणाओंसे नोकर्म बनते हैं, और कार्माणवर्गणाओंसे आठ प्रकारके कर्म बनते हैं। आहार वर्गणासे औदारिक, वैक्रियक और आहारक, इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। भाषावर्गणासे भाषा अर्थात् [१]शब्दरूप रचना होती है, मनोवर्गणासे द्रव्य-मन बनता है

१. शब्दको नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि अमूर्त एवं आकाशका गुण मानते हैं, परन्तु वास्तवमें शब्द पुद्गलकी पर्याय होनेसे मूर्त है। उसे आकाशका गुण एवं अमूर्त कहना भूल है। शब्दमूर्त इसलिए है कि वह मूर्तिमान् पदार्थोंसे रोका जाता है—घाता जाता है। शब्द भित्तिसे रुक जाता है, गगनभेदी शब्द कानकी झिल्लियोंको फाड़ देता है। ये सब कार्य मूर्तपदार्थमें ही हो सकते हैं, अमूर्तमें कभी नहीं हो सकते दूसरे, शब्दका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी होता है अर्थात् वह कर्ण-इन्द्रियसे जाना जाता है। और जिसका इन्द्रियप्रत्यक्ष है, वह मूर्त होता है। जैसे कि आंख-नाक-मुंहसे होनेवाले प्रत्यक्षभूत पदार्थ सभी मूर्त होते हैं। तीसरे, शब्दका स्पर्श होता है, इसलिये उसमें रूपरस-गन्ध भी अवश्य है। और जिनपदार्थोंका स्पर्श होता है, उन सबमें रूप-रस-गन्ध अवश्य रहते हैं, जैसे कि पुस्तक, कपड़ा, चौकी आदि। शब्द 'टेलीफोन' (एक प्रकारका श्रवण-यंत्र) द्वारा इधरसे उधर पहुँचाया जाता है, 'फोनोग्राफ' (एक तरहका वाद्ययन्त्र) में भर दिया जाता है, इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भलीभांति सिद्ध होता है कि वह 'मूर्त' है। शरीरधारी आत्मा जो शब्दोच्चारण करता है, वह भाषावर्गणाका कार्य है। जो भाषा वर्गणाएँ आत्माने नोकर्मरूपसे ग्रहण की थी, वे ही उदयमें आकर वचनरूपसे खिरती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और तेजसवर्गणासे तेजस शरीर बनता है। इन वर्गणाओंसे बननेवाली पर्यायोंको नोकर्म इसलिए कहा गया है कि वे आत्माके गुणोंका साक्षात् घात नहीं करती हैं, किन्तु उन गुणोंके घात होनेमें कर्मों की सहायता करती हैं। इसीलिये उन्हें नोकर्म अर्थात् ईषत्कर्म (थोड़ा)-रूप संज्ञा दी गई है। कार्माण वर्गणाओंकी कर्म-पर्याय होती है; वह किसप्रकार बनती है, उसका खुलासा इसप्रकार है—

संसारमें सर्वत्र सूक्ष्म कार्माण-वर्गणाएँ और नो-कार्माणवर्गणाएँ भरी हुयीं हैं। जिससमय जीव मनोयोग काययोग अथवा वचनयोगकी प्रवृत्तिसे चंचलित होता है, उस समय आत्माके प्रदेश सकम्प होने लगते हैं। आत्माकी वह सकम्प अवस्था ही उन सूक्ष्म वर्गणाओंको खींचनेमें समर्थ होती है। जिस समय आत्मा अपने तीनों योगोंमें योग्यतानुसार, जिस किसी योग-द्वारा भी, वर्गणाओंका आकर्षण करता है, उससमय सकषाय-रूप परिणाम उन वर्गणाओंमें आत्मीयगुणोंके घात करनेकी योग्यता उत्पन्न कर देते हैं। जिससमय आत्मा योग–द्वारा वर्गणाओंको खींचकर अपनेसे सम्बन्ध करता है, उसी समय उन वर्गणाओंकी वर्गणारूप पर्याय नष्ट होकर कर्मरूप पर्याय हो जाती है। कर्मपर्याय होनेमें जीवके रागद्वेषादिक भाव निमित्त-कारण पड़ जाते हैं; परंतु कर्मपर्याय पुद्गलद्रव्यकी ही पर्याय है, वह कर्म रूप परिणामके धारण करनेपर भी रूप-रस-गंध-स्पर्शरूप जड़ताको नहीं छोड़ सकती। जिन कर्मोंका आत्मा सम्बन्ध कर लेता है, वे ही आबाधाकाल के पीछे उदयमें आने लगते हैं, और उन्हींके उदयसे आत्माके विभाव-भाव रागद्वेषादिक होते हैं। जो कार्माण-वर्गणाएँ कर्मरूप पर्यायको धारण करनेवाली हैं, उनकी 'द्रव्यबंध' संज्ञा है। पुद्गलपिंडको 'द्रव्य' कहते हैं, और उसमें बँधनेको 'बंध'। आत्मामें बंधनेकी शक्ति केवल कार्माण एवं नोकार्माणवर्गणाओंमें ही है, पुद्गलकी पर्यायोंमें नहीं है। जैसे चुम्बक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्थरमें लोहेको खींचने की शक्ति है—और किसी धातुके खींचने की शक्ति उसमें नहीं है, उसीप्रकार लोहेमें चुम्बक-द्वारा खींचेजानेकी शक्ति है। इसलिए कार्माण तथा नोकर्माणवर्गणाओंमें जो आत्मामें बंधनेकी योग्यता है, उसे ही 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं। आत्माके जिन रागद्वेषादि परिणामों की निमित्ततासे वे वर्गणाएं आत्मासे सम्बन्ध पाकर कर्म-पर्याय एवं नोकर्म-पर्याय धारण करती हैं, उन परिणामोंको 'भावकर्म' कहते हैं। उन्हींका दूसरा नाम चेतनकर्म है। भावकर्मके निमित्तसे ही कर्मपर्यायमें फलदान-शक्तिका पाक होता है। जिससमय कर्म बंधते हैं, उसीसमयसे लेकर उनमें पाक होना प्रारम्भ हो जाता है; फिर [1]आबाधाकालको छोड़कर वे कर्म उदय में आने लगते हैं।

उन्हीं उदयमें आयेहुए कर्मोंके निमित्तसे भावकर्म (रागद्वेषरूप आत्माका वैभाविकभाव) उत्पन्न होता है; पुनः उस भावकर्मके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बंध होता है एवं उननवीन बंधे हुए कर्मोंके उदयसे नवीन भावकर्मकी उत्पत्ति होती है। यही भावकर्म और द्रव्यकर्मकी शृंखला संसारी जीवमें तबतक बराबर लगी रहती है, जबतक कि जीवके कर्मोंका उदय मंद होता-होता निःशेष नहीं हो जाता एवं भावकर्मोंका अभाव नहीं हो जाता। भावकर्मके निमित्तसे द्रव्यकर्मका जो आत्माके साथ एकमएक होना है, अर्थात् आत्माके प्रदेश एवं कर्मप्रदेश इन दोनोंका जो एकक्षेत्रावगाही

---

१. जितने समय तक कर्म उदयमें नहीं आता है, उतने कालको आबाधाकाल कहते हैं। हर-एक कर्मके बंधने पर उसके पाकके लिए कुछ आबाधाकाल (व्यवधान-समय) अवश्य लगता है। जिस कर्मकी स्थिति एक सागर-प्रमाण होती है, उस कर्मकी आबाधा १ वर्षकी पड़ती है। सबसे जघन्य स्थितिवाले कर्मों का आबाधाका समय एक अवलावलि-प्रमाण है। अर्थात् आत्मासे कोई भी कर्म क्यों न संबंध करे, एक अचलावलिसे पहले तो वह उदयमें आ ही नहीं सकता। इसप्रकारकी आबाधा वहींपर पड़ती है, जहां कि कषायभावोंसे आत्मा कर्मबन्ध करता है। जहां कषायभाव नहीं है, केवल योगोंसे कर्म आते हैं, वहां कर्म आते हैं, वहां कर्म आत्मामें ठहरते नहीं है—इधरसे आते हैं, उधरसे निकलते जाते हैं, केवल आत्माको स्पर्शमात्र करते जाते हैं। वहांपर आबाधा नहीं है। जहां कर्मोंका पाक होता है, वहीं अबाधाकालकी आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना है। वही 'उभयबंध' कहलाता है। इस उभयबंधमें आत्मा और कर्म दोनों ही उपादानकारण हैं तथा निमित्तकारण आत्माके विभाव हैं। इस-प्रकार पुद्गल-वर्गणाओंमें कर्मपर्याय स्वयं होती है; जीवकृत परिणाम उनमें केवल निमित्तमात्र पड़ते हैं; अर्थात् स्वभाव अथवा विभाव,दोनों-रूप परिणमन वस्तुके स्व-स्वरूपमें ही होते हैं। परस्वरूप-रूप कोई परिणमन तीनकालमें नहीं हो सकता; हां, केवल निमित्तकारणों को पाकर एक दूसरों पर प्रभावक अवश्य होते हैं।

कर्म और जीवमें निमित्त-नैमित्तिकभाव

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (स्वकैः) अपने (चिदात्मकैः) चैतन्यस्वरूप (भावैः) भावोंसेरागादि परिणामोंसे (स्वयं अपि) अपने आप ही (परिणममानस्य) परिण-मन करनेवाले (तस्य) उस (चितः अपि) जीवके भी (पौद्गलिकं कर्म) पुद्गलके विकार-रूप कर्म (निमित्तमात्रं) निमित्तकरण मात्र (भवति) होते हैं।

विशेषार्थ—जीव रागादिक भावोंको धारण करता है। रागादि भाव जीव के ही अशुद्ध भाव हैं। चारित्रगुणकी अशुद्ध पर्याय (विभाव पर्याय)—को ही रागादि कहते हैं; यह जीवका ही परिणाम है, परंतु पुद्गल-कर्म उसमें निमित्तमात्र पड़ा हुआ है। बिना निमित्तके जीवकी रागद्वेष-रूप अशुद्ध पर्याय हो नहीं सकती, परंतु निमित्त पड़नेमात्रसे वह पुद्गलकृत भाव नहीं कहा जा सकता, किंतु जीवकृत भाव ही कहलायेगा। 'पुद्गलके निमित्तसे आत्मा अशुद्ध कैसे हो सकता है ? पुद्गल जड़ है, आत्मा चेतन है; चेतन पर जड़ कर्मका असर कैसे पड़ सकता है ?' इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—यद्यपि पुद्गलकर्म जड़ है, फिर भी आत्माके साथ उसका अतिघनिष्ट संबंध होनेसे आत्मा पर उसका असर पड़ता है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मादकपदार्थोंके सेवनसे आत्माका ज्ञान मूर्छित हो जाता है—मदिरा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि मद करनेवाले पदार्थोंका सेवन करनेसे पुरुष मूर्छित हो जाता है। यदि जड़में आत्मा पर असर डालनेकी शक्ति न होती, तो मद-कारक पदार्थों से ज्ञान मूर्छित क्यों हो जाता ? इसीप्रकार—बादाम, पिस्ता, घी, दूध, मलाई, फल आदि बलकारक एवं पौष्टिक पदार्थोंके सेवन करनेसे आत्माका ज्ञान-गुण विकसित होता है, बासा पकवान दहीके साथ खानेसे बुद्धि मंद होती है। इन सब बातोंसे यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि जड़का आत्मापर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह तो बाह्य जड़ पदार्थोंके संबंधका दृष्टांत है। जो सूक्ष्म कर्म-परमाणु आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाही हो रहे हैं अर्थात् नीरक्षीरके समान जड़ और चेतनके प्रदेश एकम-एक हो रहे हैं, उन परमाणुओं-द्वारा आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणोंका घात होता है। जो आत्मीय गुणोंका घात करनेवाले स्पर्धक हैं, उन्हें 'घातिया-कर्म' कहते हैं। इन घातिया-कर्मोंमें भी चारप्रकारसे घात करनेकी भिन्न भिन्न शक्तियां हैं। कुछ कर्मपुंज ऐसा है, जो शैल (पर्वत) के समान कठोर है, वह अपने प्रतिपक्षी गुणको सम्पूर्णतासे घात करता है; ऐसे कर्मपुंजको 'सर्वघाति-स्पर्धक' कहते हैं। कुछ कर्मपुंज ऐसा है जो ऊपर कहे हुए कर्मपुंजसे कम दर्जेकी घातशक्ति रखता है, उसे अस्थिके समान कहा गया है। यह भाग भी सर्व-घाति है—आत्माके गुणका सर्वघात करता है। तीसरा कर्मपुंज ऐसा है जो काष्ठके समान कठोरता लिएहुए है। काष्ठ यद्यपि शैल और अस्थिसे कम कड़ा है, मोड़नेसे मुड़ भी जाता है, इसलिए यह सर्वघाती होनेपर भी पहले दो भागोंसे हलका है। इसी तीसरे भागके बहुभाग परमाणु सर्वघाति हैं, एक-भाग देशघाती है; अर्थात् दारू (काष्ठविशेष) के समान कर्म-परमाणुओं-के अनंतवें भाग ऐसे भी परमाणु हैं जो आत्माके गुणोंका एकदेश घात करते हैं, वे उनका सर्वघात नहीं करते। चौथा कर्मपुंज ऐसा है जो लताके समान कोमल है। जैसे लता अति कोमल होती है, उसीप्रकार जो कर्म उसीके समान कोमल रसशक्ति लियेहुए हैं, उनसे आत्माके गुणोंका एक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश ही घात होता है। इसलिये इसप्रकारके शक्तिवाले कर्मोंको 'देशघाति प्रकृतियों'के नामसे पुकारा जाता है। इसप्रकार जैसी जैसी कषायभावों की तीव्रता या मंदता होती है, वैसी वैसी कर्मोंकी फलदानशक्तिमें तरतमता होती है; और जैसा जैसा कर्मोंका उदय आता है, वैसा वैसा विभावभाव आत्मामें उत्पन्न होता है। यही कर्म और जीवमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

इस संबंधको दूसरे दृष्टांतद्वारा भी बतलाते हैं—जैसे 'फोटोग्राफर' (तस्वीर वा प्रतिबिंब उतारनेवाला) 'फोटो' (तस्वीर वा प्रतिबिंब) लेते समय एक ऐसा 'कैमरा' (तस्वीर उतारनेका यंत्र) सामने रखता है जिसके कांचमें ज्योंकी-त्यों छवि आनेकी योग्यता रहती है। जिसप्रकारकी चेष्टा अथवा व्यापार फोटो उतरवानेवाले पुरुषका उससमय होता है, फोटोवाले कांचमें वह ज्योंका-त्यों अंकित हो जाता है। यह गुण उस कांचमें लगे हुए मसालेका है। यदि उस कांचसे वह मसाला दूर कर दिया जाय, तो फिर उस निर्मल कांचमें यह शक्ति नहीं रहती कि वह सामने बैठे हुए पुरुषके आकार एवं चेष्टाको अंकित कर सके। इसीप्रकार आत्माके जिससमय जैसे जैसे मन-वचन कायके व्यापारसे शुभ-अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, आनेवाले कर्मोंमें उससमय वैसा वैसा ही फलदानशक्तिके रसका तारतम्य अंकित हो जाता है। जिससमय कोई पुरुष किसीको मारनेके परिणाम करता है, उससमय उन आनेवाले कर्मोंमें उसी जातिका रस पड़ता है; जिससे कि उन कर्मोंके उदय आनेपर उसे उसी जातिका फल मिलता है। अर्थात् किसीका भाव यह हो कि 'मैं अमुक पुरुषको मारूं', तो उससमय जो कर्म उस आत्मामें बँध रहा है, उसमें वही रसशक्ति पड़ चुकी है कि उस कर्मके उदयमें वह भी दूसरेसे मारा जायगा। जो दूसरेको सताता है, वह दूसरों-द्वारा सताया जाता है और जो दूसरोंकी भलाई करता है, वह दूसरों-द्वारा भलाई पाता है। इसका तत्त्व ढूंढनेसे यही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मसिद्धांतका रहस्य मिलता है कि जो जैसा भाव करता है, उस भावका असर उसके कर्मपर वैसा ही पड़ता है। इसलिये फलकाल प्राप्त होने पर उस व्यक्तिको अपने कर्तव्यके अनुसार फल भोगना पड़ता है। कर्मोंमें ऐसी रसशक्ति क्यों पड़ती है? इसका कारण आत्मा पर लगा हुआ कषायभाव रूपी मसाला है। जबतक वह मसाला आत्मारूपी कांच पर लिपटा हुआ है, तबतक उसके कर्तव्य-द्वारा संचित किये गये कर्मों पर उसका वैसा असर पड़ता है, जिससमय वह कषायरूपी मसाला आत्मा रूपी कांचसे दूर हो जाता है, उससमय आत्माका कर्मों पर कोई असर नहीं पड़ता और न कर्मोंका ही आत्मा पर कोई असर पड़ता है। उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि जीव और कर्मका परस्पर ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है कि जिससे एकका दूसरे पर प्रभाव पड़ताहुआ है। जिसकी शक्ति प्रबल होती है, वही अपने बलसे दूसरे पर आक्रमण कर उसे नष्ट करनेका प्रयास करता है। इसीलिये कभी आत्मा पर कर्म की विजय होती है, और कर्मभार हलका होने पर कभी आत्माकी कर्म पर विजय होती है। ऐसी संतति तबतक चलती रहती है, जबतक कि आत्मा अपने स्वभावसिद्ध पुरुषार्थबलसे उस परवस्तु-कर्मको अपनेसे जुदा नहीं कर देता।

अज्ञानी जीवोंकी समझ

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (अयं) यह जीव (कर्मकृतैः) कर्मकृत रागादिक एवं शरीरादिक (भावैः) भावोंसे (असमाहितः अपि) सहित नहीं है तो भी (बालिशानां) अज्ञानियोंको (युक्त इव) 'उन भावोंसे' सहित सरीखा (प्रतिभाति) मालूम होता है, (सः) वह (प्रतिभासः) प्रतिभास-समझ वा प्रतीत (खलु) निश्चयसे (भवबीजं) संसारका कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जीवके रागाद्वेषादिक भाव वास्तवमें शुद्धभाव नहीं हैं; पर-निमित्तसे होनेवाले भाव हैं। उपचरित सद्भूतव्यहारनयसे उन्हें जीवके भाव कहा जाता हैं; कारण वे जीवकी ही अशुद्ध पर्याय हैं, पुद्गलकी नहीं हैं, पुद्गलके निमित्तसे होती हैं। शुद्धदृष्टिसे जीव न रागी है, और न द्वेषी है—वीतरागी है। इसीप्रकार शरीरादिकसे भी वह पृथक है, पुत्र-मित्र-स्त्री बहन-भाई-पिता-माता आदि कुटुम्बियोंसे एवं धन-धान्यादि बाह्यपदार्थोंसे सर्वदा जुदा ही है। ऐसी अवस्थामें, समस्त वैभाविकभाव और परपदार्थोंसे जुदा होनेपर भी, मोही जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) समझता है कि रागद्वेषादिक जीवसे जुदे नहीं हैं, वे जीवके ही निजी भाव हैं। वह शरीर तथा कुटुम्बियोंको भी अपना ही समझता है। यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे ज्ञानी जीव भी रागद्वेषादिकको जीवकृत भाव कहता ही है एवं शरीरादिकको अपना बतलाता ही है, परन्तु वह वास्तवमें जुदा ही समझता है। उसके श्रद्धानमें यह दृढ़ विश्वास है कि ये सब विकृतभाव जीवके निजभाव नहीं हैं—जीवके निजभाव शुद्धज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-चारित्र आदि हैं। जीव अमूर्त आकाशके समान निर्मल है, ये सब परकृत भाव हैं। मिथ्यादृष्टि वैसा नहीं समझता, उसका यह श्रद्धान है कि 'वास्तवमें ही जीवके ये भाव हैं। और ग्यारहवां, बारहवां और तेरहवां, चौदहवां, ये गुणस्थान आत्माके ही निजधर्म हैं; आत्मा इन गुणस्थानस्वरूप ही है' आदि। परन्तु शुद्ध दृष्टिसे यह सब विचार अज्ञान है। कारण आत्माके न ग्यारहवां गुणस्थान है और न बारहवां, न वह अर्हंत और न मुक्त, न उसके संसार है और न मोक्ष। ग्यारहवां, बारहवां और तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान आदिक भी कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम-जनित जीवके भाव हैं। अन्यथा अर्हंत तीर्थंकर कैसे कहे जाते हैं; तीर्थंकरप्रकृतिके उदयसे ही तो तीर्थंकर कहे जाते हैं। इसलिये वह तीर्थंकरकर्मोदयजनित जीवकी अवस्था है। उसे जीवका निजभाव नहीं समझना चाहिए। यदि वह जीवका निजभाव होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो सिद्धोंमें भी पाया जाता, परन्तु अज्ञानी जीव तीर्थंकर पर्यायको जीवकी निज पर्याय समझते हैं। यह सूक्ष्म अज्ञान वा मिथ्यात्व अनेक धार्मिक श्रद्धालु पुरुषोंके लगा रहता है, वे वस्तुस्वरूपके अंतस्तत्त्व पर नहीं पहुंच सके हैं। ऐसा सूक्ष्म अज्ञान भी द्रव्यलिंगीके हो सकता है। जिनके तीव्र एवं प्रगाढ़ मिथ्यात्व है, वे स्थूल कर्मकृत भावोंको जीवके समझ रहे हैं, जैसे कि आर्यसमाजी आदि कुछ प्रगाढ़ मिथ्यात्व है, वे स्थूल कर्मकृत भावोंको जीवके समझ रहे हैं, जैसे कि आर्यसमाजी आदि कुछ मतावलंबी क्रोध-मान-माया-लोभको मुक्त अवस्थामें मानते हैं, । वे कहते हैं कि 'जिस-प्रकार ज्ञानादि जीवमें पाये जाते हैं, इसलिये ज्ञानादिके समान क्रोधादि भी जीवके भाव हैं।' परंतु यह उनका कहना सर्वथा मिथ्यात्व है और स्थूल मिथ्यात्व है। कारण ज्ञानादिकमें पर-निमित्तकी आवश्यकता नहीं है, वे जीवसे कभी भिन्न नहीं हो सकते, और सदाकाल रहते हैं, परंतु क्रोधादिक भिन्न भी हो जाते हैं और सदाकाल रहते भी नही हैं। अनेक जीव ऐसे हैं जिनके क्रोधादि शांत हो चुके हैं, अनेक ऐसे हैं जिनके कषाय कभी नहीं उत्पन्न होती। अनेक ऐसे भी हैं जिनके कषाय सर्वथा नष्ट हो चुकी है। क्रोधादिक पर-निमित्तसे होनेवाले भाव हैं, कारणके नाशमें कार्यका नाश अवश्यंभावी है।

यदि क्रोधादिक भाव आत्मीयभाव होते, तो उनकी वृद्धिमें आत्मा की उन्नति समझी जाती, जैसे ज्ञान और चारित्रकी वृद्धिमें आत्माकी उन्नति समझी जाती है। फिर जैसे किसीको विशेषज्ञानी या संयमी देख कर यह कहा जाता है कि 'धन्य है आपकी विद्वत्ताको, धन्य है आपकी विरा-गताको' इसीप्रकार क्या किसीको विशेष-क्रोधी या मानी देखकर यह कहा-जाता है कि 'धन्य है आपके क्रोधीपनको, धन्य है आपके मानीपनको'? नहीं, संसारमें सभी समझदार क्रोधादिकी निंदा करतेहुए ही पाये जाते हैं, कोई विवेकी ऐसा देखनेमें नहीं आता जो क्रोधी, मानी, मायावी एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोभी पुरुषोंकी प्रशंसा करता हो। विकारभाव कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकते। जो क्रोधादिको जीवके शुद्धभाव बतलाते हैं, वे भी क्रोधी मानी पुरुषोंकी निंदा ही करते हैं। इतना ही नहीं, किंतु अपनेको शांत एवं राग-द्वेष-रहित कहतेहुए महत्त्वशाली समझते हैं और उसकी पुष्टि भी करते हैं कि 'देखो! हमें क्रोध कभी नहीं आता, हम बिलकुल मानी नहीं हैं, हमारे मायाचार नहीं हैं, हम लोभी नहीं हैं।' इसप्रकार क्रोधादिकोंको आत्माके निजीभाव बतलानेवाले पुरुष अपने आप ही अपने सिद्धांतका खंडन करते हैं। एक बात यह भी है कि जो वस्तु निजकी होती है, वह अधिक अथवा अल्परूपमें अपने पास रहती है। यदि क्रोधादिक भाव जीवकी निजकी वस्तु होती, तो क्रोध करनेवाला सदाकाल अधिक या थोड़ेरूपमें क्रोधी ही रहता; परंतु वैसा नहीं है। थोड़ी देरके लिए क्रोध आया, फिर शांत हो जाता है। बराबर कभी क्रोध किसी जीवके नहीं देखा जा सकता; किसी कालमें है, किसी कालमें सर्वथा नहीं। ज्ञान वैसा नहीं है, वह सदा ही रहता है; चाहे अधिकरूपमें रहे, चाहे स्वल्परूपमें रहे। इसलिए सिद्ध होता है कि जो वस्तु अपनी निजकी है, वही सदाकाल ठहर सकती है। और जो परनिमित्तसे होती है, वह परनिमित्त रहने तक ही रह सकती है, आगे नहीं। शरीरादिक तो जड़ हैं, वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। अनेक मिथ्यादृष्टि शरीरको आत्मीय वस्तु समझकर उसकी रक्षाके लिए हरप्रकारके अनर्थ करने लग जाते हैं। जीव-हिंसा करनी पड़े तो उसे भी करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। यह सब गाढ़ मोही जीवोंका भाव है। यदि निश्चयदृष्टिसे विचार किया जाय तो आत्मा कर्मबंध होने पर भी मूर्त नहीं होता, वह सदा अपने स्वरूपमें ही रहता है। मिथ्या-दृष्टि जीव कर्मकृत भावोंको जीवके भाव समझते हैं, उनकी यह समझ एवं उनका वैसा श्रद्धान संसारका बीज है। जिन भावोंसे संसारमें घुमाने-वाले कर्मोंके बंध हों, उन्हें 'संसारका बीज' कहा गया है। आत्मासे भिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पदार्थोंको आत्माके समझना एवं वैसा श्रद्धान करना, यही भाव संसारको बढ़ानेवाला है। ऐसा विपरीतभाव मिथ्यादृष्टि जीवोंके ही होता है, सम्यग्दृष्टियोंके नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव तो कीचड़में सनेहुए सोनेको मलिनभावसे नहीं देखते, किंतु कीचड़को केवल बाह्योपाधि समझ कर सोनेको सदा पीतादिगुण युक्त शुद्ध सोना ही समझते हैं। लाल पुष्प (जवाकुसुम) के पृष्ठभागमें लगा देनेसे स्फटिक लाल दीखने लगता है, परंतु जाननेवालेको वह स्वच्छ धवल एवं निर्मल स्फटिक ही प्रतीत होता है; लालपुष्प केवल बाह्योपाधि प्रतीत होता है। जाननेवाला पुष्पके निमित्त से स्फटिकमें आई हुई रक्तताको स्फटिककी रक्तता नहीं समझता, किंतु पुष्पकी रक्तता समझता है। स्फटिकको वह स्वच्छनिर्विकार ही देखता है। ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको, कर्मबंधन सहित होनेपर भी, अमूर्त वीतराग एवं सर्वज्ञ ही जानता है और वैसा ही श्रद्धान करता है। वही श्रद्धान मुक्तिका कारण है, मिथ्यादृष्टिका इससे विपरीत है और वह संसारका कारण है।

पुरुषार्थसिद्धिका उपाय

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥ १५॥

अन्वयार्थ—(विपरीताभिनिवेशं) विपरीत श्रद्धानको (निरस्य) दूरकर (निजतत्त्वं) अपने स्वरूपको (सम्यक् व्यवस्य) अच्छीतरह समझकर (यत्) जो (तस्मात्) उस निजस्वरूपसे (अविचलनं) चलायमान नहीं होना है, (स एव अयं) वह ही यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय है।

विशेषार्थ—जबतक मिथ्याप्रतीति अथवा मिथ्याश्रद्धानका जीवके उदय रहता है, तबतक उसे निजरूपका यथार्थज्ञान होता ही नहीं है। इस मिथ्यादर्शनके उदयसे जीवोंके अनेकप्रकारके परिणाम हो रहे हैं। कोई तो हितमार्ग ही नहीं पहचानते, कोई हितमार्ग तक पहुँच भी जाते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी संशयके झूलामें झूलते रहते हैं। 'इससे हित होगा या नहीं' ऐसी संशयबुद्धि उनका हित नहीं होने देती। कोई बिपरीत मार्गको ही हितमार्ग समझ कर अपना और दूसरे जीवोंका अकल्याण कर रहे हैं। कोई वस्तुस्वरूपके एकदेशका ज्ञान कर उसे ही सम्पूर्ण वस्तुका स्वरूप समझ, उसी पर एकांतरूपसे दृढ़ बन हठवादी बन बैठे हैं। कोई कोई तत्त्व परीक्षामें असमर्थ होनेके कारण हरएक देवकी पूजा करते फिरते हैं। ऐसे लोगोंका मत है कि 'शिवके मंदिरमें भी नमस्कार करनेसे कुछ-नकुछ लाभ हो जायगा, कृष्ण मंदिरमें भी नमस्कार करनेसे कुछ-नकुछ लाभ हो जायगा। दिगम्बर मुनिको नमस्कार करनेसे लाभ होगा, तो श्वेताम्बर यतिको भी नमस्कार करनेसे लाभ होगा।' इसप्रकारकी विनयबुद्धिसे वे हरएक मतके मानेहुए देवकी उपासना करते फिरते हैं, गंगा जमुनामें धर्म समझ कर स्नान भी करते हैं, पीर पैगम्बर, भैरों भवानी, माता पथवारी आदि सभी पत्थरों और सांकेतित स्थलोंको सिर झुकाते फिरते हैं। ऐसे ऐसे मिथ्यात्वभावोंसे यह संसारी जीव ठगा जा रहा है। जबतक मोहभाव मंद नहीं होता, तबतक मतवालेके समान अज्ञातभावोंमें तन्मग्न रहता है। जिससमय कर्मका भार कुछ हलका होता है, उससमय जीवका मोहभाव शांत होता है, उसीसमय सद्गुरु आदिके सदुपदेशसे इस जीवको सुबुद्धि उत्पन्न होती है। तभी वह निजतत्त्व निजस्वरूपको पहचानता है; निजरूपको समझ कर उसीका श्रद्धान करनेका नाम 'सम्यक्त्व' है। आत्माके शुद्धरूपको पहचान कर उस पर प्रतीति करनेसे आत्मा मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हो जाता है। इसलिए उस प्रतीतिको ही पुरुषार्थसिद्धि—मोक्ष-सिद्धिका उपाय बताया गया है। अर्थात् जब आत्मासे मिथ्यापरिणति हट जाती है, तब आत्मा निजस्वरूपमें दृढ़श्रद्धालु बन जाता है, उस दृढ़श्रद्धान से वह कभी विचलित नहीं होता। आत्माके उसी भावको सम्यक्त्व कहते हैं; उसीका नाम पुरुषार्थासिद्धि अर्थात् जीवकी मोक्षसिद्धिका उपाय—मार्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । जिससमय आत्मामें सम्यक्त्वगुण उत्पन्न होता है, उसीसमय ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है । अर्थात् आत्मा जिस समय अपने स्वरूपमें प्रतीति करता है, उसीसमय वह उस शुद्ध चैतन्य-स्वरूप जीवका बोध करने लगता है और अपनेमें स्वयंलीन हो जाता है । इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र, तीनों ही गुण (रत्नत्रय) मोक्षमार्ग कहलाते हैं । इसीका दूसरा नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है ।

मुनियोंकी अलौकिक वृत्ति

अनुसरतां पदमेतत् करंविताचार नित्यनिरभिमुखा ।
एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(एतत्) इस (पदं) पदको (अनुसरतां) अनुसरण करनेवाले अर्थात् रत्नत्रयको प्राप्त हुये (मुनीनां) मुनियोंकी (करंविताचार नित्यनिरभिमुखा) पापमिश्रितआचारसे सदा पराङ्मुख (एकांत-विरतिरूपा) सर्वथा त्यागरूप (अलौकिकी वृत्तिः 'भवति') लोक को अतिक्रम किये हुये वृत्ति होती है ।

विशेषार्थ—इससे पहले श्लोकमें पुरुषार्थसिद्धिका उपाय सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको बतलाया गया है । इस श्लोक-द्वारा यह बतलाते हैं, कि इस रत्नत्रयको पूर्णतासे धारण करनेवाले श्रीमुनिमहाराज होते हैं, उनकी प्रवृत्ति लोक से विलक्षण—जुदी अर्थात् लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाली होती है । उनकी प्रवृत्तिमें दोष-सहित आचारका लेश नहीं होता; निर्दोष पूर्णचारित्र-सहितही उनकी प्रवृत्ति होती है ऐसी निर्दोष प्रवृत्ति होनेका भीयह कारणहै कि उनकी प्रवृत्तिसर्वथा त्यागरूप होती है जिस प्रवृत्ति मेंसर्वथा त्याग नहीं है किंतु एकदेश त्याग है, वही प्रवृत्ति सदोष हो सकती है । एकदेश त्यागमें न तो पूर्ण संयम है, और न पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन हीहोता है । इसलिये वहां सकषाय आस्रवका ग्रहण होता रहता है । अनेक अतीचारों का समावेश होता रहता है । मुनियों का त्याग मन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचनकाय–कृत-कारित-अनुमोदना इन [1]नव भेदोंसे ही होती है। इसलिए वहां अत्यंत मंदरूप सकषाय आस्रव होता है। आगे चलकर ईर्यापथ आस्रव होने लगता है। इसलिये मुनियों की प्रवृत्ति, उनके महा उज्वल परिणाम, लोकसे उत्तर ओर चमत्कार उत्पन्न करने वाले होते हैं। मुनियों के परिणाम सदा निर्मल एवं ध्यानस्थ रहते हैं। मुनिमहाराज न किसीपर रोष करते हैं, न किसीपर प्रेम करते हैं। जो कटुवचन कहते हैं, उन्हें भी वे वीतराग परिणामोंसे देखते हैं, और जो उनकी पूजा करते हैं, उन्हें भी वे उसी वीतरागदृष्टि से देखते हैं। न उन्हें तलवार-प्रहारसे भय है और न उपासना से अनुराग है–जगत्के समस्त पदार्थोंमें उदासीनता है। त्रस और स्थावरोंकी सदा रक्षा करते हैं, अयाचकवृत्ति से आहार ग्रहण करते हैं। चाहे कितने ही दिन आहार क्यों नमिले, परंतु वे अयाचकवृत्ति एवं निरंतराय-रूपसे ही उसे लेंगे; अन्यथा कदापि नहीं। कितनी ही कठोर शारीरिक वाधा क्यों न हो, वे कदापि किसीसे उसे दूर करनेके लिये नहीं कहते, और न स्वयं दूर करते हैं। वाह्यमें नग्न दिगम्बर स्वरूप-द्वारा, अंतरंगमें ध्यानद्वारा सदा कर्मों को नष्ट करते रहते हैं। ध्यानकी सिद्धि और वृद्धिके लिये कभी चातुर्मास एवं शीतकालमें नदीके किनारे ध्यानमें मग्न हो जाते हैं और कभी सूर्यके प्रचण्ड आताप से तपने वाली ग्रीष्म ऋतुमें अग्निमें दियेहुये लोहेके समान तपे हुए उन्नत पर्वतकी चोटीपर ध्यान लगाते हैं। कोई कितने ही घोर उपसर्ग क्यों न करे, उनका परिणामरूपी सुमेरु आत्मध्यानसे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता और न उपसर्ग करने वाले पर रंचमात्र खेद प्रगट करते हैं, किंतु समझते हैं कि कर्मों का भार हलका किया जा रहा है। वास्तवमें मुनि महाराज कर्मोंसे युद्ध करते हैं। जिसप्रकार एक राजा अनेक योद्धाओं

१. मन-कृत, वचन-कृत, काय-कृत, मन-कारित, वचन-कारित, काय-कारित, मन-अनुमोदित, वचन-अनुमोदित, और काय-अनुमोदित इस प्रकार नवभेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बलसे दूसरे राजापर विजय पाता है उसी प्रकार श्रीमुनिमहाराज पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच समिति, इन्द्रिय-दमन, कषाय-निग्रह, दशधर्म आदि अनेक महापराक्रमी योद्धाओंके बलसे चिरकालके शत्रु कर्मराज पर विजय पाकर मोक्षमहलमें सदाके लिए निराकुलतासे निवास करते हैं। इस प्रकारकी शूरवीरता उन कर्म-विजयी मुनियोंमें ही पाई जाती है; इसलिए वे ही साक्षात् मोक्षलक्ष्मी के स्वामी बननेके पात्र हैं। इसीसे उनकी अलौकिकवृत्ति बतलायी गयी है।

एकदेश व्रतका उपदेश किसे देना ठीक है ?

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(बहुशः) अनेकवार (प्रदर्शितां) दिखलायी गयी (समस्तविरतिं) सर्वथा त्यागरूप मुनियोंकी महावृत्तिको (यः) जो पुरुष (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) नहीं ग्रहण करता है (तस्य) उस पुरुषके लिये (एकदेशविरति) एकदेश त्यागका उपदेश (अनेन बीजेन) इस बीजसे-इस हेतुसे-नीचे लिखेहुए हेतुसे (कथनीया) कहना चाहिये।

विशेषार्थ— जो पुरुष उपदेश ग्रहण करनेका पात्र है, उस पुरुषको सबसे पहले ऊंची श्रेणीका अर्थात् मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिए। कारण, आत्माओंमें सबसे ऊंचे मार्ग पर जानेकी शक्ति विद्यमान है, आवश्यकता केवल उत्तेजनाकी है। जहां आदर्श संयमियोंका उत्तेजनापूर्ण सदुपदेश मिला कि चट आत्माओंका ऊँचा सुधार हुआ। मुनिवृत्ति एवं सकलचारित्र धारण करनेके लिये किसीको किसीसे कुछ चाहना नहीं करनी पड़ती, किसी सामग्रीकी योजना नहीं करनी पड़ती। चारित्र आत्माका निजतत्त्व है, वह प्रत्येक आत्मामें विद्यमान है। परन्तु मोहवश प्रगट नहीं है, कर्मों से ढका हुआ है। जब किसी सदुपदेष्टाका निमित्त मिला, अथवा सत्स-मागमकी प्राप्ति हुई, तभी उस निमित्तको पाकर आत्माएँ कठिनसे कठिन चारित्र धारण करनेके लिए तत्पर हो जाती हैं। जिन पुरुषोंसे स्वप्नमें भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भावना नहीं थी कि इतने कठिन तपस्वी बन सकेंगे, उनकी प्रवृत्तिने संसारको यह उपदेश दे दिया है कि जबतक जीवके साथ मोह-माया है, तभी तक उसका सुधार दूर है; जहां निमित्त पाकर मोहमाया भगी, फिर उसका सुधार स्वयं उसके समीप दौड़ा हुआ आता है। स्वामी सुकुमाल की कथा कितनी हृदयद्रावक है, यह बात उस कथाके जाननेवाले जानते हैं। कहां तो उनमें इतनी कोमलता कि—माताके द्वारा आरती उतारते समय दीपककी चमकसे उनके आंसू निकल रहे हैं, ऊपर फेंके हुए सरसों के दाने शरीरमें चुभ रहे है, जिन्होंने कभी महलसे बाहर जानेके लिए एक डग (पैर) भी नहीं रखा है, सदा पुष्पोंकी शय्या पर आराम किया है, कभी सूर्यकी धूप देखी भी नहीं है और सदा रत्नोंके समुज्वल एवं शांत प्रकाशमें ही कार्य किया है; उन्हीं स्वामी सुकुमालकी कहां इतनी कठोरता कि—जिसे कठोरसे-कठोर पुरुष भी. धारण करना तो दूर रहा, सुनकर ही सकम्प होने लगे! जिन हाथोंसे कभी कठिन वस्तुका स्पर्श भी नहीं किया उन्हीं कोमलातिकोमल हाथोंसे डोरी पकड़कर सहसा गगनस्पर्शी महलसे नीचे उतर आना! जिन कोमल चरणोंका कभी कठोरभूमिसे स्पर्श भी नहीं हुआ, उन्हींसे कंकरीली-पथरीली ऊंची-नीची भूमिसे व्याप्त दुर्गम मार्गोंसे भयानक जंगलमें चले जाना! अहा! जिनका शरीर पुष्पोंके पिछले भागमें रहनेवाले डंठुलों (वृंतों) को भी सहन नहीं कर सका, उन्हींके पुष्पोंसे भी कोमल शरीरको थोड़ा-थोड़ा करके सियालिनी और उसके पांच-सात बच्चे भक्षण कर रहे हैं! और स्वामी सुकुमालका सुमेरुसम आसन रंचमात्र भी सकम्प नहीं हुआ है! एक घण्टा, दो घण्टा, या एक-दिन भी नहीं, किंतु तीनदिन तीनरात बराबर इसी घोरातिघोर उपसर्गको जिन्होंने परमशांतिसे एवं वीतराग-परिणामोंसे सहन किया, वे स्वामी सुकुमाल धन्य हैं! वास्तवमें कर्मों को विजय कर सदाके लिए जन्म-मरण रोग-शोक आदि दुःखोंकी बाधासे छूटनेके लिए, ऐसी ही परमवीर महा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंभीर शूरवीर आत्माएँ समर्थ हैं। तप करना खेल नहीं है, उसका करना लोहेके चनोंका चबाना है। यदि तपश्चर्या सुगम हो, तो हर-एक प्राणी सुगमतासे मोक्ष-महलमें जा सकता है; परन्तु नहीं, मुक्तिवधूका वही स्वामी बन सकता है जो आत्माको ध्यानाग्निके प्रज्वलित एवं महाभयंकर अग्नि-कुण्डमें शीलव्रतकी तपश्चर्या करनेवाली सीतादेवीके समान डाल देता है। परन्तु तपश्चर्या महाकठिन होनेपर भी साहसी एवं धर्मपरायण आत्माओं-द्वारा साध्य भी तुरन्त की जाती है। क्या कोई स्त्री अग्निकुण्डमें कूदनेके लिए सहसा तैयार हो सकती है? परन्तु सीता जैसी सतियोंको अग्नि-कुण्डमें कूदना कोई कठिन बात भी नहीं है? क्या स्वामी सुकुमालसे ऐसे घोर तपश्चरण एवं उपसर्ग सहन करनेकी कोई कल्पना भी कर सकता था? नहीं, परन्तु उन्हीं स्वामी सुकुमालने मुनिमहाराजका उपदेश मिलने पर शरीरसे सर्वथा ममत्व छोड़ दिया, फिर उन्होंने कोमलता और कठो-रताको अपनी वस्तु समझा ही नहीं। इस कथनका यही प्रयोजन है कि आत्माओंमें अचिन्त्य शक्तियां विद्यमान हैं; केवल उन्हें व्यक्त करनेके लिए उत्तेजक उपदेश तथा आदर्शपुरुषोंके समागमकी आवश्यकता है। फिर उनके सुधारमें कुछ देर नहीं लगती।

एक बात यह भी है, कि प्रारंभमें जीवोंको ऐसा ही उपदेश वारंवार देना चाहिये जिससे कि वे मोक्षके अभिलाषी बन कर साक्षात् मुनिपद धारण करनेके लिये उद्यत हो जांय। जहां एकवार उनमें वैसे भाव जागृत हो गये, फिर झट बेड़ा पार है। वास्तवमें सदुपदेश वही हो सकता है जो पूर्ण सुधारका कारण हो। इसलिये सबसे प्रथम जीवोंको मुनिधर्म-का ही उपदेश देना योग्य है। यदि एकवारके उपदेशसे वे मार्गपर नहीं आसकें तो दूसरीवार, तीसरीवार, चौथीवार एवं दश-बीसबारमें तो पूर्ण मार्गपर चलनेके लिये समुद्यत हो ही जायेंगे! जो अनेकोंवार उपदेश मिलने पर भी मुनिपद धारण करनेमें असमर्थ हैं. उस साहसहीन निर्बल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्माको एकदेश त्यागरूप श्रावकधर्मका उपदेश देना ठीक है।

कुछ लोगोंकी ऐसी शंकाएँ सुनी जाती हैं कि 'पहले नीचे दर्जेका ही उपदेश देना ठीक है; यदि पहलेसे ही ऊंचे दर्जेका उपदेश दे दिया जायेगा, तो वह पात्र घबड़ा जायगा अथवा ऊंचे दर्जेके मार्गको पकड़ कर उसे छोड़ देगा; वैसी अवस्थामें उसका थोड़ा सुधार भी नहीं हो सकेगा।' ऐसी शंकाओंके करनेवालोंको इस बातपर भी थोड़ी देर विचार करना चाहिये कि आचार्योंने ऐसी कथन पद्धति क्यों बतलायी ? उनकी अनुभवपूर्ण इस उपदेशपद्धतिमें भी कोई भीतरी रहस्य अवश्य होगा। जिन्होंने अपना समस्त जीवन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके उपार्जनमें लगा डाला है, जिन्होंने आत्माओंका सच्चा सुधार किस पथसे एवं किन किन कठिनाइयोंके मार्गसे होता है' इस बातको सुनकर ही नहीं किंतु अपने आत्माको स्वयं उन मार्गोंमें ले जाकर स्वानुभवसे जाना है, फिर 'सच्चा सुधार क्या है और उसका मार्ग किस रीतिसे होता है, किस प्रकारका उपदेश किस समय किस जीवके लिये हितकर है' इस बातको आचार्य जान सकते हैं ? या उस मार्गसे कोशोंदूर रहनेवाले एवं आत्मसुधारके स्वादसे रहित पुरुष जान सकते हैं। शंकाकारोंको सोचना चाहिये कि यदि किसी पात्रको पहले ही जघन्यश्रेणीका उपदेश देकर उसका जघन्यरूपमें ही साहस बढ़ाया जाय, तो फिर उसका साहस उसी जघन्य मार्गमें कार्यानुगामी बन जाता है। संसारी आत्माका यह स्वभाव-सा (वास्तवमें विभाव) पड़ गया है कि वह आत्मीय सुधारमें प्रमाद करता है परन्तु सांसारिक वासनाओंमें बिना उपदेशके भी प्रवृत्ति करता जाता है, यह एक कर्मकी ही विचित्रता है। ऐसी अवस्थामें यदि एकबार बड़े साहस-पूर्वक आत्मीय सुधारकी ओर बढ़ता है। फिर यदि उसे हलका मार्ग मिल जाता है, तो उसीमें वह रह जाता है; क्योंकि साहसकी मात्रा तो उपदेशकी प्रेरणा से उस क्षणमें जागृत हुई थी, सो तो अब रही नहीं, और प्रमोद तो सदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से लगा हुआ ही है; इसलिये फिर उससे आगे बढ़नेका मार्ग लम्बा पड़ जाता है। प्रारम्भकालमें ही जिससमय सांसारिक वासनाओंके कीचड़से निकलने की भावना करता है, उससमय ही उसे पूर्ण सुधारपर ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि पूर्ण-सुधारके मार्गपर चला जाय, तब तो फिर उस उपदेशकी पूर्ण एवं महती सफलता कहना चाहिये। यदि वहांतक न भी जाय तो जघन्य मार्ग तो स्वयं पकड़ ही लेगा। परन्तु पहलेसे ही जघन्यमार्गका उपदेश देनेसे, सम्भव है वह उसे भी न ग्रहण कर सके। यह एक स्वाभाविक बात लोकमें देखी जाती है कि किसीसे किसी वस्तुका त्याग कराया जाता है तो पहले उस निषेधनीय वस्तुके अवगुण (दोष) दिखाकर उसे सर्वथा छोड़नेकी प्रेरणा की जाती है। उस प्रेरणासे कोई कोई महात्मा उस वस्तुका सर्वथा सदाके लिये त्याग कर देते हैं और कोई वैसा न कर उसे क्रम क्रमसे छोड़ते हैं। यही लोकमें उपदेश अथवा शिक्षण की पद्धति है। उसी पद्धतिका उपदेश श्रीआचार्य महाराजने बतलाया है।

यह जो कहा गया है कि 'जिसकी थोड़ी शक्ति है, वह उच्चकोटिके व्रतादिक धारण नहीं कर सकता, करेगा तो छोड़ देगा; इसलिये उसे जघन्यउपदेश देना ही ठीक है' इसका उत्तर यह है कि थोड़ी शक्ति और अधिक शक्तिकी पहचान क्या है ? शरीरकी कृशता स्थूलता ? अथवा आत्माकी कमजोरी या बलवत्ता ? शरीरकी कृशता स्थूलता तो महाव्रत धारण करने न करनेमें साधन नहीं है, क्योंकि कृश शरीरवाले भी महाव्रत धारण करतेहुए देखे जाते हैं, स्थूल शरीरवाले नहीं भी देखे जाते; अथवा स्थूल शरीरवाले भी महाव्रत धारण करतेहुए देखे जाते हैं, कृश शरीरवाले नहीं भी देखे जाते; इसलिये कृश अथवा स्थूल शरीरके साथ तो महाव्रत धारण करनेकी व्याप्ति नहीं है। शरीर संबंधमें तो इतना ही विचार आवश्यक है कि वह नीरोग है अथवा सरोग है ? आंगोपांग ठीक कार्य करते हैं अथवा नहीं ? मूल विचार आत्माकी कमजोरी अथवा बलवत्तासे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, सो आत्माकी कमजोरी या बलवत्ता स्थायी वस्तु नहीं है। जिस आत्मामें इंद्रियों एवं मनको दमन करनेकी पात्रता उत्पन्न कर दी जाती है, वही व्रत संयमको धारण करनेके लिये समुद्यत हो जाता है, और जो वैसा पात्र नहीं बनाया जाता, वही कमजोरी प्रगट करता है। इसप्रकार की कमजोरी उपदेश एवं आदर्श समागमसे दूर की जा सकती है। यदि उपदेशादिके द्वारा आत्मीय कमजोरी नहीं हटाई जा सके तो फिर जघन्य-श्रेणीके उपदेशकी ही क्या आवश्यकता है ? जिसप्रकार उपदेशकी शक्ति से वह अव्रतीसे व्रती बना दिया जाता है, उसप्रकार महाव्रती क्यों नहीं बनाया जा सकता ? यदि महाव्रती बननेकी पात्रता होनेपर देशव्रती बनाया जाय, तो उस आत्माकी कितनी भारी हानि है, इसे बुद्धिमान विचार लें। परंतु देशव्रतीकी पात्रता रहनेपर महाव्रती बननेका उपदेश दिया जाय तो उस आत्माकी कोई हानि नहीं है, प्रत्युतः लाभ है। संभव है, वह जगत् के पदार्थोंसे उदास होकर एवं शरीरसे ममत्व छोड़कर—जैसा कि आत्मा का स्वभाव है—सहसा सर्वथा त्यागवृत्तिपर आरूढ़ होकर उसी पर्यायसे सदाके लिये संसारबंधन तोड़ दे। इसलिये सबसे पहले मुनिधर्मका ही उपदेश देना न्याय्य एवं उत्तम मार्ग है॥

दंडनीय उपदेश

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः। तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (अल्पमतिः) तुच्छबुद्धिवाला उपदेष्टा (यतिधर्म) मुनिधर्मका (अकथयन्) उपदेश न देकर (गृहस्थधर्म) गृहस्थधर्मका (उपदिशति) उपदेश देता है, (तस्य) उस उपदेशकको (भगवत्प्रवचने) सर्वज्ञप्रणीत सिद्धांतमें (निग्रहस्थान) दण्डपात्र (प्रदर्शितं) कहा गया है।

विशेषार्थ—जैनसिद्धान्तमें उस उपदेशदाताके लिये प्रायश्चित्त अथवा दंडविधान है, जो कि पहले किसीको मुनिधर्मका उपदेश न देकर गृहस्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मका उपदेश होता है। वह दंडविधानका पात्र क्यों है ? इसलिये है कि उसने आगमके विरुद्ध भाषण किया।

जैनागममें अन्य समस्त द्रव्योंका भी निरूपण है, परन्तु आत्माका निरूपण प्रधानता एवं विशेषतासे किया गया है। उसका कारण भी यह बतलाया है कि जीवके लिये पुरुषार्थसिद्धि—मोक्षको छोड़कर अन्य समस्त द्रव्य हेय हैं, इसलिये जीवकी सुधारणाके लिये ही अनेक प्रकारके उपाय जैनशास्त्रकारोंने प्रगट किये हैं। सबसे प्रथम तो उन्होंने अनादि मिथ्यादृष्टिके लिए देशनालब्धि नियमसे बतलाई है, अर्थात् बिना किसी साधु महात्मा अथवा सम्यग्दृष्टिके उपदेशके उस आत्माका मिथ्यात्व कभी छूट नहीं सकता। फिर उन्होंने मिथ्यादृष्टियोंके भी अनेक भेद बतलाए हैं। कोई तीव्र मिथ्यात्वी हैं, उन्हें उपदेशका अपात्र ही बतलाया है; गाढ़ मिथ्यादृष्टियोंको जितना भी उपदेश मिलेगा, वह सब समुद्रमें बरसे हुए जलके समान व्यर्थ ही जायगा। कुछ ऐसे मिथ्यादृष्टि बतलाये हैं जो अगृहीत मिथ्यात्वी हैं। कुछ गृहीत बतलाये हैं। जिन्होंने जन्मजन्मांतरसे मिथ्यात्व धारण कर रक्खा है अर्थात् जो बिना किसीके उपदेशके जन्मांतरसे ही मिथ्यात्वमय संस्कारोंको लेकर आते हैं, वे अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं और जो किसीके उपदेशसे मिथ्यात्वको ग्रहण करते हैं, वे गृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। उनमें भी कोई भद्र हैं, कोई अभद्र हैं। भद्र उन्हें कहते हैं जो अपने मतका—मिथ्यामतका तो सेवन करते हैं। परंतु जैनधर्मसे विद्वेष नहीं करते किंतु उसमें रुचि रखते हैं; ऐसे जीवोंको सदुपदेश बहुत जल्दी सुधार देता है। कुछ उनसे भी ऊपर भद्रता रखते हैं जोकि मिथ्यामतमें रहतेहुए भी उस मतसे उपेक्षित—उदासीन हो चुके हैं और जिनधर्ममें विशेष रुचि रखते हैं। ऐसे पुरुषोंके लिये उपदेशका निमित्त मिलना अमोघशक्तिका काम करता है। अभद्र पुरुषोंको उपदेश पहले तो प्रभावक ही नहीं होता, होता भी है तो अत्यंत विलंबसे। इसप्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्योंने उपदेशपात्रोंके अनेक सूक्ष्मभेद बतलाये हैं, साथ ही परिणामोंका तरतमरूप कोटियोंको भी अत्यंत सूक्ष्मतासे बतलाया है। पात्र अपात्रका ही ध्यान रखकर उन्होंने देशना उपदेशका मार्ग बतलाया है। यदि कहा जाय कि आचार्योंने जीवोंकी सामर्थ्यका विचार नहीं करके ऊंची श्रेणीके उपदेशका विधान किया है, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उन्होंने सामर्थ्यका सीमातीत विचार किया है, इसीलिये उन्होंने गाढ़ मिथ्यादृष्टियोंको उपदेशका एकदम अपात्र ही बतला दिया है। यदि उनका लक्ष्य ऊंचा उपदेश देना ही होता, तो वे गाढमिथ्यात्वियोंको उपदेशका अपात्र क्यों कहते? इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने पात्र अपात्रका पूर्ण विचार किया है। फिर भी उपदेश देनेका क्रम यही रक्खा है कि पहले उच्चश्रेणीका उपदेश दिया जाय, पीछे जघन्यश्रेणीका दिया जाय। जब कि जैनसिद्धांतने अनादि-मिथ्यादृष्टिके सुधारके लिए उपदेश देना नियमसे कारण बतलाया है, तो उसमें जो उपदेशक्रमका विधान किया है वह भी नितांत आवश्यक है। जैसे बिना उपदेशके अनादि-मिथ्यादृष्टि कभी सुधर नहीं सकते, वैसे उपदेशक्रमविधानसे विपरीत क्रम रखनेसे भी जीवोंके सुधारमें बड़ी भारी हानि होती है। इसीलिये आर्षग्रंथोंमें विरुद्धक्रमसे कहनेवाले उपदेष्टाओंको, चाहे वे किसी पदस्थवाले क्यों न हों, प्रायश्चित लेनेका–दंडग्रहण करनेका पात्र कहा गया है॥ १८॥

क्रमरहित उपदेशसे क्या हानि होती है?

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेपि संप्रवृत्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥ १९॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कारणसे (तेन) उस (दुर्मतिना) दुर्बुद्धिके (अक्रमकथनेन) क्रमविरुद्ध उपदेश देनेसे (अतिदूरं) अत्यंत अधिक (प्रोत्सहमानः अपि) बढ़े हुए उत्साहवाला भी (शिष्यः) शिष्य-उपदेशका पात्र (अपदेअपि) जघन्यश्रेणीमें ही (संप्रवृत्तः)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्तुष्ट होता हुआ (प्रतारितः) ठगाया (भवति) जाता है।

विशेषार्थ— जैनग्रन्थोंके मनन करनेसे विदित होता है कि जिससमय किसी पुरुषको किसी निमित्तसे अत्यंत तीव्र वैराग्यकी मात्रा जाग्रत हो उठती है, उससमय आचार्य उसको सामर्थ्यका परिज्ञान करके उसे तत्काल कमण्डलु और पिच्छिका दे देते हैं। यदि कमंडलु और पिच्छिका देनेमें वे विलम्ब करें तो जिस पुरुषके किसी निमित्तको पाकर वैराग्य-परिणाम उत्कट हो उठे हैं, वे परिणाम फिर उसके वैसे नहीं रह सकते। एकबार संयम धारण करा दिया जाय तो फिर वह आत्मा पदस्थके अनुसार महाव्रतोंका पालन करता ही है। इसीलिये आत्माओंके सुधारकी पूर्ण भावना रखनेवाले आचार्य लोकोपकारकी दृष्टिसे अपने संघमें कमंडलु और पिच्छिका भी अधिक रखते हैं। काललब्धिका आना और साथ ही साधनों की प्राप्ति होना, उस आत्माके सुधारका मार्ग है। यहांपर शंका हो सकती है कि 'अपने कार्यमें आनेवाले पीछी कमंडलुसे अधिक पीछी-कमंडलुका रखना आचार्योंके लिये उचित है क्या? क्या वह परिग्रहमें शामिल नहीं है?' उत्तर—नहीं है। जिसप्रकार अपने कार्यमें आनेवाले पीछी-कमंडलु परिग्रहमें नहीं शामिल हैं, क्योंकि उनसे संयमका पालन किया जाता है। इंद्रियोंके विषय एवं शरीरके आराम देनेवाले पदार्थ परिग्रहमें परिगणित किये जाते हैं। जो केवल संयमके साधक हैं, वे परिग्रह नहीं कहे जा सकते। हां, यदि उनमें भी मूर्छाबुद्धि मुनियोंकी हो तो पीछी कमंडलु भी परिग्रहमें समझना चाहिये। परंतु मुनियोंकी उनमें तनिक भी मूर्छा (ममत्वभाव) नहीं है। यदि उन्हें कोई ले जाना चाहे तो भले ही ले जाओ, उन्हें उनका रंचमात्र भी खेद नहीं होता; इसलिये जैसे अपने कार्यमें आनेवाले पीछी कमंडलु परिग्रहमें शामिल नहीं हैं, उसीप्रकार दूसरे पुरुषोंको दीक्षा देनेके लिये लोकोपकार-दृष्टिसे रक्खे हुए पीछी-कमंडलु भी परिग्रहमें शामिल नहीं है। उनसे भी तो संयमकी ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षा होनेवाली है।

उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि आचार्योंकी दृष्टि जीवोंकी संसारपंकसे निकालनेकी है, इसलिये वे किसी पुरुषको संसारसे उदास देखकर तत्काल दीक्षा देकर उसको मुनिपदमें आरूढ़ बना देते हैं। उनका लक्ष्य सदा आदर्श मार्गपर रहता है। श्रावकधर्म पापास्रव-सहित है, आरंभ परिग्रहसहित है; इसलिये उससे आत्माका पूर्ण कल्याण नहीं हो सकता, चरम उन्नति नहीं हो सकती। चरम उन्नतिका मार्ग मुनिधर्म ही है। इसलिये आचार्य एवं मुनि संसारी आत्माओंके उसी मार्गका उपदेश देते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'सच्चासुख कहांपर है?' तो उत्तर मिलेगा—मोक्षमें। 'मोक्षकी प्राप्ति किससे होती है?' उत्तर मिलेगा—रत्नत्रयकी पूर्णतासे। इसलिये इन प्रश्नोत्तरोंसे यह बात भली-भांति सिद्ध होती है कि पहले ऊंचा एवं अंतिम ध्येय ही सामने रक्खा जाता है। नीचा लक्ष्य पहले कभी निरूपणतामें नहीं आता। ऐसा नहीं कहा जाता कि सच्चा सुख एकदेश संसारमें है, अथवा चौथे गुणस्थानमें है; और न यही कहा जाता है कि मोक्षकी प्राप्तिका उपाय चौथा गुण-स्थान या पांचवां गुणस्थान है अथवा सम्यग्दर्शनमात्र है, किंतु रत्नत्रयकी प्राप्ति ही मोक्षप्राप्तिका उपाय (मार्ग) कहा जाता है। फिर भले ही मोक्ष एवं उसका उपाय रत्नत्रय क्रमसे प्राप्त किया जाय, परंतु उपदेशमें पूर्ण सुख और पूर्ण उपायका ही पहले विवेचन होता है। यही लोकप्रसिद्ध एवं शास्त्रप्रसिद्ध पद्धति है। इस आगमानुकूल पद्धतिसे विपरीत पद्धति-द्वारा जो उपदेश देता है, वह दण्डस्थानीय अर्थात् दन्ड देनेयोग्य बत-लाया गया है।

शंका हो सकती है कि 'ऐसा उस उपदेष्टाने क्या अपराध किया है जो दंडपात्र बतलाया गया है?' इसका उत्तर यह है कि—उसने वैसा उपदेश देकर अनेक आत्माओंको ठग लिया, एवं उन आत्माओंका हित नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने दिया। सम्भव है कि उसके उपदेशकालमें अनेक ऐसे भी पुरुष बैठे हों जो संसारसे उदास हो रहे हैं और मोक्षकी वांछा रखकर धर्म सुनने के पिपासु बने हुये हैं। ऐसे पुरुषोंको मोक्षका साक्षात् साधक मुनिधर्मका उपदेश मिलना चाहिये, परन्तु मिला श्रावकधर्मका। ऐसी अवस्थामें वे वहीं रह गये, आगे उन्नतिपथमें नहीं बढ़ सके, यह बड़ीभारी हानि उन आत्माओंकी उस उपदेष्टा-द्वारा पहुंचायी गई। भले ही उसकी अजानकारीसे ऐसा क्रमविरुद्ध उपदेश दिया गया हो परन्तु उसके निमित्तसे उनका पूर्ण सुधार तो रुक ही गया। इसीलिये ऐसे क्रमभंग उपदेश देनेवालेको आत्माओं का ठगनेवाला कहा गया है।

जिसप्रकार आदेश देना केवल आचार्योंका कार्य है, मुनिराज भी आदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं, वे केवल उपदेश दे सकते हैं, उसीप्रकार उपदेश देनेका भी वही अधिकारी हो सकता है जो शास्त्रोंके रहस्यका वेत्ता हो, आगमानुकूल प्रतिपादन करनेवाला हो, निष्कषाय हो, निष्पृह हो, जीवोंके सच्चे हितकी भावना रखता हो, स्वयं आगमके अनुकूल पथपर आरूढ़ हो और श्रद्धा एवं चारित्रमें आदर्श हो। जो उपर्युक्त बातोंसे रहित है, वह उपदेश देनेका कभी अधिकारी नहीं हो सकता। आगमसे किंचिन्मात्र भी जो विरुद्ध भाषण करता है, उसका उपदेश सुनना केवल पापबन्धका कारण है। इसलिये सदुपदेष्टाओंको पहचान करके ही उनका उपदेश सुनना चाहिये। इस कलिकालमें ऐसे उपदेष्टा अनेक मिलते हैं, जो स्वयं धर्मपथसे दूर हैं, आगमके वाक्योंकी परवा न कर अपने स्वतन्त्र विचारोंको सुनाते फिरते हैं। ऐसे पुरुषोंके धर्मविरुद्ध भाषणोंसे हितके बदले अहित ही होता है॥ १९॥

उपदेश ग्रहण करनेवाले पात्रका कर्तव्य

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति॥ २०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप (मोक्षमार्गः) मोक्षका मार्ग (नित्यं) सदा (तस्य अपि) उस उपदेशग्रहण करनेवाले पात्रको भी (यथाशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (निषेव्यः) सेवन करने योग्य (भवति) होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वा रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है वह उस पात्रको भी यथाशक्ति पालन करना चाहिये। यदि शक्तिकी पूर्णता है, तब तो रत्नत्रयको पूर्णरूपसे पालन करनेके लिये मुनिधर्म धारण कर लेना चाहिये और यदि उतनी शक्ति नहीं है तो क्रमसे एकदेशरूप श्रावकधर्म धारण करना चाहिये। श्रावकधर्म भी अनेकप्रकार है, उसमें भी अपनी सामर्थ्यका विचार कर पहली प्रतिमा, दूसरी प्रतिमा, पांचवीं प्रतिमा, सातवीं प्रतिमा आदि प्रतिमाओंको ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहकर भी जो श्रावकधर्ममें यथाशक्ति दृढ़ बना रहता है एवं नियमितरूपसे व्रतोंको धारण कर लेता है, वह भी मोक्षमार्गपर आरूढ़ है। जो लोग ऐसा कहतेहुये सुने जाते हैं कि 'गृहस्थाश्रममें रहकर धर्मसाधन नहीं हो सकता' यह उनका कथन केवल प्रमादका सूचक है। यदि सावधान होकर गृहस्थाश्रममें रहकर भी उसके योग्य धर्मका सेवन करना चाहे, तो प्रत्येक पुरुष बहुत कुछ अपना कल्याण कर सकता है। गृहस्थाश्रममें मुनिधर्मका किंचिन्मात्र भी पालन नहीं हो सकता, कारण घर अथवा गृहस्थाश्रम मुनिधर्मके पालन करनेका सर्वथा क्षेत्र नहीं है। मुनिधर्म आरम्भ-परिग्रहसे सर्वथा रहित है, और गृहस्थधर्म आरंभ-परिग्रहसहित है; इसलिये गृहस्थाश्रममें मुनिधर्मका पालन तो असभव ही है। उसका क्षेत्र तो जंगल ही है और सर्व आरम्भपरिग्रहसे रहित नग्न दिगम्बरवृत्ति ही है। परन्तु गृहस्थधर्म तो गृहस्थाश्रमें ही रहकर पालने-योग्य है। जो लोग गृहस्थाश्रममें रहते हुये गृहस्थधर्म-श्रावकधर्म पालन नहीं करते हैं, वे श्रावक भी कहलानेके योग्य नहीं हैं। कारण—जो श्रावक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मको धारण करे, उसीको श्रावक कहते हैं। जो धर्मकर्मसे शून्य रहकर केवल सांसारिक वासनाओंमें रत है, वह मोही संसारी है, अज्ञानी है, अपनी आत्माको ठगनेवाला है। तिर्यंचमें और उस पुरुषमें कोई भेद नहीं है, केवल पर्यायका भेद है। इसलिये जैनमात्रका कर्त्तव्य है कि गृहस्थाश्रममें रहकर अपनी शक्तिके अनुसार व्रत संयम धारण करे। इसीमें मनुष्यजीवनका सार है, अन्यथा वह निःसार है। यह संसार समुद्रतुल्य अथाह है। समुद्रका परिणाम तो भी है, इसका परिणाम भी नहीं है; यह अनंत है। इस अनंत संसारसमुद्रसे पार होनेका यदि मार्ग है, तो वह मनुष्यजीवन है। यथार्थमें मार्ग तो रत्नत्रयरूप धर्म है, मनुष्यजीवन उसका एक प्रधान साधन है। यद्यपि अन्य पर्यायोंमें भी धर्म धारण किया जा सकता है, परन्तु उन पर्यायोंमें पूर्ण धर्म धारण करनेकी पात्रता एवं शक्यता नहीं है। मनुष्यपर्यायमें ही यह सामर्थ्य है कि प्रयत्न एवं सद्विवेक-द्वारा यह आत्मा संसारबन्धनको सर्वदाके लिये दूर कर सकता है। अन्य पर्यायोंमें वैसी सामर्थ्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि उनमें अंतरंग एवं बहिरंग साधन वैसे नहीं प्राप्त हैं जैसे कि रत्नत्रयके पूर्ण साधन करनेयोग्य मनुष्य-पर्यायमें प्राप्त हैं। तिर्यंचपर्यायमें तो पूर्ण श्रावकव्रत भी नहीं पाले जा सकते तो मुनिधर्म कैसे पाला जा सकता है, कारण तिर्यंचके शरीरकी रचना ऐसी नहीं है कि वहांपर मुनिदीक्षा अथवा उच्चकोटिके श्रावकव्रत पालन किये जा सकें। जो कार्य पुरुष-शरीरसे किये जा सकते हैं, वे उस चार पैरवाले मूक तिर्यंचसे हो ही नहीं सकते। नरक और देवपर्यायमें भी संयम धारण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। न तो वहां वाह्यप्रवृत्तियों-द्वारा व्रत ही धारण किये जा सकते हैं और न कर्मोदय-प्राप्त वाह्यप्रवृत्तियोंका सुधार ही हो सकता है। देवोंके मुखमें नियमित अवधिमें नियमसे अमृतरस झरता है, उससे उनकी क्षुधानिवृत्ति होती है। उसे वे रोक भी नहीं सकते, वैसी अवस्थामें उनसे संयम कभी नहीं पल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। वे आहारका त्याग करें तो भी नहीं बन सकता, मार्गानुसार उसे ग्रहण करना चाहें तो भी नहीं बन सकता; इत्यादि अनेक ऐसी बातें हैं जो कि देव-तिर्यंच-नारकपर्यायोंमें पूर्णधर्म धारण करनेमें बाधक हैं। इसीलिये उन पर्यायोंमें अंतरंग परिणाम भी संयमी नहीं बन सकते। देव-नारकपर्यायमें प्रवृत्तिमार्ग अनुकूल न रहनेसे केवल सम्यग्दर्शन धारण किया जा सकता है। तिर्यंचपर्यायमें एकदेश श्रावकधर्म भी धारण किया जा सकता है। परन्तु मनुष्यपर्यायमें रहकर आत्मा अपने जीवनको समुज्वल एवं दुःखोंसे निवृत्त बना सकता है। यदि मनुष्यपर्यायमें आकर भी कुछ धर्मसाधन नहीं हो सका, तो फिर उसका मिलना भी नितांत कठिन है। धर्मसाधनकी योग्यतायें हर-एक जीवको नहीं मिल सकतीं; जिस जीवका सुधार सन्निकट है एवं तीव्र पुण्यकर्मका उदय है, उसे ही धर्म साधनेकी सामग्री मिल जाती है। सामग्री मिलनेपर भी जिसने अविवेक और प्रमादसे उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं किया एवं सांसारिक वासनाओंकी चाहनामें ही पर्यायको खो दिया, तो उसके समान अज्ञानी कौन होगा ? ऐसा पुरुष उन्हीं मूर्खोंकी श्रेणीमें शामिल है जो दैवसे प्राप्त हुए चिंतामणि रत्नको फेंककर कांच बटोरते हैं, अथवा कल्पवृक्षको उखाड़कर विषका वृक्ष बोते हैं, अथवा मदोन्मत्त सुन्दर ऐरावत सरीखे हाथीसे उतरकर गधेपर चढ़ते हैं। सिवा महामूर्खोंके कोई बुद्धिमान इन कार्योंके करनेमें कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसीप्रकार कोई बुद्धिमान ऐसा न होगा जो बड़ी कठिनता एवं दैवयोगसे मिले हुए मनुष्य-शरीर, जैनकुलमें उत्पत्ति, जैनधर्मका परिज्ञान, इन समस्त बातोंको पाकर उनसे लाभ न उठावे, और विषयवासनाओंमें ही पर्यायको पूरा कर दे। इसलिये शक्तिको न छिपाकर धर्मको धारण करना ही मनुष्यजीवनका सार है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको ही धर्म कहते हैं; इन तीनोंमें सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन ही प्रथम क्यों प्राप्त करना चाहिये

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उन तीनोंमें (आदौ) पहले (अखिलयत्नेन) संपूर्ण प्रयत्नोंसे (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (समुपाश्रयणीयं) भलेप्रकार प्राप्त करना चाहिये; (यतः) क्योंकि (तस्मिन् सति एव) उस सम्यग्दर्शनके होनेपर ही (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (च) और (चरित्रं) सम्यक्चारित्र (भवति) होता है।

विशेषार्थ—तीनोंमें सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त करनेयोग्य बतलाया गया है। इसके लिये हेतु भी दिया गया है कि बिना सम्यग्दर्शन के प्राप्त किये ज्ञान और चारित्र दोनों ही मिथ्या हैं। ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र तभी होता है जब कि आत्मामें पहले सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। जिससमय आत्मा मिथ्यादर्शनको छोड़कर सम्यग्दर्शन पर्यायको धारण करता है, उसीसमय अर्थात् दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम होनेके साथ ही कुमति और कुश्रुत नष्ट होकर सुमति और सुश्रुत (सम्यग्ज्ञान) उत्पन्न हो जाते हैं। दर्शनके साथ ज्ञानका अविनाभाव है, जैसा सम्यक् अथवा मिथ्यादर्शन होगा, वैसा ही ज्ञान होगा; यद्यपि सम्यग्दर्शनको मिथ्यादर्शन बनानेवाला दर्शनमोहनीयकर्म है, और ज्ञानको ढकनेवाला ज्ञानावरणकर्म है। भिन्नभिन्न प्रतिबंधक कर्मोंके होनेसे दोनोंमें भिन्न भिन्न रीतिसे ही शक्तिकी व्यक्ति होती है। यदि ज्ञानावरणका किसी जीवके तीव्र उदय है तो उसके सम्यग्दर्शनके होनेपर भी ज्ञान बहुत ही मंद रहेगा। ऐसा नहीं है कि सम्यक्त्वके प्रगट होनेपर ज्ञान भी अधिक प्रगट हो जाय। यदि ज्ञान प्रगट होगा तो अपने प्रतिबंधक ज्ञानावरणकर्मके हटनेसे अथवा मंदोदय होनेसे ही प्रगट होगा। इसीप्रकार किसीके अधिक ज्ञान रहनेपर उसके सम्यक्त्व भी प्रगट हो जाय ऐसा नहीं है, कारण ज्ञानकी अधिकता ज्ञाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरणकर्मके अभावमें होती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति दर्शनमोहनीयकर्मके अनुदयमें होती है, इसलिये ऐसी भी बात नहीं है कि जिनके ज्ञान अधिक प्रगट हो जाय उनके सम्यक्त्व भी प्रगट हो जाय।

आजकल अनेक पुरुषोंमें ज्ञानका तो आधिक्य पाया जाता है, परन्तु सम्यक्त्वका उनमें सद्भाव नहीं पाया जाता। दृष्टांतके लिये अनेक पाश्चात्यभाषाभिज्ञ भारतवासी एवं पाश्चात्यदेशवासी विद्वानोंको ले लीजिये। उन लोगोंमें ज्ञानका प्रसार अधिक देखनेमें आता है, अनेक भौतिक चमत्कार आज हमारे सामने ऐसे उपस्थित हैं कि जिन्हें देखकर आश्चर्य उत्पन्न होता है, जैसे—बे-तारका तार,[1] वायुयान, टेलीफोन, टेलीग्राफ, ग्रामोफोन आदि। इन अद्भुत आविष्कारोंको देखकर बहुतसे लोग यहां तक नवीनतामें गोता खाने लगते हैं। उन्हें संभावना होती है कि इन आविष्कारोंके बढ़ते बढ़ते कहीं जड़से चेतनकी रचना भी न होने लगे। परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम है कि जहांतक पदार्थोंमें योग्यता है वहींतक उनसे पर्यायें तैयार हो सकती हैं; असंभव बातें कभी कोई कर नहीं सकता। जड़से चेतनका होना सर्वथा असंभव है, वह कभी हो नहीं सकता, ये सब आविष्कार पुद्गलके हैं, पुद्गलमें अचिन्त्य एवं अनंत शक्तियां भरी हुई हैं, उन्हींमें अनेक परिणमन होते

---

१ जो लोग यह समझ बैठे हैं कि भौतिकवादकी उन्नति एवं सूक्ष्म खोज जैसी गौरांगजातिने की है वैसी पहले नहीं थी, यह उनकी समझ भारतवर्षके सच्चे इतिहाससे विरुद्ध है। परमपूज्य जीवंधरस्वामी के पिता श्रीसत्यंधर राजाने शत्रु काष्ठांगारद्वारा किये गये षड्यंत्रको खबर लगते ही केकियंत्र अर्थात् मयूरके आकारका उड़नेवाला एक यंत्र बनवाया था और उसमें अपनी गर्भवती महारानी विजयाको बिठाकर आकाशमें उड़ाया था, परन्तु दैवयोगसे वह वायुयान राजपुरीके श्मशान में ही गिर पड़ा था। आजकल जो वायुयान बनते हैं वे भी प्रायः मयूरके आकारवाले होते हैं और कलपुर्जे खराब होनेसे पृथ्वीपर अचानक ही गिर पड़ते हैं। इस सम्बन्धका समस्त इतिहास जाननेके लिये क्षत्रचूड़ामणि, जीवंधरचम्पू, गद्यचिंतामणि इन ग्रन्थोंको देखना चाहिये। उससमय बनवाये गये केकियंत्रके कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि पहले भी इसप्रकारके आविष्कार होते थे परन्तु पहले पुरुषोंका ध्यान—उपयोग आत्मसाधनकी ओर अधिक था, इधर भौतिकवादमें बहुत कम था एवं भोगविलासोंमें कष्टोंकी मात्रा बहुत कम होनेसे उनकी प्रवृत्ति ऐसे झंझटों की ओर बहुत कम होती थी। कारण इन आविष्कारोंका जितना अधिक प्रयोग हुआ है, उतनी ही लोगोंमें आकुलतायें एवं प्राणनाशकी संभावनायें बढ़ गई हैं। सुख और शांति तो इनसे मिलती ही नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं, ये सब आविष्कार उन्हीं पुद्गलस्कंधोंके मिश्रणसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये पुद्गलतत्त्वकी शक्तियोंके जाननेवालोंको इन आविष्कारोंसे कोई आश्चर्य नहीं होता। अस्तु, वर्तमानयुगमें बहुभाग ऐसे ही आविष्कार लोगोंको सूझा करते हैं जिनसे कि प्राणियोंका संहार हो। वास्तवमें यह सब कुमति-कुश्रुतका ही प्रभाव है, जिससे कि ऐसी ही कुबुद्धि सूझती है; अन्यथा इतना अधिक ज्ञान प्राप्त होनेपर भी लोगोंके मस्तिष्कमें केवल प्राण संहारक एवं सांसारिक वासनाओंके बढ़ाने वाली बातें ही क्यों सूझती हैं, उन्हें आत्मा–तत्त्व भी कोई वस्तु है, इस बातका रंचमात्र भी ध्यान क्यों नहीं होता? अतएव इस वर्तमान पाश्चात्य-विकाशवादको कुमतिज्ञानका विकाश कहा गया है। ऐसे विज्ञान-वादियोंका जीवन उन्हीं भौतिक आविष्कारोंकी खोजमें समाप्त हो जाता है, आत्मीय सुख-शांतिकी उन्हें आभा भी नहीं मिल पाती। नरक स्वर्ग क्या हैं, पुण्य-पापसे उनका क्या संबंध है, जीवनकी उज्ज्वलता एवं सारता क्या है, इन बातोंकी ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता; इसीलिये उपादेय पदार्थका बोध न होनेसे अथवा विपरीत बोध होनेसे उनमें ज्ञान का आधिक्य होने पर भी सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं है। परन्तु जहां सम्यक्त्वका सद्भाव है, वहां स्वल्प बोध होने पर भी सम्यग्ज्ञान है–आत्मीय-सुखका स्वाद है–स्वानुभावभूतिकी उपलब्धि है। जिस आत्मामें सम्यग्-दर्शन गुण विद्यमान है, उस आत्माकी रुचि सांसारिक वासनाओंमें न जाकर उपादेय–आत्मीय पदार्थमें जाती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्माकी हितमार्गमें ही प्रवृत्ति रहती है। अहितमार्गमें उसकी प्रवृत्ति कभी नहीं जाती। इसलिये ज्ञान एवं चारित्रप्राप्तिसे पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना नितांत आवश्यक है। बिना सम्यक्त्व प्राप्त किये बढ़ा-हुआ ज्ञान भी केवल व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है। सम्यक्त्वविहीन ज्ञानसे न तो अपना ही कल्याण हो सकता है और न दूसरे आत्माओंका ही कल्याण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सकता है। कारण बिना सम्यक्त्वके, मिथ्याज्ञानसे पदार्थों की यथार्थताका बोध नहीं हो सकता और बिना यथार्थ बोधके समीचीनमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि बड़े बड़े विद्वान् दर्शनोंकी रचना कर गये हैं, परंतु किसीने पदार्थका स्वरूप कुछ कहा है और किसीने कुछ। कोई हिंसामें ही धर्म समझ बैठे हैं। जिन देवताओंकी कल्पना करके वे उनकी पूजा करते हैं वह भी जीवहिंसासे करते हैं। क्या देवताओं का वह स्वरूप है अथवा जीववधसे क्या कभी देवता प्रसन्न हो सकते हैं? कोई कोई अपने कर्तव्योंका फल ईश्वरसे चाहते हैं, कोई झूंठा खानेमें धर्म मान बैठे हैं, कोई स्त्रियोंकी पूजामें धर्म समझ रहे हैं, कोई गंगा, जमुना, गोदावरी, कावेरी, नर्मदा आदि नदियोंमें स्नान करनेमें ही धर्म समझ रहे हैं, कोई कहते हैं 'किसकी मोक्ष, किसका नरक और किसका स्वर्ग है? जो कुछ है सो इसी नरदेहमें है। बाकी कुछ नहीं।' कोई एक परमात्माको मानकर सब जगत्के पदार्थों का लोप करते हैं, वे प्रत्यक्ष दीखनेवाले समस्त पदार्थों का अपलाप कर रहे हैं। कोई मोक्षसे लौटना बतलाते हैं, कोई मोक्षमें जाकर जीवके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि सब गुणोंका नाश बतलाकर उसे जड़ बतलाते हैं। कोई जीवको ही नहीं मानते, तो कोई जीवका मरकर फिर जन्म धारण करना ही नहीं मानते, कोई जीवोंका मरकर एक स्थानमें इकट्ठा होना बतलाते हुये यह भी बतलाते हैं कि 'खुदा या परमेश्वर उनका एक साथ न्याय करके नरक या स्वर्गमें उन्हें यथायोग्य भेजेगा', कोई जीवको तथा प्रकृतिको मानते हुये भी जीवको प्रकृतिसे सर्वथा अलिप्त एवं जीवकी वैभाविक अवस्थाओंका होना प्रकृति-द्वारा ही बतलाते हैं, कोई आत्माको मानते हुये भी उसका नष्ट होना बतलाते हैं, इत्यादि अनेक मतवालोंके उपर्युक्त विचार हैं; ये सब अयुक्त, असिद्ध एवं प्रमाण बाधित हैं। किसी प्रकरणमें हम इन सब दर्शनों पर प्रकाश डालेंगे। यह सब सम्यक्त्व-विहीन ज्ञानका—मिथ्याज्ञानका माहात्म्य है। इसी प्रकार बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शनके जितनी क्रियायें हैं, सब मिथ्या हैं देखनेमें आता है कि कोई कुतप करते हैं, शरीरका शोषण भी करते हैं, परन्तु बिना सम्यग्ज्ञानके उस क्रियासे उल्टा पाप बंध होता है। तप तो कर रहे हैं परन्तु लकड़ियों में जीवोंको जलाकर पापका संचय करते हैं, दिनभर उपवास तो करते हैं परन्तु रात्रिमें अभक्ष्य एवं अनुपसेव्य पदार्थोंका सेवन कर पाप कमाते हैं, जंगलमें तो रहते हैं परन्तु आरम्भ परिग्रहका संचय करते जाते हैं, शांति तो चाहते हैं परन्तु बालू पत्थर आदिके ढेर तथा अग्नि आदिमें कूद-कूद कर अशांति एवं कषाय पैदा करते हैं। यह सब खोटा चारित्र अथवा मिथ्याचारित्र है। इस रीतिसे शरीरको कष्ट देनेसे सिवा अहितके कोई हित नहीं हो सकता; कारण बिना पदार्थ-स्वरूप समझे एवं समीचीन मार्गका बोध किये रातदिन भी परिश्रम करनेसे उसका फल विपरीत ही होगा। जो अज्ञानी आतापका सताया हुआ शीतलताकी चाहनासे एक गहरे कूएमें कूद पड़ता है, वह गहरी चोटसे और अथाह जलसे अपने प्राणोंका ही घात कर बैठता है। इसलिये बिना सम्यग्ज्ञानके प्राप्त किये जो कुछ भी कर्तव्य है, वह मिथ्या है। अतएव तीनोंमें पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना नितांत आवश्यक है। सम्यग्दर्शन नौकाके खेवटियाके समान है। जैसे बिना खेवटियाके नौका नहीं चल सकती, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके ज्ञान-चारित्रमें सम्यकपना आता ही नहीं। अथवा सम्यग्दर्शन बीजके समान है, जैसे बिना बीजके वृक्षकी स्थिति (उत्पत्ति) भी नहीं हो सकती, वृद्धि भी नहीं हो सकती, फलोदय भी नहीं हो सकता, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी स्थिति (उत्पत्ति) भी नहीं हो सकती वृद्धि भी नहीं सकती तथा उनका उत्तम फल भी नहीं हो सकता। अथवा सम्यग्दर्शन नींवके समान है; जैसे बिना नींवके मकान नहीं ठहर सकता, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र नहीं ठहर सकते। अथवा सम्यग्दर्शन सूर्यके समान है; जैसे बिना सूर्यके प्रकाश नहीं हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता, वैसे विना सम्यक्त्वके ज्ञान चारित्र सम्यक् नहीं हो सकते।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'विना ठीक ठीक ज्ञान हुए श्रद्धान कैसे ठीक कहा जा सकता है ? बिना पहले पदार्थका ज्ञान किये जो श्रद्धा होगी वह अंधश्रद्धा होगी। इसलिये पहले सम्यग्ज्ञान होना चाहिये, पीछे सम्यग्दर्शन होना चाहिये। परन्तु यहांपर पहले सम्यग्दर्शन का होना बतलाया गया है, पीछे सम्यग्ज्ञानका होना बतलाया गया है, सो किसप्रकार ठीक है ?' उत्तर—जबतक आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्मका उदय रहता है, तबतक पदार्थोंका प्रतिभास विपरीत ही होता है। क्यों विपरीत होता है ? इसका उत्तर यह है कि कर्मकी शक्तिका यह प्रभाव है और इसप्रकारकी शक्तियां माननी ही पड़ती हैं, अन्यथा कहा जा सकता है कि ज्ञान संसारी आत्माओंमें कम क्यों पाया जाता है, पूरा सर्वज्ञज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ? इसके उत्तरमें यही बात माननी पड़ेगी कि ज्ञानावरणकर्मका उदय उन आत्माओंमें हो रहा है, उस उदयसे ही ज्ञानशक्ति आच्छादित हो गई है। एक मनुष्य सुखी देखा जाता है, एक दुःखी देखा जाता है; इसका कारण भी वही कर्मशक्तिका परिणाम है। इससे सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मकी शक्ति ऐसी ही विचित्र है कि उसके उदयमें पदार्थोंका विपरीत प्रतिभास होता है। जैसे—दूध भी पुद्गलपर्याय है और धतूरा भी पुद्गलपर्याय है, परंतु दूध पीनेसे कुछ विकार नहीं होता, धतूरा खानेसे सब कुछ पीला ही पीला दीखता है, क्योंकि धतूरेके परमाणु विकारोत्पादक हैं, वैसे दूधके नहीं हैं। 'ऐसा भी क्यों है ?' ऐसी आशंकाका यही उत्तर है कि वस्तुस्वभाव अनिवार्य है; वह तर्कणासे बाहर है। अग्नि क्यों उष्ण होती है, विष खानेसे मनुष्य क्यों मर जाता है, इन प्रश्नोंका भी यही उत्तर होगा कि उन वस्तुओंमें वैसी ही शक्ति है। इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके परमाणु इसी जातिके हैं कि उनका रसोदय विपरीत स्वाद करानेवाला ही होता है, अन्यथा सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्योंके पास समझ रहनेपर भी अनेक विद्वानों तकमें खोटा आचरण क्यों पाया जाता है ? विद्वान् तो विवेकी होते हैं, वे ऊंची श्रेणीका ज्ञान रखते हैं, फिर क्यों मिथ्यासिद्धांतों पर विश्वास कर बैठते हैं ? अथवा क्यों असदाचरण करते हैं ? उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि उनकी समझ उलटी है, उनका चारित्र ठीक नहीं है। समझका उलटा होना और चारित्रका कुचारित्र होना जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, यह सब दर्शनमोहनीयका कार्य है, उसके निमित्तसे समझ रहने पर भी वह उलटी कहलाती है, चारित्र कुचारित्र कहलाता है। जिससमय दर्शनमोहनीयकर्म हट जाता है अर्थात् जीवके उसका उदय नहीं रहता, उससमय उस जीवका ज्ञान यथार्थ ही होता है; चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो, विपरीतवस्तुका ग्रहण नहीं करेगा। वह थोड़ा जानेगा पर ठीक जानेगा। जैसे—धतूरा पीनेवाले मनुष्य पर जबतक उसका असर रहता है तबतक वह मनुष्य पीला ही पीला देखता है, उसीप्रकार जब तक जीवके दर्शनमोहनीयकर्म का असर रहता है तबतक उसे उलटा ही सूझता है। इसीका नाम 'मोहित बुद्धि' है। यदि कहा जाय कि 'मोहसे पदार्थका प्रतिभास उलटा बना रहे परन्तु ज्ञान तो ठीक ही होना चाहिये अर्थात् श्रद्धान भले ही उलटा हो परन्तु ज्ञान उलटा नहीं होना चाहिये; क्योंकि दर्शनमोह तो श्रद्धानको बिगाड़नेवाला कर्म है, ज्ञानसे उसका क्या संबंध ?' तो हम कहते हैं कि धतूरा खानेवालेको पीला ही पीला दीखता रहे परन्तु उसके ज्ञानमें तो वस्तुओंका प्रतिभास नहीं होना चाहिये; क्योंकि धतूरेका विकार तो आंखोंमें आता है, सो आंखें भले ही पदार्थोंको विपरीत देखती हों, देखना तो दर्शनावरणका काम है, उसे देखनेसे ज्ञानका क्या सम्बन्ध ? पदार्थोंका ज्ञान तो उसे पीला नहीं होना चाहिये। फिर उसे बोध भी पीला क्यों होता है ? यदि कहा जाय कि 'देखनेका ज्ञानसे संबंध है, जैसा देखता है वैसा ही जानता है' तो यह भी ठीक है कि जैसा श्रद्धान करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वैसा ही जानता है। यदि विपरीत प्रतीति होती है तो विपरीत प्रतिभास भी होता है, यदि यथार्थ प्रतीति होती है तो यथार्थ प्रतिभास भी होता है। जैसे देखने और जाननेका संबंध है; वैसे प्रतीति (श्रद्धान) और ज्ञानका भी सम्बन्ध है। अर्थात् ज्ञानका कार्य जानना है, वह पदार्थों को जानता रहेगा; जितना ज्ञानावरणकर्मका उदय रहेगा—मंद मध्यम या तीव्र, उसी के अनुसार वह मंद मध्यम या अधिकरूपसे पदार्थों को जानता रहेगा। वह ठीक जानता है या बेठीक (अयथार्थ) जानता है, यह बात किसी दूसरे पदार्थसे सम्बन्ध रखती है। ज्ञानके साथ जो यथार्थ अयथार्थ विशेषण लगाये जाते हैं, वे दूसरेके निमित्तसे लगाये जाते हैं। ज्ञानका काम तो इतना ही है कि वह पदार्थों को योग्यतानुसार जानता रहे। जाननेमें मंदता या अधिकता होना ज्ञानावरणकर्मका कार्य है, ज्ञानावरणकर्मका कार्य यह नहीं है कि वह ठीक जानें या मिथ्या जानें। अन्यथा ज्ञानावरणके दो भेद मानने चाहिये,—एक मिथ्याज्ञानावरणकर्म और दूसरा सम्यक्ज्ञानावरणकर्म। परंतु सिद्धान्तमें ज्ञानावरणके दो भेद नहीं कहे गये हैं। ज्ञानावरण तो अपने उदयके अनुसार ज्ञानका आच्छादन करता है—अधिक उदयमें अधिक आच्छादन करता है, मंद उदयमें मंद आच्छादन करता है। जैसा-जैसा आच्छादन होता है एवं जितना-जितना ज्ञानका प्रकाश रहता है, उतना-उतना ही ज्ञान वस्तुओंको जानता है, इसलिये ज्ञानका कार्य जाननामात्र है और प्रतिपक्षी कर्म उतने ही कार्यको रोकता है। ज्ञानके साथ जो सम्यक् जानना या मिथ्या जानना ये 'सम्यक् मिथ्या' विशेषण लगे हुये हैं, वे ज्ञानके परिणाम नहीं हैं। यदि उन्हें ज्ञानके ही परिणाम कहा जाय तो प्रतिपक्षी कर्म (ज्ञानावरणकर्म) के कार्य भी दो मानने पड़ेंगे। जिस कर्मका अनुदय होगा, उसीप्रकारका ठीक या विपरीत ज्ञान होगा। ऐसा मानने पर, मिथ्यादृष्टिके भी यथार्थ बोध होना चाहिये, क्योंकि उसके भी अच्छे-बुरे-रूपमें क्रमसे ज्ञानावरणका उदय-अनुदय होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहेगा। अथवा सम्यग्दृष्टिके भी मिथ्याज्ञान होना चाहिये, क्योंकि वहां भी ज्ञानावरणका अच्छे या बुरे-रूपमें क्रमसे उदय-अनुदय होता रहेगा। परन्तु वैसा होता नहीं है। न तो मिथ्यादृष्टिके सम्यग्ज्ञान होता है और न सम्यग्दृष्टिके मिथ्याज्ञान। इसलिये ज्ञानके यथार्थ अयथार्थ विशेषण दूसरे के सम्बन्धसे प्राप्त है, और वह सम्बन्ध दर्शनमोहनीयकर्म है। जबतक जीवके उसका उदय रहता है तबतक वह जीव पदार्थोंमें उलटी प्रतीति करता है और उसीके अनुसार उसका ज्ञान भी उलटा प्रतिभास करता है। जिससमय दर्शनमोहका उदय उस जीवके नहीं रहता, उससमय उसकी पदार्थोंपर यथार्थ प्रतीति होती है; उसके अनुसार उसका ज्ञान भी उन्हें यथार्थ जानने लगता है। जैसे आंखके नीचेके पलकपर उंगली लगा लेनेसे दो चंद्रमा दिखाई देते हैं और ज्ञान भी दो चंद्रमाका होता है—दो चंद्रमाओंके न होनेपर भी दर्शनमें भ्रम रहनेसे ज्ञानमें भी भ्रम रहता है, उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके रहनेसे—पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान होनेसे उसके साथ होनेवाला ज्ञान भी मिथ्या होता है। जिससमय आत्मामें उस मिथ्यादर्शनके अभाव होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, उससमय मिथ्याप्रतीति आत्मासे एकदम दूर हो जाती है तथा आत्मा पदार्थोंका यथार्थ प्रतिभास करने लगता है। उसकी बुद्धि भी पदार्थोंको यथार्थरूपसे ही ग्रहण करती है। सम्यक्त्वगुणका यही माहात्म्य है कि उसके प्रगट होनेपर बुद्धिमें विपर्यय होता ही नहीं, सदा वह सत्य पदार्थकी ही ग्राहक होती है। इसप्रकारके विभाव एवं स्वभाव (आत्मीय परिणाम) जीवोंके नानारूपसे उदित होते रहते हैं। विभावपरिणामोंके उदयमें आत्मा असत्प्रवृत्ति एवं असत्विचारोंमें प्रवृत्त हो जाता है, स्वभाव परिणामोंके प्रगट होनेपर वही आत्मा सत्प्रवृत्ति एवं सद्विचारोंमें बिना उपदेश एवं बिना शिक्षण आदिके स्वयं प्रवृत्त हो जाता है। उपर्युक्त कथनसे सम्यग्ज्ञान को पहले और सम्यग्दर्शनको पीछे बतलानेवालोंकी शंकाका निरसन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(खंडन) हो चुका।

अब एक शंका यह हो सकती है कि 'यदि सम्यग्ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शन होता है तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये जो [१]देशनालब्धिका [२]आवश्यक विधान किया गया है वह क्यों ? अर्थात् सम्यग्दर्शनके पहले जितना भी ज्ञान है सभी मिथ्या है तो सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारणभूत जो सद्गुरुके उपदेशसे ज्ञान होगा वह भी मिथ्या होगा, फिर उस मिथ्याज्ञानसे सम्यक्त्वप्राप्ति कैसे हो सकती है ?' इस शंकाका यह परिहार है कि—पदार्थों को ठीक-ठीक जान लेनेका ही नाम सम्यग्ज्ञान नहीं है, पदार्थों का ठीक ठीक ज्ञान तो मिथ्यादृष्टिको भी होता है, वह भी व्यावहारिक सभी पदार्थों को ठीकरूपसे जानता है। इतना ही नहीं, किंतु बड़ेबड़े विज्ञानवादी पदार्थ-खोजमें अतिसूक्ष्म गवेषणा करते हैं। सम्यग्दृष्टियोंसे भी अधिक पदार्थ-स्वरूप तक जाते हैं, फिर भी उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान रहता है और सम्यग्दृष्टियोंका स्वल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसलिये सबसे पहले हमें सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है। वास्तवमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण यही है कि— जिस ज्ञानमें आत्माका निज स्वरूप प्रतिभासित होता हो, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् जिस-ज्ञानमें स्वानुभूति (अपने आत्माका अनुभवन) होता हो, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। बाह्यपदार्थों के ठीक जानने न-जाननेसे उसकी यथार्थता अयथार्थताका संबंध नहीं है। मिथ्यादृष्टि भी लौकिक पदार्थों को जैसेके-तैसे समझता है; अथवा सम्यग्दृष्टि भी कभी कभी नेत्रादिमें विकार आजानेसे बाह्यपदार्थों में विपरीत बोध कर लेता है, परन्तु वह केवल बाह्य-विकारका दोष है। अन्तरंगमें स्व-स्वरूपका अनुभव एवं साक्षात्कार करनेसे

१. सम्यक्त्व प्राप्तिके योग्य सदुपदेश मिलनेको देशनालब्धि कहते हैं। सम्यक्त्व-प्राप्तिमें कारणभूत पांच लब्धियोंमें एक देशनालब्धि है। २. अनादि-मिथ्यादृष्टिके लिये देशनालब्धि आवश्यक कारणोंमें है, विना देशनालब्धिके अनादि-मिथ्यादृष्टिको सम्यक्त्व नहीं हो सकता। सादि-मिथ्यादृष्टि के लिये ऐसा नियम नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। दूसरी बात, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के भेद मेंयह है कि सम्यग्दृष्टि तो सदा आत्मोपयोगी पदार्थों में रुचि, प्रतीति, श्रद्धा करता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि आत्मोपयोगी पदार्थों में श्रद्धा नहीं करता; केवल (वाह्य आत्मभिन्न) जड़पदार्थों में अपनी बुद्धिका कौशल प्रगट करता रहता है और जबतक आत्मोपयोगी—सप्त तत्व, नवपदार्थ आदिमें प्रतीति अथवा श्रद्धा इस जीवकी नहीं होती, तबतक उसका बाह्यपदार्थों में जितना भी ज्ञान है वह सब व्याकुल अशांत एवं मिथ्या है। कारण, उस ज्ञानसे आत्मा वास्तविक सुखी नहीं बन सकता; क्योंकि वह आत्मोपयोगी तत्त्व तक पहुंच ही नहीं पाया है। ऐसी दशामें यह कहना असंगत नहीं है कि सम्यग्दृष्टि-पशुओंका ज्ञान भी आत्मोपयोगी एवं स्वानुभवयुक्त होनेसे सराहनीय है, और मिथ्यादृष्टि एक बड़े विद्वान्का ज्ञान भी आत्मानुपयोगी एवं स्वानुभवशून्य होनेसे सराहनीय नहीं है। इसलिये वाह्यपदार्थों के जानने न-जाननेसे ज्ञानमें सम्यक्-मिथ्यापन नहीं आता किंतु प्रयोजनीभूत (आत्मोपयोगी) पदार्थों की अभिरुचि (प्रतीति) करनेसे ही सम्यक्-मिथ्यापन आता है। फिर देशनालब्धिको जो सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण कहा गया है, उसका प्रयोजन यह है कि जिस-समय आत्मासे मोहनीयकर्मका प्रभाव कुछ मन्द हो जाता है अर्थात् जब कुछ कर्मों की स्थितिमें और रसोदयमें मन्दता आ जाती है तथा परिणामोंमें विशुद्धता आ जाती है, उससमय किसी सद्गुरुका सदुपदेश मिलने पर आत्मा [1]करणत्रय (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) माडनेके योग्य परिणामोंवाला बन जाता है। अर्थात् देशनालब्धिसे आत्मा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उन्मुख हो जाता है यदि उससमय उसके कर्मों की स्थिति एवं रसोदय मन्द न हो तो उस देशनालब्धिका कुछ फल नहीं हो सकता, और जिस समय कर्मों के उदयकी मन्दता हो उस समय उसे सदुपदेशकी

१ करणत्रयका स्वरूप आगे सम्यक्त्वके स्वरूपमें कहा जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति न हो तो भी उस आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। इसी-लिये देशनालब्धिको सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण बतलाया गया है। देशना-लब्धि सम्यग्दर्शनके पूर्वज्ञानकी अवस्था है; इसलिये स्वानुभवशून्य होनेसे वह मिथ्याज्ञान है परन्तु सद्गुरुका उपदेश होनेसे वह आत्मोपयोगी पदार्थोंका यथार्थ बोध है एवं सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण है; इसलिये उसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जाता है। यदि देशना मिथ्याज्ञान ही हो तो मिथ्या-दृष्टिकी आत्मामें आत्मोपयोगी पदार्थोंके परिज्ञानसे होनेवाले स्वानुभूति-प्राप्तिके योग्य विशुद्ध परिणाम कभी नहीं हो सकते। इसलिये देशना-लब्धि व्यवहारदृष्टि से सम्यग्ज्ञान तथा निश्चयदृष्टिसे मिथ्याज्ञानरूप है।

इस समस्त कथनसे, जिसप्रकार सम्यग्ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शन उपादेय है, उसीप्रकार सम्यक्चारित्रके पहले सम्यग्ज्ञान उपादेय है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर तीनोंकी प्राप्ति एकसाथ होती है—जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसीसमय उसमें सम्यग्ज्ञान और स्वानुभवरूप स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होते हैं, फिर भी जो तीनोंकी क्रमप्राप्तिका विधान कियागया है वह विशेष विवक्षासे किया गया है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भजनीय (प्राप्तव्य, प्राप्त करनेयोग्य) हैं। सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानमें उत्पन्न हो जाता है और प्रतिपक्षी कर्मके सर्वथा क्षय होनेसे प्रगट होनेवाली पूर्णता सातवें अप्रमत्तगुणस्थान तक [१]पूर्ण (क्षायिक) प्रगट हो जाती है; उसके पूर्ण होनेपर भी सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता नहीं हो पाती इसलिये वह सम्यग्-दर्शनके पीछे भजनीय बना रहता है। सम्यग्ज्ञान भी चौथे गुणस्थान से प्रगट होकर तेरहवें गुणस्थान (सयोगकेवली) के प्रथमक्षणमें— प्रारंभ-कालमें ही पूर्ण (सर्वज्ञ) ज्ञान हो जाता है। उसके पूर्ण होनेपर भी

१. क्षायिकसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें हो जाता है। और वह फिर कभी आच्छादित नहीं होता, सिद्धोंमें भी बना रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्चारित्र भजनीय बना रहता है। सम्यक्चारित्र पांचवेंसे व्यक्त होता है और बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानमें पूर्ण हो जाता है। यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'सम्यक्चारित्र जब क्षीणकषायमें ही पूर्ण हो जाता है और सम्यग्ज्ञान तेरहवेंमें पूर्ण होता है, तो इससे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्र होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, परंतु सम्यग्ज्ञान के पीछे चारित्रको भजनीय कहा गया है यह कैसे हो सकता है ?' इसका उत्तर यह है कि सम्यक्चारित्र यद्यपि बारहवें गुणस्थान तक पूर्ण हो जाता है परंतु जिसे परमावगाढ़ चारित्रकी पूर्णता कहते हैं जोकि मोक्षप्राप्तिमें साक्षात् (पूर्वक्षणवर्ती) कारण पड़ता है, उसकी पूर्ति चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थानमें ही होती है; उसके पहले नहीं होती। क्षीणकषायमें प्रतिबंधी कषायोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे यद्यपि पूर्णचारित्र प्रगट हो जाता है परंतु फिर भी योग आदिक शक्तियोंके विभावपरिणमनके रहनेसे एवं समस्त आत्मीयगुणोंमें तादात्म्यसंबंध (एकत्वभाव) होनेसे चारित्र भी चरम[1] विशुद्धिके लिये भजनीय बना रहता है। सम्यक्चारित्रकी परम (चरम) श्रेणीकी महाविशुद्धि यही है कि समस्त आत्माके गुणोंका विशुद्ध हो जाना। जहांतक एक भी गुण विभाव अवस्थामें रहेगा, वहांतक

१. इस चरमविशुद्धि एवं परमावगाढ़ताको संबंधविशुद्धिके नामसे कहा जाय तो और भी उत्तम है। कारण चारित्र तो परम विशुद्ध एवं परम पूर्ण क्षीणकषायमें ही हो चुका, परन्तु दूसरे गुणोंकी पूर्ण निर्मलता (स्वभाव अवस्था) प्रगट न होनेसे केवल संबंध होनेसे सम्यक्चारित्रकी परमावगाढ़ताका निषेध किया गया है इस संबंधजनित दोषको छोड़कर चारित्रमें निश्चयसे कोई दोष नहीं रहा है। ऐसे दोषको आनुषंगिकदोषके नामसे कहा जाता है। जैसे किसी परम सज्जन भद्रपुरुषका पुत्र जूआ आदि व्यसनोंमें फँसकर पकड़ा जाय तो उसके उस भद्र पिताको भी पकड़ लिया जाता है, वास्तवमें पिता तो सर्वथा निर्दोष है परन्तु सम्बन्धी होनेसे उसे भी उस दोषी पुत्रके साथ में फँसा लिया जाता है; इसीप्रकार प्रकृत में समझ लेना चाहिये। योगके दोषी होनेसे चारित्र भी दोषी समझा गया है, वास्तवमें वह दोषी नहीं है और सभी गुणोंके अभिन्न होनेसे एक गुणकी अशुद्धिमें दूसरा निर्मलगुण भी अपनेको स्वतन्त्र मोक्षस्थान पर ले भी तो नहीं जा सकता। इसलिये सबोंकी निर्मलता होनेपर ही पूर्ण निर्मलता समझी जायगी। जिसप्रकार शरीरके किसी एकदेशमें कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो कहा यही जायगा कि 'इसका शरीर रोगी है'। समस्त शरीरमें रोग न होनेपर भी अभिन्नतावश उसे भी रोगीकी श्रेणीमें शामिल होना पड़ता है; उसीप्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्चारित्र भी परमावगाढ़ श्रेणीतक नहीं पहुंच सकेगा। इसलिये क्षीणकषायमें सम्यक्चारित्रके पूर्ण होनेपर भी सयोगकेवली तक योगशक्ति विभावरूप धारण करती रहती है, तबतक सम्यक्चारित्र भजनीय बना रहता है। इसीसे सम्यग्ज्ञान होनेपर सम्यक्चारित्रको भजनीय कहा गया है। जहां सयोगीके अंत होने पर योगगुण स्वभाव अवस्थामें परिणमन करने लगा, वही अयोगी गुणस्थानमें आत्मा अवशिष्ट कर्मोंका, व्युपरत-क्रियानिवृत्ति नामा परमशुक्लध्यानसे, एकदम ध्वंस करके अंतर्मुहूर्तमात्र में अविनश्वर धाम सिद्धालयमें जा विराजता है।

इसलिये जैनसिद्धांतमें जो रत्नत्रयको मोक्षप्राप्तिका कारण बतलाकर तीनोंका क्रम रक्खा है, वही युक्तियुक्त है। उस क्रमके विपरीत यदि पहले सम्यग्ज्ञानको उपादेय कहा जाय, पीछे सम्यग्दर्शनको कहा जाय, अथवा सम्यग्ज्ञानके पूर्व सम्यक्चारित्रको उपादेय बतलाया जाय, तो वह न सिद्ध ही हो सकता है और न उपादेय श्रेणीतक ही पहुंच सकता है। विपरीत क्रम युक्ति प्रमाण दोनोंसे बाधित है। इसलिये "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यही दिगम्बर जैनसिद्धांत-निर्दिष्ट क्रम उपादेय एवं मोक्षका साधक है।

सम्यग्दर्शनका लक्षण और स्वरूप

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यं।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जीवाजीवादीनां) जीव अजीव आदिक (तत्त्वार्थानां) तत्त्वोंका (विपरीताभिनिवेशविविक्तं) मिथ्या अभिप्रायरहित—मिथ्याज्ञानरहित—जैसेका तैसा (सदैव) सदा ही (श्रद्धानं) श्रद्धान—विश्वास—अभिरुचि—प्रतीति (कर्तव्यं) करना चाहिये, (तत्) वही श्रद्धान (आत्मरूपं) आत्माका स्वरूप है, अथवा आत्मस्वरूप है अर्थात् आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण यहांपर तत्त्वार्थश्रद्धान किया गया है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्रकार श्रीउमास्वामिमहाराजने भी यही लक्षण किया है। 'रत्न-करंडश्रावकाचार' के कर्ता श्रीसमंतभद्राचार्यने देवशास्त्रगुरुके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। आचार्यों के शिरोमणि श्रीकुंदकुंदस्वामीने स्वानुभूति-को ही सम्यक्त्व बतलाया है। इत्यादि रूपसे सम्यक्त्वके अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं। इनमें कौनसा लक्षण सुघटित एवं यथार्थ समझा जाय, तथा कौनसा अनुपयुक्त समझा जाय, और सम्यक्त्वके लक्षणमें इसप्रकार का मतभेद क्यों हुआ? इन प्रश्नोंको वे पुरुष उठाये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके अंतरंग भाव पर गहरी दृष्टि नहीं डाली है। जो विद्वान् सम्यग्दर्शनके लक्षणकी गहरी गवेषणा कर चुके हैं उन्हें फिर ऊपर कियेगये लक्षणभेद एवं मतभेद सब एक ही प्रतीत होते हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो उपर्युक्त सभी लक्षण एक ही हैं, केवल शब्दभेदसे भिन्नभिन्न प्रतीत होते हैं। 'क्यों एक हैं?' इसका खुलासा इसप्रकार है,—सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर विदित होता है कि ऊपर कहे-गये सभी सम्यक्त्वके लक्षण ज्ञानरूप पड़ते हैं; क्योंकि जीवादिक तत्त्वोंका श्रद्धान करना यह ज्ञानकी ही पर्याय है। यद्यपि विश्वासमें और ज्ञानमें स्थूलरीतिसे भेद मालूम होता है, परंतु जैसेका-तैसा श्रद्धान करनेका यही अभिप्राय है, कि पदार्थों का जो वास्तविक स्वरूप है उसे पहचान कर उसपर दृढ़ रहना चाहिये। अथवा देवगुरुशास्त्रका जो सच्चा स्वरूप है उसे विदित कर उसीपर दृढ़ रहना चाहिये। यह दृढ़ता दृढ़ज्ञान एवं संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय-रहित निश्चल ज्ञानको छोड़कर दूसरी वस्तु नहीं पड़ती है अर्थात् पदार्थों के ठीक ठीक ज्ञान पर ही दृढ़ बने रहना, कभी उससे विचलित नहीं होना, इसी ज्ञानकी पर्यायको सम्यक्त्वके लक्षणके नामसे कहा गया है। वास्तवमें सम्यक्त्वका लक्षण मानसे भिन्न ही है, वह अवक्तव्य है, वचनके अगोचर है। इस संबधमें 'पंचाध्यायी' नामक शास्त्रके दूसरे अध्यायमें श्रीअमृतचंद्रसूरिने कहा है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरः।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारो विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥ (अध्याय २)
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरं।
गोचरं स्वावधिस्वांतपर्ययोः ज्ञानयोः द्वयोः ॥ ३७५ ॥ (अध्याय २)

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शनगुण वास्तवमें बहुत सूक्ष्म है, वह वचनोंसे नहीं कहा जा सकता; इसलिये उसे न तो कोई कह ही सकता है और न कोई सुन ही सकता है। जो पदार्थ वचनातीत है, उसे कहने सुननेका किसीको अधिकार ही नहीं है। यह सम्यक्त्व केवल-ज्ञानके गोचर है तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भी गोचर है। परन्तु मतिज्ञान,श्रुतज्ञानके गोचर नहीं है। अवधिज्ञानमें भी परमावधि सर्वावधि इन दो अवधियोंसे ही प्रत्यक्ष होता है—देशावधिसे नहीं होता। अर्थात् सम्यग्दर्शनके स्वरूपको अथवा सम्यग्दृष्टिके उस सम्यक्त्वगुणसे विभूषित आत्माको केवलज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी तथा परमावधि सर्वावधिवाले वीतरागी मुनिराज ही जानते हैं, देशावधि और मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी उस सूक्ष्मस्वरूपके जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं। 'सम्यग्दर्शन वचनोंसे क्यों नहीं कहा जा सकता?' इसका उत्तर यह है कि ज्ञानको छोड़कर सभी गुण निर्विकल्पक हैं, ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो सविकल्पक है, एवं स्वस्वरूप परस्वरूपका प्रकाशक है। इसलिये सम्यग्दर्शनके निरूपण करने की वचनोंमें योग्यता ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें सम्यक्त्वका स्वरूप ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है, और ज्ञानके द्वारा ही विवेचन किया जा सकता है। ज्ञानका आश्रय लेकर ही आचार्योंने उस वचनातीत भी, सम्यक्त्वका स्वरूप यह बतलाया है कि जिससमय सम्यक्त्वके अविनाभावी अथवा सहवर्ती ज्ञानविशेषका प्रादुर्भाव हो जाय, उससमय समझलो कि आत्मामें सम्यक्त्व प्रगट हो गया। जिसप्रकार एक अन्धे आदमीको आम्र-फलके पीलेपनका बोध करानेके लिये यह कहा जाता है कि 'जिससमय उस आम्रफलमें खट्टेपनेको लियेहुए गंध न रहे किंतु मीठेपनेको लियेहुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुगंधि आने लगे, उससमय जान लेना चाहिए कि आम पीला हो चुका।' यह एक निर्णीत विषय है कि एक पदार्थका बोध उसके सहभावी दूसरे पदार्थसे सहज किया जाता है। उसीप्रकार सम्यक्त्व यद्यपि निर्विकल्पक है, फिर भी उसका परिज्ञान उसके सहभावी ज्ञानविशेषसे सहज कर लिया जाता है। वह ज्ञानविशेष स्वानुभूतिके नामसे विख्यात है। अर्थात् स्वानुभूत्यावरणकर्मके क्षयोपशमसे—मतिज्ञानावरणकर्मका विशेष क्षयोपशम होनेसे जो आत्माका साक्षात्कार करनेवाली स्वानुभूति उत्पन्न होती, है वह सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके सहभावमें ही होती है। इसलिये जिससमय आत्मामें स्वानुभव होने लगे, उससमय समझ लेना चाहिये कि आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका। इस स्वानुभूतिका सम्यक्त्वके साथ सहभाव होनेसे अर्थात् समव्याप्ति[1] होनेसे स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्वको लक्षण कह दिया गया है। जैसे श्रीसमयसारकार आचार्यप्रमुख श्रीकुंदकुंदस्वामीने स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कहा है। श्रीसर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपाद श्रीपूज्यपाद महाराजने भी सम्यक्त्वका अंतरंगलक्षण यही कहा है कि "आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्" अर्थात् आत्माकी विशुद्धिविशेष ही अंतरंग-सम्यक्त्व है। यद्यपि स्वानुभूति ज्ञानकी पर्याय है, वह सम्यक्त्वसे भिन्न वस्तु है; फिर भी सम्यक्त्वका सहभावी ज्ञानका परिणाम है, इसलिये उसे ही सम्यक्त्वके स्वरूपका द्योतका कहा गया है अथवा सम्यक्त्वस्वरूप मान लिया गया है। जहां स्वानुभूति आत्मामें प्रगट हुई वहां आत्मीय सच्चे

---

१. जिसके होने पर जो हो, उसे व्याप्ति कहते हैं। अर्थात् दो पदार्थों के अविनाभावसंबन्धका नाम ही व्याप्ति है। वह व्याप्ति कहीं सम होती है, कहीं विषम। जहाँ इकतरफा एक पदार्थका दूसरेके साथ अविनाभाव होता है, वहाँ विषमव्याप्ति कहलाती है। जैसे—धूमका अग्नि के साथ अविनाभाव है, वह इकतरफा है, क्योंकि धूम तो अग्निके साथ रहता है, वह उसे छोड़कर नहीं रह सकता। परंतु अग्निका धूमके साथ अविनाभाव नहीं है, अग्नि धूमको छोड़कर भी अयोगोलक (अग्निसंतप्त लोहे) आदि में रहती है जहाँ दोनों ओरसे अविनाभाव होता है, वहाँ समव्याप्ति कहलाती है। जैसे—जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप-रस-गन्ध अवश्य होंगे, जहाँ-रूप-रस-गन्ध होंगे वहाँ स्पर्श अवश्य होगा। इसी प्रकार सम्यक्त्व और स्वानुभूति में समव्याप्ति है। एक किसीके अभावमें दूसरा नहीं रह सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखका एकदेश (एकअंश) भी प्रगट हो जाता है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंको सिद्धोंकी तुलना दी जाती है; कारण जिस आत्मीय सच्चे सुखका पूर्ण अनुभव सिद्धभगवान् एवं अर्हत्परमेष्ठी करते हैं, उसी सुखका एकदेश अनुभव सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। चाहे मनुष्य हो, चाहे देव हो, चाहे तिर्यंच हो और चाहे नारकी हो, किसी भी पर्यायमें जीव क्यों न हो, सम्यग्दृष्टिकी अवस्थामें वह वहीं आत्मीय सुखका अनुभोक्ता बन जाता है। जब अंतरंगमें सम्यग्दृष्टिमात्रके स्वानुभूतिका होना अवश्यम्भावी है, तब वाह्यमें उसका [1]उपलक्षण चाहे देवगुरुशास्त्रका श्रद्धान कहा जाय, चाहे तत्त्वार्थश्रद्धान कहा जाय, चाहे प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य कहा जाय; सभी अभिन्न पड़ते हैं, किसीमें कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिस जीवके तत्त्वार्थश्रद्धान होगा, उसके देवगुरुशास्त्रका श्रद्धान अवश्य होगा। जिसके देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान होगा, उसके तत्त्वश्रद्धान अथवा आस्तिक्यादिक भाव भी अवश्य होंगे। कारण जो देवशास्त्रगुरु पर पूर्ण श्रद्धान रखता है, वह सर्वज्ञदेव-कथित आचार्य-वचनों (जिनवाणी) पर पूर्ण विश्वासी अर्थात् तत्त्वश्रद्धानी अवश्य होता है। इसीप्रकार जो तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धानी है, वह देवगुरुशास्त्रका भी अवश्य श्रद्धानी है; कारण देवगुरुशास्त्र भी तो तत्त्वोंमें आ चुके, इसलिये तत्त्वश्रद्धानी, देव-गुरुशास्त्र-श्रद्धानी, दोनों ही एक अर्थके द्योतक हैं। किसी एकके कहनेसे दोनों तीनों वाह्यलक्षणोंका समावेश हो जाता है। जो देवगुरुशास्त्रका श्रद्धानी है, तत्त्वार्थश्रद्धानी है, उसके परिणामोंमें प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्यभावोंका संचार होता ही रहता है। इसलिये जो भिन्न भिन्न सम्यक्त्वके वाह्यलक्षण हैं वे सब एक ही हैं, केवल शब्दनिरूपणामें भेद है। इतना अवश्य है कि ये सभी वाह्यलक्षण स्वानुभूतिके सद्भावमें सम्य-क्त्वस्वरूप हैं, बिना स्वानुभूतिके सम्यक्त्वके कारणरूप हैं। ऐसी अवस्थामें

१. लक्ष्यके लक्षणको भी उपलक्षण कहते हैं; और उपचरित लक्षणको भी उपलक्षण कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण-कार्यकी अभेदविवक्षा रखकर उन्हें सम्यक्त्वके लक्षणमें प्रगट किया गया है। यह नियम नहीं है कि तत्त्वार्थश्रद्धान आदिके होनेपर अंतरंग-सम्यक्त्व हो ही हो। बिना सम्यक्त्वके प्रादुर्भाव हुए भी बाह्यश्रद्धानादिक होते हैं। इसीलिये उन्हें उपलक्षण (उपचरितलक्षण) कहा गया है। जहां सम्यक्त्वके होनेपर श्रद्धानादिक पाये जाते हैं वहां वे उपलक्षण (लक्षणके लक्षण) हैं। सम्यक्त्वका लक्षण स्वानुभूति है, और स्वानुभूति के लक्षण श्रद्धानादिक हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान किसे कहते हैं, इसका खुलासा इसप्रकार है,—'तत्त्व' नाम पदार्थके भाव (धर्म) को कहते हैं, 'अर्थ' नाम निश्चय करनेका है। जो भावरूपसे निश्चित किया जाय उसे तत्त्वार्थ कहते हैं, अर्थात् जो जिस वस्तुका धर्म है, भाव है, उस धर्मको लिये हुए उस वस्तुको निश्चय करनेका नाम ही तत्त्वार्थ है। 'जो जिस धर्मको लिये हुये है' ऐसा यदि नहीं कहा जाय तो यह दोष होगा कि जिस वस्तुका जो स्वरूप नहीं है उस रूपसे भी उसका श्रद्धान किया जा सकता है अर्थात् विपरीत श्रद्धान भी सम्यक्त्वका लक्षण ठहरेगा। इसलिये अपने स्वभावको लिये हुये वस्तुका श्रद्धान करना ही यथार्थश्रद्धान है। वस्तुके यथार्थश्रद्धानका नाम ही तत्त्वार्थश्रद्धान है। तत्त्व जगत्में सात ही हैं; न ज्यादा हैं, न कमती हैं। इन्हीं सात तत्त्वोंमें जगत्के समस्त पदार्थ गर्भित हैं। ये सात भेद भी जीवकी विशेष पर्यायोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं, मूलमें दो ही तत्त्व हैं—१—जीव और २—अजीव। यदि भेदनिरूपणसे मूल तत्त्वोंका विचार किया जाय तो छह भेदोंमें समस्त तत्त्व आ जाते हैं। वे छह भेद—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। हमारे नेत्रों से जितने पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, वे सब एक ही पुद्गलतत्त्वके विकार हैं। नेत्रोंसे जो भी पदार्थ दीखते हैं वे सब रूपवाले हैं, जो रूपवाले हैं वे सब पुद्गलके भेद हैं। इसी प्रकार कानसे सुने जानेवाले शब्द, नाक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सूंघे जानेवाले सुगन्धित दुर्गन्धित पदार्थ, जीभसे स्वादमें आनेवाले खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन, आदि पदार्थ एवं शरीरद्वारा स्पर्श होनेवाले हलके, भारी, कोमल, कठोर, रूखे, चिकने, ठंडे, गरम आदि जितने भी हैं, रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले हैं; इसलिये सभी पुद्गलके स्कंध हैं। बहुतसे पुद्गल ऐसे भी हैं जो हमारी इंद्रियोंसे जाने भी नहीं जा सकते; जैसे कि कार्माणवर्गणायें, नोकार्माणवर्गणायें आदि सूक्ष्मस्कंध। कुछ दार्शनिक लोग ऐसा मानते हैं—'पृथिवीके परमाणु भिन्न हैं, जलके भिन्न हैं, अग्निके भिन्न हैं, वायुके भिन्न हैं; इसलिये वे चारों ही जुदे जुदे चार द्रव्य हैं।' परन्तु ऐसा उनका मानना युक्तिसे एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित है। देखने में आता है कि लकड़ी ही जलकर अग्नि बन जाती है। अग्निके परमाणु ही जलजलाकर भस्मरूपमें आकर पृथिवीका रूप धारण कर लेते हैं। जल आपात के निमित्तसे बाफ बनकर वायुरूपमें उड़ जाता है। दो वायुओंके मिल जानेसे जल जाता है, एवं जलसे ओलेरूप पत्थर बन जाते हैं। बरफ-रूप पत्थरसे और पहाड़ोंसे जलकी उत्पत्ति हो जाती है। दो बांसोंकी रगड़से वहींके परमाणु अग्निरूप धारण कर लेते हैं। मिट्टीका (किरासिन) तेल कोयलोंमें निकलता है, इसलिये पृथ्वीसे जल बन जाता है; एवं स्वयं जलरूप होकर भी अग्निके साथ अग्निरूप धारण कर लेता है। टेलीग्राफ (तार, शब्द भेजनेका यन्त्र) आदिके द्वारा जो शब्द निकलता है, वह मध्यवर्ती सूक्ष्मपरमाणुओंको बिजलीकी टक्करसे शब्दरूप बनाता जाता है इत्यादि अनेक उदाहरणोंसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि जल अग्नि पृथ्वी वायु सब एक ही द्रव्यके निमित्त पाकर होनेवाले विकार हैं। जल अग्नि आदिमें नामोंवाले जुदेजुदे चार द्रव्य नहीं है। आजकल विज्ञानवादियों (साइन्टीफिकों) ने पृथिवी जल आदि अनेक भिन्न-भिन्न स्कंधोंको मिश्रण द्वारा (मिलाकर) एकका दूसररूप परिणमन प्रत्यक्ष कर दिखाया है। जैनसिद्धांत तो अनादिसे रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थोंको एक पुद्गलद्रव्यकी ही पर्याय कहता आया है। इसलिये ऊपर कहे हुये सिद्धान्तके अनुसार छुये जानेवाले, गंध देनेवाले, चखे जानेवाले एवं देखे जानेवाले (रंगवाले) जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको पुद्गल-द्रव्य समझना चाहिये।

दूसरा द्रव्य है धर्मद्रव्य। यह द्रव्य उस धर्म से जुदा है जो कि जीवका परिणाम है। जो जीवका परिणाम धर्म है, वह द्रव्य नहीं है किंतु जीवके चरित्रगुणकी पर्याय है। जीवोंको पुण्यरूप फल इसी जीवके परिणाम (धर्मपर्याय) से मिलता है। परन्तु ऊपर जिस धर्मका उल्लेख किया गया है, वह पर्याय नहीं है किंतु छह द्रव्योंमें एक द्रव्य है। वह जीवका परिणाम नहीं है किंतु अजीव है, जड़ है। जीवका परिणामरूप जो धर्म है वह व्युत्पादित शब्द (योगज) है। उसका अर्थ होता है– "जो सुखमें धारण करे वह धर्म कहलाता है"। जीवको स्वर्गादिके सुखोंमें धारण करनेवाला जीवका ही शुभ परिणाम है। इसलिए उसीका नाम धर्म है। परन्तु 'धर्म'द्रव्य योगज शब्द नहीं है किंतु रूढ़ि है। एक द्रव्य विशेषकी एक धर्मसंज्ञा नियत है। वह जीवसे सर्वथा भिन्नपदार्थ है। रूप-रस-गंध-स्पर्श उसमें भी नहीं पाये जाते हैं, वह भी अमूर्त है– इन्द्रियोंसे नहीं जाना जाता। वह समस्त लोकमें व्याप्त है। लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं उन सबमें उसके प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं। परन्तु वह धर्मद्रव्य एक ही द्रव्य है, उसके प्रदेश असंख्यात हैं। द्रव्य असंख्यात नहीं है, द्रव्य एक ही है। उसका कार्य यही है कि जिससमय जीव या पुद्गल चलने लगें उससमय उन्हें चलनेमें सहायता देना। जब जब जीव पुद्गल कोई क्रिया करेंगे, तभी तभी धर्मद्रव्य उन्हें क्रियामें सहकारी कारण पड़ जायगा। बिना धर्मद्रव्यकी सहायताके कोई द्रव्य हिल भी नहीं सकता। इतना विशेष है कि सहायतायें दो प्रकारकी होती हैं। एक सहायता प्रेरणा करनेवाली होती है, दूसरी उदासीन होती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे फुटबाल (गेंद) में धक्का देकर उसे दौड़ाया जाता है, गाड़ियां घोड़ोंकी शक्ति लगनेसे अथवा वाष्प (वाफ) या बिजलीकी शक्ति लगने से उनकी प्रेरणासे खींची जाती हैं। यह सहायता प्रेरक सहायता है। धर्म-द्रव्य ऐसी सहायता नहीं करता। वह केवल उदासीन कारण है। जीव पुद्गल उसकी प्रेरणासे नहीं चलते किंतु स्वयं चलते हैं। क्रिया करना, उन दोनोंका स्वभाव विभाव है; इसलिये क्रिया उनमें स्वयं होती है। जिससमय क्रिया उनमें होती है, उससमय धर्मद्रव्य उदासीन सहायक हो जाता है। उदासीन सहायक होनेसे कोई उसकी आवश्यकता न समझे, अथवा कल्पित द्रव्य कहने लगे तो उसकी भूल है। बहुतसे कारण उदासीन होते हैं; उदासीन होने पर भी उनके बिना काम नहीं चल सकता। जैसे—मनुष्य या पशुपक्षियोंके चलनेमें पृथ्वी या आकाश उन्हें सहायता देता है। उनके बिना क्या कभी वे चल-फिर सकते हैं ? कभी नहीं। परन्तु उन मनुष्य पशु पक्षियोंको आकाश और पृथ्वी प्रेरणा तो नहीं करती कि 'तुम चलो'। अथवा गाड़ीमें जुते हुए घोड़ों तथा बिजली आदिके समान प्रेरणा भी चलानेकी नहीं करते। रेलगाड़ी अथवा ट्राम-गाड़ी लोहेकी पटरियों पर चलती है; पटरियोंके बिना उन्हें बड़ा भारी शक्तिवाला एंजिन भी नहीं खींच सकता; क्योंकि गाड़ियां बहुत ही भारी होती हैं, वे जमीनमें खींचनेसे गढ़ जायंगी, सुगमतासे आगे नहीं बढ़ सकतीं। परन्तु पटरियों के बिछा देनेसे उनपर वे ढरकती हुई चली जाती हैं; इसलिये पटरियां गाड़ियोंके चलनेमें सहायता देतीं हैं। सहायता देने पर भी वे उन गाड़ियोंसे चलनेके लिये प्रेरणा नहीं करतीं। जल मछलियों के चलानेमें सहायता देता है, परन्तु उन्हें चलाता नहीं, मछलियां स्वयं चलती हैं। इन्हीं दृष्टांतोंके समान धर्मद्रव्य है, वह क्रिया करनेवाले जीव पुद्गलोंको क्रियामें सहायता देता है, परन्तु प्रेरणा नहीं करता। कदाचित् कोई यह शंका करे कि 'धर्मद्रव्य माननेकी आवश्यकता ही क्या है, चलनेमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायता जमीन एवं आकाश देता है ?' इस शंकाका उत्तर यह है कि जिसप्रकार आकाशद्रव्य हमारी इंद्रियोंसे नहीं जाना जाता है, वह केवल पोल मात्र है, तथा कालद्रव्य भी इन्द्रियोंसे नहीं जाना जाता है, परन्तु समस्त वस्तुओंको अवकाश मिलनेसे (ठहरनेका स्थान पा जानेसे) और सब वस्तुओंके स्वयं परिणमन करते रहने पर भी उनमें नवीनता और जीर्णता (पुरानापन) आनेसे, आकाश और कालद्रव्यको जगत्के प्रायः बहुभाग दार्शनिकोंने स्वीकार किया है। इसीप्रकार जगत्के समस्त जीव पुद्गलोंको बिना किसीके धक्के आदिके एकसाथ इधरसे उधर चलने फिरनेमें एक सहायकद्रव्य स्वीकार करना ही पड़ता है। जैसे—पदार्थ स्वयं स्थान ग्रहण करते हैं, परन्तु स्थान मिलना आकाशकी सहायताका फल है। नये पुराने स्वयं पदार्थ होते हैं परन्तु नयेपुरानेपनमें 'काल' सहायक पड़ जाता है। इसीप्रकार गमन स्वयं पदार्थ करते हैं, उनमें धर्मद्रव्य सहायक हो जाता है। धर्मद्रव्यके माननेमें दूसरा हेतु यह है कि जैन-सिद्धांत के अनुसार जैसी व्यवस्था पदार्थोंकी प्रमाणसिद्ध पाई जाती है, वैसे हेतु एवं साधन भी प्रमाणसिद्ध पाये जाते हैं। जैनसिद्धांतने लोक-अलोकका विभाग बतलाया है और जीवका गमन लोक-शिखर तक ही बतलाया है. आगे नहीं। इसीप्रकार पुद्गलका गमन भी लोक तक ही बतलाया है, आगे नहीं। बाकी कोई द्रव्य तो गमन ही नहीं करते, सदा-स्थिर ही रहते हैं। लोक-अलोकका विभाग करनेवाला एवं जीव पुद्गलको लोक-शिखर तक ही रखनेवाला धर्मद्रव्य ही है। यदि धर्मद्रव्य न माना जाय तो लोक-अलोकका विभाग भी नहीं हो सकता; विभाग होने पर जीव पुद्गलका गमन अलोकाकाशमें भी हो सकता है और वैसी अवस्था-में पदार्थोंकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि 'व्य-वस्था बनो या न बनो, लोक-अलोकका विभाग बनो या मत बनो, जीव पुद्गल लोक-शिखर तक ठहरो या आगे चले जाओ; परन्तु युक्तिप्रमाण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध ही पदार्थ माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। धर्मद्रव्य क्या युक्तिप्रमाण से उनका साधक है ? और साधक है, तो किस प्रकार ?' उत्तर—लोकअलोक का विभाग नीचे लिखे अनुमानसे मानना ही पड़ता है,—

"लोकालोकविभागोस्ति, लोकस्य सांतत्वात् वनपर्वतादिवत्। लोकः सांतः, रचनात्मकत्वात् गृहादिवत्। लोकः रचनात्मकः आकारवत्त्वात् घटपटादिवत्। यत् खलु विभाग सीमांते पदार्थनियोजकं, तद् एव धर्मद्रव्यं तेनैव जीवद्रव्यस्य पूद्गलद्रव्यस्य वा लोकाकाशाद्बहिर्गमनं न संभाव्यत इति विद्वद्भिर्निश्चेतव्यम्।" अर्थात् लोक-अलोकका विभाग अवश्य मानना पड़ता है, क्योंकि लोकका अंत है। जिन जिन वस्तुओंका अंत होता है, उनका विभाग अवश्य होता है; जैसे वन, पर्वत, नदी आदिका अंत होता है, जहां उनका अंत है वही उनका विभाग है। इसीप्रकार लोकाकाशका अंत होता है। अंत होनेसे जहां लोकाकाश समाप्त होता है, वहीं अलोकाकाशका प्रारंभ होता है। लोकका अंत होता है, यह बात भी माननी पड़ती है, क्योंकि वह रचनावाला है। जितने रचनावाले पदार्थ होते हैं, वे सब अंतवाले होते हैं; जैसे घर, गांव, शहर आदि रचनावाले पदार्थ हैं, इसलिये इन सबका कहीं न कहीं अंत अवश्य होता है। लोक भी रचनावाला है, ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और पाताललोकमें भिन्न भिन्न रचनायें हो रही हैं, रचनात्मक होनेसे उसका अंत अवश्य होता है। लोककी रचना भी देखनेमें आती है; क्योंकि वह भिन्न भिन्न आकारवाला है। पाताललोक वेत्रासन (बेतके बने आसन—मूंड़े) के समान है, मध्यलोक झल्लरीके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदंगके समान आकारवाला है, तीनों लोक कटिप्रदेशमें दोनों हाथोंको रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है। जितने पदार्थ आकारविशेषवाले होते हैं, वे सब रचनावाले होते हैं। जैसे, घड़ा, कपड़ा, चौकी आदि पदार्थ आकारविशेषवाले हैं वे सब रचनात्मक हैं, उसीप्रकार लोक भी आकारविशेषवाला है इसलिये वह भी रचनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसप्रकार लोक आकारवान होनेसे [१]रचनावाला सिद्ध होता है, रचनावाला सिद्ध होनेसे अंतवाला सिद्ध होता है, अंतवाला सिद्ध होनेसे वह विभागवाला सिद्ध होता है। जहां लोकका अंत होता है (वहीं लोक अलोकका विभाग, भेद) सिद्ध होता है। लोकका अंत कहां होता है ? इसका विचार करनेसे विदित होगा कि जहांतक धर्मद्रव्य है, वहांतक लोक है; जहां धर्मद्रव्यकी समाप्ति है, वहीं लोककी समाप्ति है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीवपुद्गलोंका गमन भी लोकशिखर तक (लोकाकाशके अंततक) ही होता है; क्योंकि वहींतक धर्मद्रव्यद्वारा उन्हें गमनमें सहायता मिलती है। इसलिये जो पदार्थ लोकमें स्थिर हैं वे तो स्थिर हैं ही, परंतु जो गमन करते हैं वे भी लोकके अंततक ही जा सकते हैं, बाहर नहीं। कारण, गमनमें सहायता देनेवाला धर्मद्रव्य लोक तक ही है। इसलिये धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल ये पदार्थ लोकमें ही पाये जाते हैं, बाहर नहीं। लोकके बाहर केवल आकाश अवशिष्ट रहता है; क्योंकि वह अनंत है एवं व्यापक है और द्रव्य जो अनंत भी हैं, वे सर्वत्र व्यापक नहीं हैं। जो अनंत नहीं हैं किंतु एक होतेहुए असंख्यातप्रदेशी हैं अथवा असंख्यात द्रव्यरूप हैं, वे सब असंख्यातप्रदेशीक्षेत्र तक अर्थात् लोक तक रहते हैं। आकाश एक ऐसा द्रव्य है जो अनंतव्यापक होनेसे लोक अलोकमें सर्वत्र रहता है। वास्तवमें आकाशद्रव्य दो नहीं हैं, वह एक ही सर्वत्र है; केवल धर्मद्रव्यके निमित्तसे लोकाकाशका विभाग होनेसे वह (आकाश) दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गया है। इस उपर्युक्त लोक अलोक विभागसे धर्मद्रव्यकी पूर्ण आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। इसलिये पहले

---

१. रचनात्मक होनेसे लोक किसी ईश्वर या परमात्माद्वारा बनाया गया सिद्ध होता है, ऐसा समझना केवल भ्रम है। यह नियम नहीं है जो कि रचनावाले पदार्थ हैं, वे सब किसी चेतनाद्वारा बनाये गये हों। पर्वत, सूर्य, चंद्र, समुद्र, जंगल आदि सभी रचनावाले होनेपर भी स्वयं अपने कारणोंसे (पुद्गलस्कंधोंसे)बने हुए हैं, उनका बनानेवाला कोई चेतन कर्ता नहीं है। उसीप्रकार लोक भी अनादिनिधन है; उसका बनानेवाला कोई नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो यह कहा गया है कि जैनधर्मने जैसी व्यवस्था पदार्थोंकी स्वीकार की है, उसके अनुसार उनकी योजना भी (कारणकलाप-सामग्री) संतोषप्रद बतलायी है। अर्थात् जिसप्रकार जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव मानकर भी उसे लोकके अग्रभागमें ठहरा हुआ बतलाया है, उसीप्रकार 'आगे क्यों नहीं गमन करता' इसका समाधान भी सकारण एवं सयुक्तिक बतलाया है। जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव तो माना जाय, परन्तु धर्मद्रव्यकी सहायताका कुछ विचार न किया जाय, तो पदार्थव्यवस्थामें कभी संतोष नहीं हो सकता। जैनधर्मने पदार्थका यथार्थ विवेचन किया है; क्योंकि वह सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। इसीलिये जैनधर्ममें ऐसी मिथ्या एवं प्रमाणबाधित व्यवस्था नहीं है कि 'लोककी रचना ईश्वरने की है, लोकको वह बनाता है फिर बिगाड़ देता है।' ये सब बातें प्रमाणबाधित हैं। जैनधर्मने जितना पदार्थस्वरूप बतलाया है, वह सकारण सयुक्तिक एवं प्रमाणसिद्ध बतलाया है। धर्मद्रव्य यद्यपि परोक्षपदार्थ है, वह अमूर्तिक होनेसे इंद्रियग्राह्य नहीं है, आगम-प्रमाणसिद्ध है, तो भी युक्तिसे उसकी सत्ता सिद्ध होती है। वास्तवमें विचार किया जाय तो जैनधर्मके मर्म जाननेवालोंको वस्तुस्वभाव पर संतोष करना होता है। वहां यह आंशका भी नहीं होती कि 'यह क्या माना गया, इसके बिना भी काम चल जाता।' ये सम्पूर्ण बातें यद्यपि युक्तिसे समझा देनेसे संतोष दिलाती हैं, परन्तु मूल संतोष पदार्थस्वरूपसे होता है। धर्मद्रव्य एक स्वतंत्र पदार्थ है, वह गमनमें सहायक होता है; यह एक वस्तुभाव है, उस स्वभावप्राप्त वस्तुस्वरूपके सामने 'यह न होता तो भी काम चल जाता' ये सब बातें व्यर्थ हैं। 'क्यों न होता और कैसे काम चल जाता' इसका भी उन तर्कशालियोंके पास कोई सदुत्तर नहीं है। तर्क तो उपस्थित व्यवस्थामेंसे ही किया जाता है; जबकि जीव पुद्गलमें गमनक्रिया स्वतंत्र देखनेमें आती है और सहायक उदासीनकारण भी आवश्यक साथ लगे हुए हैं (काल आकाश आदि), ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्थामें धर्मद्रव्यकी सहायताका विधान भी मानना पड़ता है। जब अन्य पदार्थों की व्यवस्था जैसी आगम-कथितहै, वैसी ठीक ठीक उपलब्ध हो रही है, तब धर्मद्रव्य की व्यवस्था भी आगम-कथित है, वह भी ठीक माननी ही चाहिये।

तीसरा द्रव्य है अधर्मद्रव्य। यह द्रव्य भी उस अधर्म से भिन्न है जो अधर्म जीवका अशुभ परिणाम है एवं पापफलका देनेवाला है। जीवका परिणाम अधर्म 'पर्याय' है, यह अधर्म 'द्रव्य' है। वह अधर्म चेतनका परिणाम होनेसे 'चेतन' है, यह 'जड़' है। धर्मद्रव्यका कार्य जो जीव पुद्गलके गमनमें सहायता देना बतलाया गया है, अधर्मद्रव्यका उससे सर्वथा प्रतिकूल है। अर्थात् वह जीव और पुद्गलोंको चलनेसे ठहरते समय ठहरानेमें सहायता करता है। यह भी ठीक वैसा ही उदासीन कारण है जैसा कि धूपका सताया हुआ पथिक किसी वृक्षकी शीतल छाया देखकर उसके नीचे बैठ जाता है; यदि मार्गमें वृक्षका आश्रय न मिले तो पथिकका ठहरना भी नहीं हो सकता, परन्तु वृक्ष उस ठहरते हुए पथिकको प्रेरणा भी नहीं करता कि वह वहां ठहरे ही। अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलोंके स्वयं ठहरनेपर उनके ठहरानेमें सहायक तो हो जाता है परंतु किसी प्रकारकी प्रेरणा नहीं करता। यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'चलनेवाले तो जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं, इसलिये धर्मद्रव्य तो उन दोनोंमें ही सहायक होता है; परंतु स्थिर होनेवाले तो छहों ही द्रव्य हैं, इसलिये अधर्मद्रव्य तो समी द्रव्योंके ठहरानेमें सहायक होना चाहिये, वह दो ही द्रव्योंमें क्यों सहायक कहा गया है?' इसका उत्तर यह है कि—जो सदासे स्थिर हैं वे तो स्थिर हैं ही, उनके लिये सहायककी आवश्यकता ही नहीं। जो चलतेचलते स्थिर होते हैं, उन्हींके लिये सहायककी आवश्यकता है। ऐसे दो ही द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल। अधर्मद्रव्य भी धर्मद्रव्यके समान असंख्यातप्रदेशी है और लोकाकाशमें व्याप्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी सिद्धि भी धर्मद्रव्यके समान समझ लेना चाहिये।

चौथा 'आकाशद्रव्य' है। यह द्रव्य एक है, अनंतप्रदेशी है। लोक अलोक सर्वत्र व्याप्त है। पदार्थों को अवगाह (स्थान) देना इसका कार्य है। आकाश भी धर्म अधर्मद्रव्योंके समान अमूर्तिक है। यदि कोई शंका करने लगे कि 'आकाश कुछ वस्तु नहीं हैं, पोलका नाम ही आकाश है, पोल खुले प्रदेशोंको कहते हैं अर्थात् खाली (रीते) स्थानको आकाश कहते हैं, वह अन्य वस्तुओंके अभावस्वरूप है।' इसका उत्तर यह है कि—जब जगत्की समस्त वस्तुओंकी खोज एवं गणना की जाती हैं, तब पोल जिसे कहते हैं उसकी भी किसी वस्तुमें सम्हाल करनी ही पड़ेगी। क्योंकि "जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमित्ताणि होंति परमत्था" जितने शब्द होते हैं, उतने ही उनके अर्थ होते हैं और संसारमें ऐसा कोई वाच्य (अर्थ) नहीं जो अभावरूप हो। इसलिये जो पोलके नामसे प्रसिद्ध है, वह भी एक भावरूप द्रव्य है। उसीका नाम आकाश है। आकाशद्रव्य प्रायः सभी दर्शनवालोंने स्वीकार किया हैं। इस द्रव्यके संबंधमें किसीको निषेध नहीं है; इसलिये इस द्रव्यकी विशेष सिद्धिकी आवश्यकता नहीं है।

पांचवां 'कालद्रव्य' है। यह द्रव्य असंख्यात है, लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालद्रव्य जुदा जुदा ठहरा हुआ है। हर-एक द्रव्यके समान इस द्रव्यका भी प्रतिक्षण परिणमन हुआ करता है, कालके एक क्षणवर्ती परिणमनको समय कहते हैं। वास्तवमें लोकमें जो समय समयका व्यवहार होता है, वह कालद्रव्यकी ही पर्याय है। प्रत्येक द्रव्यके परिणमनके साथ जो यह व्यवहार होता है कि 'अमुक वस्तु इतने समयकी है, अमुक वस्तु अमुक समयमें आई थी और अमुक समयमें चली गई, गतवर्षके समयमें हमने एक छात्र को पंचाध्यायी और राजवार्तिक ये दो ग्रन्थ पढ़ाये थे, उससमय परीक्षा देने पर वह छात्र पास भी उन ग्रन्थोंमें हुआ था' इत्यादि जो प्रत्येक वस्तुके साथ समयका व्यवहार होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका मूल कारण यही कालद्रव्य है; क्योंकि समय कहो अथवा काल कहो, ये दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं। यह कपड़ा इतने समयका है अथवा यह इतने कालका है। यह बालक वीर संवत् २४४० के समयका है अथवा यह बालक उस कालका है। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। कालद्रव्यकी प्रत्येक क्षणवर्ती पर्यायका नाम जब समय है तो उसका व्यवहार प्रत्येक द्रव्यकी क्षणवर्ती पर्यायके साथ होता है। क्योंकि हर-एक द्रव्यका परिणाम समय समयमें ही होता है, और उसमें काल उदासीन कारण है। इसलिये वास्तवमें समय कालद्रव्यकी एकक्षणवर्ती पर्याय होनेपर भी प्रत्येक द्रव्यकी क्षणवर्ती पर्यायोंके साथ व्यवहारमें आता है। यह [1]उपचरित प्रयोग है। यही उपचरित प्रयोग पल, घंटा, घड़ी, मुहूर्त, दिनरात, महीना, वर्ष, युग, कल्प इत्यादि नामोंसे व्यवहारमें आता है। यथार्थदृष्टिसे यदि विचार किया जाय, तो ये पल घड़ी घन्टा आदि कुछ भी नहीं हैं किंतु उस कालद्रव्यकी प्रतिक्षणवर्तीपर्याय जो समय है, उन्हीं समयोंकी क्रमसे अनेक संख्या बीतनेपर पल घन्टा घड़ी आदि नाम पड़ते जाते हैं। अन्यथा २४ घण्टोंका दिनरात होता है, और ३० दिनका महीना होता है, १२ महीनोंका वर्ष होता है; ये दिनरात, महीना, वर्ष आदि मूलमें कुछ तत्त्व नहीं है, किंतु समय समयकी पर्याय होनेसे अनेक समयों के बीतनेपर घण्टा नाम कहलाया, और २४ घण्टोंमें जितने समय होते हैं उतने क्रमसे बीतनेपर दिनरात कहलाया, ३० दिनरातमें जितने समय होते हैं उतने समय बीतनेपर महीना कहलाया, १२ महीनोंमें जितने समय होते हैं उनके बीतनेपर वर्ष कहलाया। इसीलिये उन घण्टा, दिन, महीना, वर्ष आदि सबके साथ भी 'समय' व्यवहृत होता है; जैसे—एक घण्टा समय हो गया, एक वर्षका समय हो गया, छह महीनेका समय

१. यथार्थमें तो वह न हो, परन्तु प्रयोजन और निमित्तवश उसका व्यवहार दूसरेमें किया जाय, उसे ही उपचरित कहते हैं। "मूलाभावे प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते" अर्थात् मूलपदार्थके स्थानमें दूसरे पदार्थका व्यवहार जहां होता है, वहां उपचार कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीत गया आदि। सब द्रव्यें पर्यायें धारण करती हैं और वे पर्यायें समय समयमें होती हैं। इसलिये उन पर्यायोंके साथ भी समय शब्दका प्रयोग होता है; तथा उन नाना पर्यायोंके बीतनेपर महीना वर्ष आदि उपचरित कालका प्रयोग होता है। बिना मूल पदार्थकी सत्ताके उपचार हो नहीं सकता। यदि सूर्यको न माना जाय तो किसी तेजस्वी राजाको यह नहीं कहा जा सकता कि 'आप तो सूर्य हैं और मैं आपके सामने खद्योत (जुगनू) हूं।' यह व्यवहार तभी होता है कि जब सूर्य और खद्योतकी सत्ता कहीं पर है, बिना उनके इन नामोंका प्रयोग राजाकी तैजस्विताके लिये किया ही नहीं जा सकता। कोई तेजस्वी सूर्य पदार्थ है तथा मंद तेजवाला खद्योत पदार्थ है, तभी उनका प्रयोग दूसरे तेजवाले पदार्थमें उपमानरूपसे अथवा अन्य निमित्तसे किया जाता है। यदि कहा जाय कि उस राजाको ही वास्तवमें सूर्य मान लिया जाय अथवा उससे मंद तेजवालेको ही खद्योत मान लिया जाय और वह उपचरित प्रयोग न समझा जाय, तो फिर उस राजाको अथवा उस पुरुषको सभी पुरुष सूर्य और खद्योत क्यों नहीं कहते? जो उपमा देता है, वही क्यों कहता है? इसीप्रकार काल वास्तवमें स्वतन्त्र द्रव्य है, उसके माननेपर ही लोकमें काल (समय) का व्यवहार प्रचलित है; अन्यथा इतना प्रबल व्यवहार कभी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जाय किंतु जिन समस्त द्रव्योंके परिणमनके साथ कालका व्यवहार होता है, उन्हीं समस्त द्रव्योंका ही वह स्वरूप समझा जाय, तो फिर कालका स्वतन्त्र प्रयोग और द्रव्योंके साथ जुदा प्रयोग नहीं होना चाहिये। काल का स्वतन्त्र प्रयोग द्रव्योंका साथ छोड़कर भी होता है; जैसे एक वर्ष काल बीत गया। यह प्रयोग किसी द्रव्यके साथ अथवा किसी द्रव्यके परिणमन की अपेक्षासे नहीं किया गया है, किंतु स्वतन्त्र है। इसीप्रकार जहां द्रव्योंके परिणामोंके साथ कालका प्रयोग होता है, वहां भी जुदा ही होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है; जैसे 'यह बालक १ वर्षका है'। यहांपर यह बात कम जानकारकी समझमें भी आजाती है कि बालकके साथ जो एक वर्षका प्रयोग है, वह बालकसे भिन्न पदार्थ है। यदि बालककी पर्यायोंका नाम ही एक वर्ष होता, तो फिर यह व्यवहार नहीं होता कि 'बालक १ वर्षका हो गया है' किंतु ऐसा होता कि 'बालक १ वर्ष है'। इसलिये कालके स्वतन्त्र प्रयोग और द्रव्योंके साथ जुदा प्रयोग होनेसे उसकी सत्ताका निश्चय किया जाता है। उसी कालद्रव्यके उपचरितप्रयोग भूतकाल, भविष्यत्काल, वर्तमानकाल होते हैं। ये उसके स्वतन्त्रप्रयोग हैं और पदार्थके साथमें भी इनको प्रयोग आता है; जैसे—यह आजकल ही पैदा हुआ है, यह बहुत वर्षोंका है, यह अभी बहुत कालतक ठहरेगा। ये सब प्रयोग कालद्रव्यकी स्वतन्त्र सत्ताको सिद्ध कराते हैं। इसप्रकार युक्तिसे कालद्रव्यकी सत्ता सहज ही समझमें आ जाती है, तो आगमप्रमाणसे बतलाई गई कालद्रव्यकी असंख्यात संख्या माननेमें जो [1]अविश्वास रखते हैं, वे भूलते हैं; क्योंकि जो मूलमें वस्तु न हो उसका जगत्में व्यापकरूपसे शब्दप्रयोग एवं उसके निमित्तसे होनेवाला व्यवहार कभी नहीं हो सकता।

छठा जीवपदार्थ है। जीवका लक्षण चेतना है। जीवका स्वरूप "अस्ति पुरुषश्चिदात्मा" इस श्लोकमें कह चुके हैं; इसलिए यहांपर नहीं लिखते। इस जीवका अजीव (कर्म) के साथ सम्बन्ध होनेसे आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष ये पांच तत्त्व उन्हीं दोनोंके पर्यायस्वरूप होते हैं। इसप्रकार जीव अजीव और पांच उनकी उत्तरपर्यायें, सब मिलाकर सात तत्त्व कहलाते हैं। उनमें आस्रव और बंध ये दो पर्यायें तो अशुद्ध जीवकी हैं तथा संवर निर्जरा और मोक्ष ये तीन पर्यायें शुद्ध जीवकी हैं। मोक्षपर्याय परमशुद्ध जीवकी है। इनमें आस्रव और बंध संसारके कारण हैं

१. श्वेतांबरजैन कालद्रव्यको नहीं मानते हैं। अन्यान्य दर्शनवाले तो प्रायः बहुभाग कालद्रव्यको स्वीकार करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा संवर और निर्जरा मोक्षके कारण हैं। जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, जीवके उन परिणामोंको भावास्रव कहते हैं। जो पौद्गलिक कर्म आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। जिन जीवके परिणामोंसे बंध होता है. उन्हें भावबंध कहते हैं। जो कर्म आत्माके साथ बंधते हैं, उन्हें द्रव्यबंध कहते हैं। जिन आत्मीय भावोंसे आतेहुए कर्म रुकते हैं, उन्हें भावसंवर कहते हैं। जो कर्म रुकते हैं, उन्हें द्रव्यसंवर कहते हैं। जिन आत्मीय भावोंसे एकदेश कर्मोंका क्षय होता है, उन्हें भावनिर्जरा कहते हैं। जो कर्मोंका क्षय होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। जिन आत्मीय अत्यन्त विशुद्ध परिणामोंसे समस्त कर्मोंका क्षय होता है, उन परिणामोंको भावमोक्ष कहते हैं; तथा जो समस्त कर्मोंका क्षय होता है, उसे द्रव्यमोक्ष कहते हैं। इन सात तत्त्वोंमें पुण्य और पाप ये दो और मिला दिये जांय, तो नव पदार्थ कहलाते हैं। यद्यपि पुण्य पाप जीवकी ही शुभाशुभ अवस्थायें हैं; इसलिये उनका ग्रहण आस्रव और बंधतत्त्वमें आ जाता है, फिर भी इनका जुदा ग्रहण जो किया गया है, वह प्रधानताकी अपेक्षासे किया गया है। जैसे—सब अध्यापकोंके आ जाने पर कहना कि 'सब अध्यापक आगये और प्रधानाध्यापक भी आगये'। यद्यपि प्रधानाध्यापकका ग्रहण 'सब अध्यापकों'में आचुका, तथापि प्रधानताकी अपेक्षासे प्रधानाध्यापक का ग्रहण जुदा किया जाता है। इन सात तत्त्व एवं नव पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना, इसीका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है।

पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें एवं क्रोधादिक कषायोंमें मनका शिथिल होना, अथवा जिन जीवोंने अपना अपराध किया है, उनपर भी कषायभाव जाग्रत नहीं करना, इसीका नाम प्रशम है। संसारसे भयभीत रहनेका नाम संवेग है, अर्थात् संसार एवं शरीर आदि पदार्थोंमें उदासीनता होना सो संवेग है जीवों पर दया करनेका नाम अनुकंपा है। और आत्मामें, धर्ममें, धर्म-कारणोंमें तथा धर्मके फलमें विश्वास करना, उन सबको जैसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रोंने प्रतिपादन किया है मानना, उनपर ही दृढ़ता रखकर आत्मीय सुधार करना, इसीका नाम आस्तिक्य है। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य, इन चारोंका नाम भी व्यवहार-सम्यक्त्व है। जिनके इंद्रियोंके विषयोंमें लोलुपताके साथ रुचि लगी हुई है, जगत् एवं शरीरसे तीव्र राग लगा हुआ है, जीवोंपर दयाका भाव उत्पन्न ही नहीं होता, तथा आत्मापर, धर्मपर, धर्मके साधक कर्मकांड आदि पर तथा धर्मके फलस्वरूप नरकस्वर्गादि पर श्रद्धान नहीं है, जो आगममें कहीगई बातों पर प्रतीति नहीं करते हैं, अपनी कुतर्कणासे आगमके विरुद्ध कल्पनायें करते हैं, उन सबके व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, ऐसे जीव अभद्रोंकी श्रेणीमें हैं।

व्यवहारसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्वका साधक है, और निश्चयसम्यक्त्वकी पहचान स्वानुभूतिसे होती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति इस जीवके यदि एकबार भी हो जाय, तो फिर उस जीवकी नियमसे मुक्ति होती है। अर्धपुद्गल-परावर्तनकालमें वह नियमसे मोक्ष चला जाता है। सम्यक्त्वप्राप्तिके लिये जैसे काललब्धि तथा देशनालब्धि बाह्यकारण है, वैसे क्षायोपशमिकीलब्धि, विशुद्धिलब्धि, प्रायोगिकीलब्धि तथा करणलब्धि ये अंतरंग कारण हैं। इन लब्धियोंमें चार लब्धियां तो भव्य तथा अभव्यके भी हो जाती हैं, परन्तु करणलब्धि केवल [1]भव्यके ही होती है। तथा करणलब्धिके होनेपर अंतर्मुहूर्तमें नियमसे उस जीवके सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। सम्यक्त्वके मूलमें तीन भेद हैं—(१) औपशमिकसम्यक्त्व, (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिकसम्यक्त्व। जो सम्यक्त्व चार अनंतानुबंधि तथा सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति इन सात प्रकृ-

---

१. 'खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धीया,
चत्तारिविसामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते ।' (गो० जी० ६५१)

अर्थात्—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोगिकी, और करण, इन पांच लब्धियोंमें चार सामान्यरीतिसे भव्य अभव्य सभीके होती है। परन्तु करणलब्धि उसीको होती है, जिस भव्यके अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे सम्यग्दर्शन होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तियोंके उपशमसे होता है, उसे औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। जो छह प्रकृतियोंके उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। यहांपर इतना विशेष है कि सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय, क्षय, सत्तामें उपशम होना तथा केवल देशघातियोंका उदय होना आवश्यक है। सातों प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयमें होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं। तीनों सम्यक्त्वोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, केवल कर्मोंके उदय स्थिति आदिकी विवक्षासे भेद है। जितने अंशमें सम्यक्त्व प्रगट हो गया है, वह तीनों भेदोंमें समान* है; क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्माका निजरूप है, वह समस्त भेदोंमें आत्मीय परमानंदमय समरसका अनुभव कराता है।

सम्यग्दृष्टिका आत्मा इतना प्रबल एवं निर्भीक हो जाता है कि उसे किसीप्रकारका भय नहीं होता। इसका कारण यही है कि वह सदा यही विचारा करता है कि–मैं पुद्गलसे सदैव भिन्न एवं अकेला हूं, मैं विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, ये सब विकार पुद्गलके हैं, तथा शरीर सांसारिक सुख वा दुःख पुत्र पौत्र आदि सब अनित्य हैं, मुझसे इनका

---

* मिश्रौपशमिकंनाम क्षायिकंचेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबंधकृतोभेदो न भेदो रसबंधसात् ॥ (पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध ९३५)

अर्थात्—तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबंधकृत भेद है; स्थितियां तीनों सम्यक्त्वोंकी भिन्न भिन्न हैं, परन्तु अनुभागबंधकृत इनमें कोई भेद नहीं है। सभी भेदोंमें आत्माको स्वानुभूत्यात्मक आनन्दका देनेवाला एक ही सम्यक्त्वगुण है। इसीलिये रसोदयजनित कोई भेद उद्भूत-हुए सम्यक्त्वगुणमें नहीं है। इसीका खुलासा नीचेके श्लोकोंसे और भी हो जाता है—

स्वार्थक्रियासमर्थोत्र बंधः स्याद्रससंज्ञकः ।
शेषबंधत्रिकोप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ ९३८ ॥
ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेप्यत्र संस्थिते ।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥ ९३९ ॥

अर्थ—अनुभागबंध ही स्वार्थक्रिया करनेमें अर्थात् अपना फल देनेमें समर्थ है, शेष तीन बंध कुछ भी गुणोंका विघात नहीं कर सकते। इसलिये तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबंधकी अपेक्षासे सत्तामात्रमें ही भेद है, उससे सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाविनी ज्ञानचेतनामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् तीनों सम्यक्त्वोंमें समानता है। उनके उद्भूत रूपमें कुछ भी स्वरूपभेद नहीं है। उक्त तीन प्रकारके सम्यक्त्वके ही, उत्पत्तिकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई संबंध नहीं है, यह जीव नाना गतियोंमें कर्मवश घूमता फिरता है, कर्मोंकी प्रेरणासे एक दूसरेको साथी समझ लेता है; यह सब कर्मोंका फल है, मेरे स्वरूपसे सर्वथा जुदी बात है। सम्यग्दृष्टि आत्माके ऐसे विचारोंके कारण ही, किसीप्रकारका भय उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। वह विचारता है कि—मेरा लोक तो चैतन्यलोक है, वह सदा नित्य है; दूसरा मेरा कोई लोक ही नहीं है तो मुझे जन्ममरणका क्या भय? मैं जब पुद्गलसे भिन्न चैतन्यधाममें निवास करनेवाला हूं तो मुझे कभी कोई व्याधि नहीं हो सकती, ये समस्त व्याधियां शरीरमें होती हैं। शरीर पुद्गल है, मैं अमूर्त हूं; मेरे ऊपर उन वेदनाजनित व्याधियोंका क्या प्रभाव हो सकता है? जैसे लगी हुई अग्नि घरको जला देती है परन्तु घरके आकार प्रतीत होनेवाले आकाशको तो वह नहीं जला सकती, इसी-प्रकार शरीरको व्याधियां नष्ट भ्रष्ट कर सकती हैं, आकाशतुल्य अमूर्त आत्मा का तो वे कुछ नहीं कर सकतीं। मेरा आत्मा नित्य सदा रहनेवाला है;

अपेक्षासे, दश भेद और भी हैं। और वे इसप्रकार हैं—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढ़परमावगाढे च ॥ ११ ॥ (आत्मानुशासन)

अर्थ—(१) बीतराग सर्वज्ञदेवके आज्ञारूप वचनोंका श्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है। अर्थात् आप्त सर्वज्ञ अर्हंतदेवके कथनानुसार रचे गये आचार्यप्रणीत आगम पर श्रद्धान करना 'आज्ञासम्यक्त्व" है। (२) मोहनीयकर्मके शांत होनेसे परिग्रहादि-रहित कल्याणकारी अविनश्वर रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है, उसका श्रद्धान करना सो मार्गसम्यक्त्व है। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है, ऐसा श्रद्धान करना "मार्गसम्यक्त्व" है। (३) जो तीर्थंकरोंके उपदेशसे प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान-रूप आगमसमुद्र हैं, उनके तथा गणधर आचार्य श्रुतकेवली आदिके उपदेशसे उत्पन्न हुए सम्यक्त्वको 'उप-देशसम्यक्त्व" कहते हैं। (४) मुनियोंके चरण-समीपमें बैठकर आचार सूत्रोंकेविवरण सुननेसे उनपर श्रद्धान होनेसे जो सम्यक्त्व होता है, वह 'सूत्रसम्यक्त्व" है। (५) मोहनीयकर्मके उपशम होनेसे किन्हीं किन्हींको जो कठिन शास्त्रीय रहस्योंके एवं करणबीजोंके मर्मको समझनेसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह "बीजसम्यक्त्व" कहलाता है। (६) पदार्थोंको संक्षेपसे समझ कर उन पर श्रद्धान करनेसे जो सम्यक्त्व होता है, वह "संक्षेपसम्यक्त्व" है। (७) द्वादशांगवाणीको विस्तारपूर्वक सुनकर उसके समझनेसे जो सम्य-क्त्व उत्पन्न होता है, वह 'विस्तारसम्यक्त्व" है। (८) शास्त्रवचनोंके बिना किसी अन्य पदार्थसे उत्पन्न जो सम्यक्त्व है, वह 'अर्थसम्यक्त्व" है। (९) अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यरूप श्रुतज्ञानका अवगाहन करनेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह "अवगाढसम्यक्त्व" है। और (१०) केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे जो सहभावी गुणोंको विशुद्धतासे सम्यक्त्वगुणकी परमनिर्मलता होती है, वह "परमावगाढ़सम्यक्त्व" है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहो, उनसे मेरे स्वरूपका कभी प्रतिघात नहीं हो सकता। लोकमें आयु, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, इन प्राणोंके नाशसे मृत्यु मानी जाती है; परन्तु यह सब पुद्गलकी पुद्गलमें कल्पना है। मेरे तो चेतना ही प्राण है, उसकी कभी मृत्यु हो नहीं सकती। मैं सदा अपने अमूर्त चैतन्य स्वभावमें रहनेवाला हूं, मेरे ऊपर बिजली आदि मूर्त पदार्थोंका क्या असर हो सकता है ? मेरे ऊपर इन सब बातों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। ये सब विचार सम्यग्दृष्टि जीवके सदैव जागृत रहते हैं, इसलिये वह सदा निर्भीक बना रहता है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि सदैव भयभीत रहता है, वह चित्तमें निरन्तर व्याकुल एवं कंपायमान रहता है। उसे चिंता रहती है कि 'मैं जल्दी न मर जाऊं, मैं मरकर स्वर्ग जाऊं तो अच्छा, कहीं दुर्गतिमें चला गया तो बहुत दुःख उठाना पड़ेगा। मैं सदैव नीरोग बना रहूं, मुझे कोई व्याधि न हो जाय, मेरे ऊपर कहीं बिजली न गिर जाय, कोई सर्प बिच्छू सिंह आदि भयंकर जीव कहीं खा न लेवें, मैं अब वृद्ध हो चला, कहीं मर न जाऊं !' इत्यादि सभी भय मिथ्यादृष्टिको लगे रहते हैं, इसका कारण यही है कि वह जिन पुद्गलोंसे सम्बन्ध कर रहा है, उन्हींको अपना समझ रहा है; तथा अपने निजस्वरूपका बोध नहीं है। इसीलिये उसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना रहती है। सम्यग्दृष्टिके सदैव ज्ञानचेतना रहती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि मोहमलीमस परिणामोंवाला है, अतएव वह स्वानुभूतिसे च्युत है; और सम्यग्दृष्टि मोहमलीमस परिणामोंसे रहित है। अतएव वह स्वानुभूतिसहित है। स्वानुभूतिसहित जीवोंके ज्ञानचेतना ही होती है, उससे रहित जीवोंके कर्मचेतना और कर्मफलचेतनायें ही होती हैं। जैसे मिथ्यादृष्टिके ज्ञानचेतना कभी नहीं होती, वैसे सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतनायें कभी नहीं होतीं।

यहांपर शंका हो सकती है कि 'जब सम्यग्दृष्टि जीव भोगसेवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त है, इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष भी करता है, तो उसके कर्मचेतना कर्मफलचेतनामें क्यों नहीं हो सकतीं ? केवल ज्ञानचेतना ही क्यों रहती है ?' इसका निर्णय नीचे लिखे हेतुओं और प्रमाणोंसे किया जाता है ।

१–कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाओंके स्वरूप-कथनसे मिथ्यादृष्टि ही उनका स्वामी सिद्ध होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं । २–सम्यग्दृष्टिके, लब्धिरूप अवस्थामें भी ज्ञानचेतना ही रहती है । ३–बाह्यपदार्थोंका उपयोग ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होता । ४–सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा, रुचिपूर्वक भोगसेवन नहीं है । ५–उसकी रागक्रिया बन्धका कारण नहीं है । ६–उसकी रागक्रिया कर्मोदयजनित क्रिया है; वह रागपूर्वक की गई क्रिया नहीं समझी जाती । ७–सम्यग्दृष्टिके रागभाव भी नहीं है, बंध भी नहीं है, इसलिये उसके कर्मफलचेतना भी नहीं है । ८–उसका भोगसेवन बंधहेतु नहीं किंतु निर्जराका हेतु है । ९–अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्वके अभावमें ही होती है, उसीमें बंधफल कर्मचेतना, कर्मफल चेतनायें होती हैं । १०–सम्यग्दृष्टिके सदा शुद्धोपलब्धि रहती है, इसलिये उसके सदा ज्ञानचेतना ही रहती हैं अब इन दश हेतुओंका सप्रमाण खुलासा नीचे दिया जाता है–

कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका लक्षण पंचास्तिकायकी तत्त्वप्रदीपिका वृत्तिमें श्रीमत्परमपूज्य अमृतचंद्र स्वामीने यह किया है कि "एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन, प्रकृष्टतरज्ञानावरण-मुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यांतरायावसादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखस्वरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयंते । अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यांतरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखानुरूपकर्मफलानुभवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयंते ।" अर्थात् ज्ञानवरण दर्शनावरण वीर्यांतराय और मोहनीय-कर्मोदयवश सुखदुःखस्वरूप कर्मफलको भोगनेकी जहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधानता है, वहां कर्मफलचेतना होती है। तथा उक्त कर्मों के उदयसहित जहां इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में रागद्वेषमोहपूर्वक कार्य करनेका उद्योग प्रधान है अर्थात् रागद्वेषमोह-विशिष्ट बुद्धिपूर्वक कर्म करनेकी प्रधानता है, वहां कर्मचेतना होती है। इसी बातको स्वामी जयसेनाचार्यने पुष्ट किया है; साथ ही उन्होंने "निर्मलशुद्धात्मानुभूत्यभावोपार्जितप्रकृष्टतरमोहमलीमसेन चेतकभावेन प्रच्छादितसामर्थ्यः" यह विशेषण कर्मचेतना और कर्मफल-चेतना दोनोंके लिये दिया है।

स्वामी अमृतचंद्राचार्य और स्वामी जयसेनाचार्यने दोनों चेतनाओं के रूपमें 'मोहमलीमस' विशेषण दिया है। यह शब्द मिथ्यात्वकर्मके उदयमें ही सर्वत्र आता है, चारित्रमोहनीयके उदयके लिये 'रागद्वेषमलीमस' विशेषण दिया जाता है। रागद्वेष और मोह, इनमें मोह शब्दसे मिथ्या-त्वका ही ग्रहण है। जैसेकि रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके इस श्लोकमें किया गया है—"मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥" अर्थात् मोह (मिथ्यात्व)-रूपी अंधकारके नष्ट हो जानेसे सम्यग्दर्शनके लाभसे जिसको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो गई है, ऐसा साधुपुरुष रागद्वेष (चारित्रमोहनीय) की निवृत्तिके लिये चारित्र धारण करता है। श्रीसमयसारमें भी मोह शब्दसे मिथ्यात्वका ही ग्रहण किया गया है; यथा—"जो मोहंतु मुइत्ता" आदि (गाथा १३४)। स्वामी अमृतचन्द्राचार्यने "रागद्वेषमोहाः" कहा है, वहां भी मोह शब्दसे मिथ्या-त्वका ही ग्रहण है। अन्यथा रागद्वेषका प्रयोग व्यर्थ पड़ता है। अतः प्रकृतमें 'मोहमलीमस' विशेषण सिद्ध करता है कि कर्मफलचेतना और कर्मचेतनाका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। सम्यग्दृष्टि तो मोहमलीमस (मोहसहित) न होकर निर्मोह[1] (मोहरहित)

१. "गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्। अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥" (रत्नकरंडश्रावकाचार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है; इसलिये उसके उक्त दोनों चेतनायें नहीं हो सकतीं।

मोहमलीमसता एवं निर्मल शुद्धात्मानुभूतिका अभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है, सम्यग्दृष्टिके लब्धिरूप सद्भाव सदैव रहता है। वाह्यपदार्थोंकी उपयोगावस्थामें भी उसका अभाव कभी नहीं कहा जा सकता। चाहे आत्मा वाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त हो अथवा न हो, वह स्वानुभूतिवाला सदैव है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिका परस्पर अविनाभाव है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका स्वामी स्वानुभूतिके अभाववाला बतलाया गया है। इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि वह मिथ्यादृष्टि होता है। 'निर्मलशुद्धात्मानुभूतिके अभावमें उपार्जित जो मोहमलिनमा' इस वाक्यसे तो स्पष्ट सिद्ध है कि कर्म एवं कर्मफलचेतनाओंका स्वामी मिथ्यादृष्टि ही बतलाया गया है। आगे चलकर स्वामी जयसेनाचार्य और भी इस बातको विशद करते हैं; वे तात्पर्य-वृत्तिमें लिखते हैं—"निर्विकारपरमानंदैकस्वभावमात्मसुखमलभमानास्संतो विशेषरागद्वेषरूपा तु या कर्मचेतना तत्सहितं कर्मफलमनुभवंति।" अर्थात् विकार-रहित परमआनंदस्वरूप अद्वितीय स्वभाववाला जो आत्मीय सुख है, उसे नहीं प्राप्त होनेवाले पुरुष विशेष रागद्वेषरूप कर्मचेतना तथा उस-सहित कर्मके फलका (कर्मफलचेतनाका) अनुभव करते हैं। आत्मीय-सुखसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव ही होता है। सम्यग्दृष्टिको आत्मसुखसे रहित नहीं बतलाया गया है। इस कथनसे कर्म कर्मफलचेतनाओंका स्वामी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, यह बात स्पष्टरीतिसे सिद्ध हो चुकी।

समयसारकार स्वामी कुंदकुंद मुनिराज ने चेतनाको दो भेदोंमें बांटा है,—(१) ज्ञानचेतना, (२) अज्ञानचेतना। अज्ञानचेतनाके उन्होंने दो भेद किए हैं—(१) कर्मचेतना और (२) कर्मफलचेतना। मूलगाथा इसप्रकार है—"वेदतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणइ कम्मफलं। सो तं पुणोवि बंधदि

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि नहीं, इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनिसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीजं दुःखस्स अट्ठविहं।" इसीप्रकार दो गाथायें और हैं, जिनमें अज्ञान-चेतनाओंका वर्णन है (गाथा–४१७, ४१८, ४१९)। इन्हीं गाथाओंके आशयको स्वामी अमृतचंद्रसूरिने स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–"ज्ञाना-ज्ञानभेदेन चेतना द्विविधा भवति, इयं तावत् अज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते,–उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्न-नुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्थ-भावाद्भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति। मयाकृतं कर्मेति च भणति। स जीवः पुनरपि तदष्टविध कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजकारणं। कस्य ? दुःखस्य।"

यहांपर कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाको अज्ञानचेतनाके नामसे प्रगट किया गया है। यदि इन दोनों चेतनाओंका स्वामी सम्यग्दृष्टि जीव भी होता, तो "अज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद्भ्रष्टो भूत्वा" ये विशेषण उसके लिये कभी नहीं आ सकते थे। सम्यग्दृष्टि यदि बाह्यपदार्थोंमें भी उपयुक्त हो, तो भी वह स्वस्थभाव (आत्मीयभाव)से भ्रष्ट नहीं कहा जा सकता, और न वह अज्ञानीके नामसे ही कहा जाता है। अज्ञानी संज्ञा मिथ्यादृष्टिके लिये ही सर्वत्र आती है। यथा–"एकः सम्यग्दृगात्मासौ केवलं ज्ञानवानिह। ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः॥" आगे चलकर तात्पर्यवृत्तिकार दोनों चेतनाओंके अर्थको और भी विशद करते हैं; वे लिखते हैं–"कर्मचेतना कोर्थः ? इतिचेत् मदीयं कर्म मयाकृतं कर्मेत्याद्या-ज्ञानभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपराग शुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनो-वचनकायव्यापारकरणं यत् सो बंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते।" कर्मफल-चेतना कोर्थः ? इतिचेत् स्वस्थभावरहितेन अज्ञानभावेन यथासम्भवं व्यक्ता-व्यक्तस्वभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानु-भवनं यत सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते।" अर्थात्–यह मेरा कर्म है, मैंने इस कर्मको किया है, इसप्रकार ईहापूर्वक इष्ट-अनिष्टरूप अज्ञानभावसे उपरागरहित शुद्धात्मानुभूतिसे च्युत जीवके मन-वचन-कायका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्यापार है, वही बंध-कारणस्वरूप कर्मचेतना कही जाती है। तथा स्वस्थभावसे रहित, अज्ञानभावसे यथासंभव ईहापूर्वक प्रगट-अप्रगट स्वभावरूप इष्ट-अभिष्ट विकल्प परिणामोंसे हर्षविषादस्वरूप जो सुखदुःखका अनुभव किया जाता है, वह बंध-कारणभूत कर्मचेतना कहलाती है।

आत्मानुभूति-च्युत जीवके स्वस्थभाव-रहित अज्ञानभावसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है; दोनों ही बंधकारणस्वरूप हैं। सम्यग्दृष्टिको दुःखबीज कर्मबंधका कर्ता भी नहीं कहा गया है, क्योंकि वह अस्ताभिलाषी है। इस बातको आगे व्यक्त करेंगे। स्वामी अमृतचंद्रसूरिने आत्मख्याति टीका पृष्ठ १९५ पर लिखा है कि "ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना ॥" दोनों चेतनाओंको संसारबीज बतलाया है। सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानसे भिन्न अज्ञानभावोंमें वेदन नहीं करता; इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मफलचेतना तथा कर्मचेतना दोनों ही नहीं होतीं, यह बात ऊपरके समस्त प्रमाणोंसे निर्णीत हो चुकी।

अब कर्मचेतना और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टिके क्यों नहीं हो सकती, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है। सम्यग्दृष्टिके कर्म कर्मफलचेतना माननेवाले यही एक हेतु देते हैं कि 'जब वह आत्मानुभूतिसे हटकर आरंभ परिग्रह भोगोंमें अपने उपयोगको लगाता है, रागद्वेषपूर्वक किसी काम को करता है तथा विषयभोगोंमें अनुरक्त होता है, उससमय उसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कही जायेगी।' यह कथन युक्ति और सिद्धान्त दोनोंसे ही प्रतिकूल पड़ता है। पहले तो आत्मानुभूति और रागद्वेषपूर्वक काम करनेका कोई संबंध ही नहीं है। आत्मानुभूति मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धिकर्मके अभावमें प्रगट होती है, और रागद्वेषकी प्रवृत्ति चारित्रमोहनीयके उदयसे होती है। इस कार्य-कारणकी विचारणासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जहां चारित्रमोहनीयके उदयसे रागद्वेषपूर्वक जीवकी प्रवृत्ति है, वहां मिथ्यात्वका अभाव हो तो आत्मानुभूति भी होती रहती है। जीवका उपयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वानुभूतिमात्रमें हो, अथवा स्वानुभूति लब्धिरूप ही रहे और उपयोग बाह्यपदार्थोंमें हो, तो भी रागद्वेषसे उसका कोई संबंध नहीं है। उपयोग ज्ञानात्मक है। उसीके लब्धि और उपयोग दो भेद हैं। क्षयोपशमरूप जितने भी ज्ञान हैं सभी संक्रमणात्मक हैं। वे सदा अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण करते ही रहते हैं। उनमें कोई ज्ञान मनसे साक्षात् उत्पन्न होता है; किसीमें मनकी परम्परा निमित्तता है। इसीलिये एक समयमें एक ही उपयोग क्षयोपशम-ज्ञानधारियोंके होता है। केवलज्ञान क्षायिक है; उसमें मनकी निमित्तता किसीप्रकार नहीं है; इसलिये वह स्वोपयोगी और परोपयोगीरूप सदा एक साथ ही रहता है। इसीलिये उसे संक्रमणात्मक नहीं कहा गया है। हां, परपदार्थोंमें उसका भी पदार्थोंके संक्रमणसे संक्रमण होता है, परन्तु आत्मोपयोग तथा परोपयोग दोनोंमें कभी व्युच्छित्ति नहीं आती; इसलिये उसे संक्रमणमें शामिल नहीं किया जाता। इसप्रकारका संक्रमण शुद्धात्मानुभूतिमें बाधक नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि केवलज्ञान वीतराग है; क्षयोपशम-ज्ञान सराग है। इसी सरागता और वीतरागताके कारण सम्यक्त्वको भी कोई कोई सराग और वीतराग समझकर सराग-सम्यक्त्वीके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना भी कह देते हैं और वीतराग-सम्यग्दृष्टिके (केवलज्ञानीके) केवलज्ञानचेतना कहते हैं। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना वहींपर होती है, जहां अभिलाषापूर्वक (रुचिपूर्वक) एवं अज्ञानभावसे रागद्वेषपूर्वक कर्म किया जाता है। सम्यग्दृष्टिके जो रागद्वेष है, वह केवल चारित्रमोहनीयके उदयसे है। मिथ्यात्व-मिश्रित न होनेसे वह कर्मबंधक नहीं माना गया। चारित्रमोहनीयका उदय और उपयोग से उपयोगान्तर जोकि क्षयोपशम-ज्ञानका स्वभाव है, दोनों ही सम्यग्दृष्टि की ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं हैं। इसी बातको पञ्चाध्यायी की कतिपय कारिकाओंसे स्पष्ट किया जाता है—

' हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः। प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात्॥६७८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृग्मोहेस्तंगेत पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवेद्विघ्नकृत् कश्चित् चारित्रावरणोदयः ॥६८८॥"

अर्थात्—शुद्धात्मानुभवमें मिथ्यात्वका उपशम हेतु है। मिथ्यात्व-कर्मका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक है, वह उसका प्रतिपक्षी है। दर्शनमोहनीयके अस्त होनेपर अर्थात् अनुदय होने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है; उसमें चारित्रमोहनीयका उदय बाधक नहीं हो सकता। उपयोगके विषयमें कहते हैं—

"स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः । उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥८६५॥"

अर्थात्—ज्ञान चाहे स्वोपयुक्त हो या परोपयुक्त हो, दोनों ही अवस्थामें कोई गुण दोष नहीं है। ज्ञानोपयोगके परिवर्तनसे सम्यग्दर्शनमें कुछ गुण दोष नहीं होता है—

"चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु **लीलया** । न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥८६७॥"

ज्ञान पदार्थोंमें लीलामात्रसे घूमता फिरता है, वह प्रत्येक पदार्थको जानता हुआ न तो कोई दोष पैदा करता है और न कोई गुण पैदा करता है। अर्थात् ज्ञानगुणका कार्य प्रत्येक पदार्थको जाननामात्र है, उसका सम्यक्त्वके गुणदोषसे कुछ प्रयोजन नहीं है। यहां दोषसे प्रयोजन सम्यग्दर्शन की हानिसे है और गुणसे प्रयोजन उसकी उत्पत्ति और वृद्धिसे है। यह बात पंचाध्यायीके ८६८, ८६९, ८७०, ८७१ और ८७२ वें श्लोकोंसे जानना चाहिये। ज्ञान दर्शन कहांतक सविकल्प कहे जाते हैं, सो कहते हैं—

"हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतं । आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकं ॥९१४॥
ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकं । शुक्लध्यानं तदेवरित तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥९१५॥
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना । अस्तीति वासनोन्मेषः केषांचित् स न सन्निह ॥९१६॥"

अर्थ—स्थूलपदार्थको लक्ष्य रखनेवाले जिन प्रसिद्ध पुरुषोंने केवल राग-रूप हेतुसे ऐसा कहा है, उनका कहना है कि प्रमत्तगुणस्थानपर्यंत सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही सविकल्पक हैं। प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं, वही शुक्लध्यान कहलाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है। किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके 'प्रमत्त-जीवोंके विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्धचेतना नहीं हो सकती है' इस प्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है। भावार्थ—जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'प्रमत्तगुणस्थान पर्यंत बुद्धिपूर्वक राग होता है, इसलिये वहां तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्पक हैं; सविकल्पअवस्थामें ज्ञान-चेतना भी नहीं होती है, अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है, नीचे नहीं' उनके लिये आचार्य कहते हैं कि—ऐसा कहनेवाले यथार्थवस्तुके विचारक नहीं हैं। क्यों नहीं हैं, सो बताते हैं—

'यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत् परं। परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणंचापि परोश्रितं ॥९१७॥"

अर्थ—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुणदोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सकता; इसीप्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुणदोषोंको अपने आश्रित नहीं बना सकता। अर्थात् जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है, वह दोष अथवा गुण उसी आश्रयसे हो सकता है; अन्य किसी आश्रयसे नहीं हो सकता। यहांपर जो प्रमादावस्थामें रागद्वेषपूर्वक प्रवृत्तिके समय शुद्धचेतनाका अभाव मानते हैं, उन्हींके उत्तरमें यह ऊपर का श्लोक कहा गया है। और भी देखिये—

"पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटं।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञानेवाऽनुदयात्मके ॥९१८॥"

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मका पाक होनेसे राग होता है। राग आत्मा-का औदयिकभाव है, अर्थात् कर्मोंके उदयसे होनेवाला है। वह औदयिक-भाव अनुदयस्वरूप सम्यक्त्व अथवा ज्ञानमें किसप्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। और भी विशेष स्पष्ट करते हैं—

"अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोयं बुद्धिपूर्वकः। नूनं हेतुक्षमो न स्यात् ज्ञानसंचेतनामिमां ॥९१९॥"

अर्थ—बुद्धिपूर्वक रागभाव सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता है; इसलिये वह सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना (लब्धिरूप)-का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी घात नियमसे नहीं कर सकता है। अर्थात् रागभाव आत्माके चारित्र-गुणका ही विघात करेगा, वह न तो सम्यक्त्वका ही विघात कर सकता है और न ज्ञानचेतनाका ही विघात कर सकता है। राग चारित्रका ही प्रतिपक्षी है, दोनों (सम्यक्त्व और चारित्र)का नहीं है; इसलिये चतुर्थ-गुणस्थानमें भी ज्ञानचेतना होती है। उसका कोई बाधक नहीं है।

"तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः। सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद व्यतिरेकतः ॥"

अर्थात् आत्मानुभूति आत्माका विशेष ज्ञान है। वह आत्मानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेकसे अविनाभाविनी है। अर्थात् दोनोंकी समव्याप्ति है। इसीकी स्पष्टता और भी नीचेके श्लोकसे होती है—"सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः। सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥"

अर्थात् ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है, तभी तक सम्यक्त्व है; और जबतक सम्यक्त्व है, तभीतक ज्ञानचेतना है। इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो भाव सम्यक्त्वका घातक होगा वही ज्ञानचेतनाका भी घातक होगा, और जो सम्यक्त्वका घातक नहीं है वह ज्ञानचेतनाका भी घातक नहीं होगा।

परोपयोगके समय यदि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना न मानकर कर्म-चेतना मानी जाय तो सम्यक्त्वका अभाव भी उससमय मानना पड़ेगा। इसलिये यह निर्णीत बात है कि जिससमय सम्यग्दृष्टिके स्वात्माके विषयमें अनुपयुक्त अवस्था है अर्थात् लब्धिरूप स्वानुभूति है। उससमय भी उसके ज्ञानचेतना ही है, ज्ञानचेतना अभाव उसके किसी समय भी नहीं है। रागद्वेषपूर्वक प्रवृत्तिके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्धोपलब्धि होती है या नहीं? यदि होती है, तब तो उससमय सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफल-चेतना नहीं बन सकती। यदि उससमय शुद्धोपलब्धि नहीं स्वीकारकी जाय तो उससमय सम्यक्त्वका भी निषेध करना होगा; इसलिये अगत्या यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें हरसमय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानचेतना है । जिससमय सम्यग्दृष्टि रागक्रियामें उपयुक्त है उससमय वह सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, जिससमय वह केवल स्वात्मोपयोगमें अनुरक्त है उससमय वह भी निर्विकल्पक कहा जाता है । सराग सम्यग्दृष्टिके जो ज्ञानचेतना नहीं मानते हैं अथवा सम्यग्दृष्टिके सरागी और वीतरागी ऐसे जो दो भेद करते हैं, उनके लिये आचार्य खेद प्रकाशित करते हुये उनके शास्त्राभ्यासको भी व्यर्थ बतलाते हैं एवं उन्हें दुराशय बतलाते हैं—

"व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम् । निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम् । तन्मते वीतरागस्य सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना । सदृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥
व्यावहारिकसदृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः । प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥
इति प्रज्ञापराधेन ये वदंति दुराशयाः । तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥"

इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है कि जो लोग 'एक सरागसम्यक्त्व' एक वीतरागसम्यक्त्व' ऐसे सम्यक्त्वके दो भेद करके सरागसम्यग्दृष्टिके प्रतीत मात्र मानते हैं, केवल वीतरागसम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना मानते हैं, ऐसे पुरुषोंके श्रुताभ्यासको श्रीआचार्य महाराज व्यर्थ ही बताते हैं । इन्हीं श्लोकोंके आगे यदि श्रीपंचाध्यायीका स्वाध्याय किया जाय तो विदित हो जायेगा कि सरागता एवं उपयोगांतरता सम्यग्दर्शनके विशेषण ही नहीं हैं, किंतु उपयोगांतरता ज्ञानकी लीला है और सरागता चारित्रमोहनीयकी उदयरूप अवस्था है । प्रतिपक्षी कर्मोंके अभावमें सम्यक्त्व तो सदा टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है, उसको सराग मानना सिद्धांतविरुद्ध है । जहां-कहीं ऐसे भेद किये गये हैं, वहां स्थूलदृष्टिसे किये गये हैं अथवा चारित्रकी सहयोजनासे किए गए हैं, जोकि गुणस्थान क्रमवृत्तिके सूचक हैं । सम्यक्त्वमात्रकी स्वरूप-विवेचनामें उक्त दोनों भेदोंका उल्लेख करना कार्य-कारणभावका विघात करना है एवं कार्य-सांकर्य तथा गुण-सांकर्य करना है । रागादि परिणामोंको सम्यक्त्वमें सर्वथा अकिंचित्कर समझकर ग्रन्थकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने यही निष्कर्ष निकाला है कि जहां सम्यक्त्व है वहां ज्ञानचेतना अवश्य है। यथा–

"तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि। तद्यथावश्यको तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥"

इसका अभिप्राय यही है कि सम्यग्दर्शन वास्तवमें एकरूप ही है, उसके सराग वीतराग आदि भेद नहीं हैं, और जहां सम्यक्त्व है वहां नियमसे ज्ञानचेतना है। ऊपरके कतिपय श्लोकों-द्वारा यह सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना क्यों नहीं होती। अब नीचे कुछ श्लोकों-द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि सम्यग्दृष्टिके हर समय ज्ञानचेतना ही रहती है।

"किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना। अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वा खंडैकधारया ॥"

इस श्लोकमें 'सर्वस्य-नित्य-अव्युच्छिन्नप्रवाहेन-अखण्डैकधारया' ये चारों ही पद स्पष्ट प्रगट करते हैं कि सम्यग्दृष्टिको चाहे किसी नामसे क्यों न कहा जाय, उसके हर समय अव्युच्छिन्न प्रवाहसे, निरंतर रूपसे, अखण्ड धारारूपसे ज्ञानचेतना रहती है। नित्य ज्ञानचेतना क्यों रहती है, इसके लिये हेतु यह है–

"हेतुस्तत्रास्ति सद्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह। ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्यावरणव्ययात् ॥८१३॥"

अर्थात् सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनालब्धि नित्य रहती है, उसके आवरण-कर्मका क्षय हो जाता है; इसलिये अन्वयरूपसे सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतना रहती है। आचार्य बारबार स्पष्ट कथन करते हैं कि जहां सम्यक्त्व है वहां सदा शुद्धात्माकी ही उपलब्धि है। यदि उपयोगांतर-अवस्थामें किसी समय शुद्धात्मोपलब्धिका अभाव कहा जायगा तो वैसी अवस्थामें सम्यक्त्वका भी अभाव कहना चाहिये। इसीको इस श्लोकार्धसे उन्होंने पुष्ट किया है–"शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्" अर्थात् यदि शुद्धचेतना है तो सम्यक्त्व है, यदि शुद्धचेतना नहीं है तो सम्यक्त्व भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सम्यग्दृष्टिके प्रतिसमय ज्ञानचेतना रहती है, इस विषयमें अधिक प्रमाण देनेसे और भी विस्तार हो जायगा। उपर्युक्त प्रमाणोंसे प्रकृतकी सिद्धिमें पुष्टि भी पर्याप्त हो चुकी। यदि यह शंका उठाई जाय कि 'जिस-प्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनोंकी लब्धि एक साथ है परंतु उपयोग एकका ही होता है, उसीप्रकार जिससमय ज्ञानचेतना उपयोगात्मक नहीं है उस-समय उपयोगात्मक कोई चेतना अवश्य माननी होगी। वह कर्म कर्मफल-चेतना ही होगी।' यहांपर पहले तो दृष्टांत दार्ष्टांतका संबंध ही कोई नहीं बैठता। यदि मतिश्रुतके समान चेतनाओंकी भी भिन्न भिन्न लब्धि एक आत्मामें एकसाथ होती, तब तो एक समयमें एक उपयोगके लिये मतिश्रुतका दृष्टांत देना ठीक भी था। दूसरे, जिस जीवके सम्यग्ज्ञानरूप लब्धि है उसके क्या कभी मिथ्याज्ञान भी उपयोगात्मक हो सकता है? एक समयमें एक ही उपयोगात्मक होता है, इसका निषेध तो हम भी नहीं करते हैं परंतु 'लब्धि किसीकी हो और उपयोग किसीका हो' इसका निषेध अवश्य करते हैं। जिसकी लब्धि होती है उसीका उपयोग हो सकता है।

यदि सुमति सुश्रुतकी लब्धि है, तब उपयोगमें कुमति अथवा कुश्रुत प्रगट नहीं हो सकते। इसीप्रकार दृष्टांतमें विचार करना आवश्यक है। स्वानुभूति कब होती है? जब मिथ्यात्वके अभावसे सम्यक्त्व प्रगट होता है। उसके साथ मतिज्ञानावरणीयकर्मका भी विशेष क्षयोपशम होता है, तभी स्वानुभूति होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होता है तभी स्वानुभूति होती है। ऐसी अवस्थामें उप-योग किसी अवस्थामें क्यों न हो, यदि चेतना उपयोगरूपमें प्रगट होगी तो वह ज्ञानचेतना ही होगी; जिसप्रकार सर्पमें रस्सीका भान एवं सीपमें चांदीका भान होनेपर भी सम्यग्ज्ञानीका उपयोग सदा सम्यग्ज्ञानरूप ही रहता है। उसका भी कारण यह है कि केवल बाह्यसाधकोंमें दूषण है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिदोष अथवा प्रकाशाभावसे ऐसा होता है। अंतरंगमें ज्ञानको दूषित बनानेवाला वहां कारण न होनेसे सम्यग्दृष्टिका बोध सदा सम्यक्बोध ही कहलाता है। इसीप्रकार स्वानुभूतिरूप ज्ञानचेतनाकी लब्धि होनेसे उपयोगांतर होनेपर भी उपयोग सदा ज्ञानचेतनारूप ही कहा जाता है। स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशम एवं मिथ्यात्वकर्मके अभावमें उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाको चारित्रमोहका उदय और ज्ञानका उपयोगांतर हटा नहीं सकते, और न सर्पमें रस्सीके बोधके समान अभिलाषा-विहीन रागक्रिया कर्मचेतनाको हीं उत्पन्न कर सकती है। इसलिये यह असंभव है कि लब्धिमें चेतना ज्ञानरूप हो और उपयोगमें वह कर्मरूपसे प्रगट हो। यहांपर विचार करनेकी बात यह है कि जिस रागक्रियासे कर्मचेतना होती है अथवा भोगोंकी जिस अनुरक्तिसे कर्मचेतना एवं उनके अनुभवनसे कर्मफलचेतना होती है, वह रागक्रिया अथवा भोगोंमें अनुराग अभिलाषापूर्वक होता है। अभिलाषा अथवा रुचिपूर्वक ही रागद्वेषसे किये गये कामों-द्वारा दुःखबीज कर्मबंध होता है तथा वही बंधकारणभूत रागद्वेषपूर्वक होनेवाली बुद्धिपूर्वक क्रिया कर्मचेतना कही जाती है। परन्तु सम्यग्दृष्टिकी जितनी भी क्रियाएं हैं, वे न तो बंधकी कारण ही कही जाती हैं और न रागक्रियाके नामसे ही कही जाती हैं। उसके रागभाव होते हुए भी उसे रागक्रियारहित कहा गया है। इसीसे सिद्ध होता है कि जहां बंधकारणभूत अभिलाषा रुचिपूर्वक रागक्रिया है, वही कर्मचेतनाके नामसे कही जाती है। सम्यग्दृष्टि बंध करता है, परन्तु उसका बंध 'बंध' नहीं कहा जाता, प्रत्युतः उसकी क्रिया निर्जराका कारण कही जाती है। जैसा कि भाषा छन्दसे कहा गया है—"ज्ञानीको तो भोगनिर्जरा हेतु हैं, अज्ञानीको भोगबन्ध फल देते हैं।" इसी बातको पंचाध्यायीकारने इसप्रकार कहा है—

"आस्तां न बंधहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया। चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥२२०॥
क्रिया साधारणी वृत्तिः ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा। अज्ञानिनः क्रिया बंधहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित्॥२२९॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टिकी कर्मजा क्रिया बंधका कारण तो है ही नहीं, वह उलटी निर्जराका कारण है। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंकी क्रिया यद्यपि समान है, तथापि अज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण है, ज्ञानीकी क्रिया बन्धकारण नहीं है किंतु वह निर्जराका कारण है। ऐसी अवस्थामें सम्यग्दृष्टिके रागद्वेषपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अपेक्षा कर्मचेतना कहना नितांत असंगत एवं सिद्धांतबाधित है। सम्यग्दृष्टि रागी भी वास्तवमें नहीं है। यथा–

"सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम्। निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥"

इस श्लोकसे स्पष्ट किया गया है कि सम्यग्दृष्टि वीतरागी है, उसकी अरुचिपूर्वक की गई क्रिया रागमें शामिल नहीं की जा सकती। नीचेके श्लोक-द्वारा यह बात पंचाध्यायीकारने बिलकुल स्पष्ट कर दी है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका फल बंध है। सम्यग्दृष्टिके त्यागका अभाव है, इसलिये उसके बंध नहीं होता; अतएव उसके ज्ञानचेतना ही है। श्लोक यह है–

"चेतनायाः फलं बंधस्तत्फले वाऽथ कर्मणि। रागाभावान्न बंधोस्ति तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥"

अर्थ ऊपर किया जा चुका है। और भी विशदता देखिये–

"सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोप्यसेवकः। नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यतः ॥२७४॥"

अर्थ–यह सम्यग्दृष्टि भोगोंको सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है, बिना इच्छाके अर्थात् बिना रुचिके किया हुआ कर्म (क्रिया) वीतरागीके रागके लिये नहीं होता है। नीचेके श्लोकसे सम्यग्दृष्टिके अभिलाषाका निषेध किया गया है। यथा–

"कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियां। नेच्छेत्कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥"

इस श्लोकसे क्या यह बात अवशिष्ट रह जाती है कि अभिलाषापूर्वक की गई क्रिया ही कर्मचेतना में शामिल की जाती है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दृष्टिके अभिलाषाका इस श्लोक से निषेध किया गया है। रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है, यह बात भी नीचे स्पष्ट की जाती है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वैषयिकसुखे न स्याद् रागाभावः सुदृष्टिनां । रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटं ॥"

सम्यग्दृष्टिके रागभाव नहीं होता किंतु मिथ्यादृष्टिके ही होता है; इसलिये उसकी समस्त क्रियायें कर्मोदयजनित हैं, वे रागपूर्वक नहीं समझी जातीं। ऐसी अवस्थामें उसके रागपूर्वक बंध करनेवाली कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाभी नहीं होती। ऊपरके समस्त श्लोकोंसे यह परिणाम निकल चुका है कि सम्यग्दृष्टि की स्वोपलब्धि चाहे उपयुक्त हो चाहे अनुपयुक्त हो, चाहे वह भोगसेवनमें उपयुक्त हो, चाहे अन्य क्रियाओंमें उपयुक्त हो परन्तु वह न तो रागी है और न बंध करनेवाला ही है। तथा उसकी उपलब्धि प्रत्येक अवस्थामें शुद्ध है, सम्यग्दृष्टि सदा शुद्धोपलब्धिवाला है। मिथ्यादृष्टिकी उपलब्धि ही अशुद्ध होती है, इसलिये वह बंध करनेवाला है और उसीके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना होती है। सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि भी कभी नहीं होती, यह बात ऊपर सप्रमाण कही गई है। बंध भी नहीं होता, इसलिये उसके कर्मचेतना कर्मफलचेतनायें भी नहीं होतीं, यह बात नीचेके श्लोकोंसे भी प्रगट होता है—

"उपलब्धिरशुद्धासा परिणामक्रियामयी। अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥२१२॥
अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किंतु कर्मतत्फलचेतना ॥२१३॥"

अर्थ ऊपर किया जा चुका है। इस अशुद्धोपलब्धिका स्वामी मिथ्यादृष्टि ही बतलाया गया है। इस प्रकरणका पूर्वापर स्वाध्याय करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रमाणके लिये एक श्लोक उन्हीं श्लोकोंके आगे का नीचे दिया जाता है—

"इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः। अस्ति साधारणी वृत्तिर्न स्यात्सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥"

अर्थात्—अशुद्धोपलब्धि संसारी मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है, क्योंकि वह ज्ञानाभास अवस्थामें होती है; यह बात ऊपरके श्लोकमें प्रगट कर दी गई है। ज्ञानाभास मिथ्यादृष्टीके ही कहा गया है। जहां अशुद्धोपलब्धि है वहीं कर्मचेतना कर्मफलचेतनाएं होती हैं। इसप्रकारकी अशुद्धोपलब्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वपूर्वक नहीं होती है किंतु मिथ्यात्वपूर्वक ही होती है जैसे कि– "अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्" इस श्लोकार्धसे स्पष्ट है।

उपर्युक्त कथनसे इस बातका पूर्ण खुलासा होता है कि सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि न होनेसे उसके कर्मफलचेतनायें नहीं होतीं। सम्यग्दृष्टिके सदा शुद्धोपलब्धि ही होती है, अन्यथा उसके सम्यक्त्वका भी अभाव मानना पड़ेगा। यह बात ऊपर स्पष्ट करचुके हैं; जैसा कि–"शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्" इस पूर्व कथित श्लोकार्धसे स्पष्ट है। सम्यग्यदृष्टिके उपलब्धि सदा शुद्ध ही होती है, इस बातका पंचाध्यायीकारने अनेक श्लोकों-द्वारा शंका समाधानपूर्वक पुष्ट किया है। यथा–

"सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना। सत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥२१७॥"

अर्थात् सम्यक्त्वके सद्भावमें शुद्धात्मोपलब्धि ही होती है और उसमें बन्ध नहीं होता, तथा सम्यक्त्वके अभावमें ही अशुद्धोपलब्धि होती है, उसीका फल बंध कहा गया है। यह बात ऊपर खुलासा की जा चुकी है कि बंध अशुद्धोपलब्धिमें ही होता है, जहां बन्धफला–अशुद्धोपलब्धि है, वहीं कर्मचेतना कर्मफलचेतनायें होती हैं। सम्यक्त्वके सद्भावमें सदा शुद्धोपलब्धि ही रहती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि केवल ज्ञानचेतनाका ही स्वामी है।

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें प्रथम निःशंकित अंगका स्वरूप

सकलमनेकांतात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(इदं) यह (सकलं) सम्पूर्ण (वस्तुजातं) वस्तुसमूह (अखिलज्ञैः) सर्वज्ञदेवने (अनेकांतात्मकं) अनेकांतस्वरूप (उक्तं) कहा है; (किमु) क्या (सत्यं) सत्य है (वा) अथवा (असत्यं) असत्य है (जातु) कभी (इति) इसप्रकार (शंका) शंका–संदेह (न) नहीं (कर्तव्या) करना चाहिये।

विशेषार्थ—जैनधर्म अथवा जैनागम सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये वह किंचिन्मात्र भी अन्यथा नहीं हो सकता है। वस्तुरूप वही अन्यथा होता है, जिसका वक्ता अल्पज्ञ और रागी-द्वेषी होता है। समस्त वस्तुओंका पूर्णज्ञान न होनेसे, बिना किसीप्रकारका रागद्वेष होनेपर भी, पदार्थका स्वरूप विपरीत कहा जा सकता है अथवा पदार्थका पूरा ज्ञान होनेपर भी रागद्वेषसे अन्यथा कहा जा सकता है जहां रागद्वेष भी नहीं है तथा समस्त पदार्थोंका परिपूर्ण ज्ञान है अर्थात् जहां सर्वज्ञता भी है और वीतरागता भी है, वहां कभी पदार्थस्वरूपमें विपरीतता नहीं आती। जैनधर्मने जिन पदार्थों का विवेचन किया है, वे सभी सर्वज्ञदेव एवं वीतरागदेव श्रीअर्हंतदेवने कहे हैं, उनसे सुनकर उनके साक्षात् शिष्यस्थानीय श्रीगणधरदेवने उन्हें प्रतिपादन किया है, उनसे उनके शिष्य श्री प्राचीन आचार्योंने उन समस्त पदार्थों का ज्योंका-त्यों स्वरूप-विवेचन किया है; उनसे उनके शिष्य पीछे होनेवाले आचार्योंने निरूपण किया है। समस्त आचार्योंकी रचना पूर्वाचार्यों की प्रमाणता लिये हुए है, निजकी स्वतंत्र-विवेचनाका प्रत्येक आचार्यने अपनी कृतिमें निषेध किया है। आजतकका जैन-इतिहास देखनेसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि कोई आचार्य ऐसे नहीं हुए हैं जिन्होंने पूर्वाचार्यों की कृतिको प्रमाणभूत एवं महत्वास्पद न स्वीकार किया हो। महान्से महान् आचार्यों में प्रमुख आचार्यकी कृतिको देखनेसे भी यही बात मिलेगी कि उन्होंने अपनी रचनाको पूर्वाचार्यों की रचनाकी प्रमाणतासे ही प्रमाण बतलाया है। श्री 'प्रमेयरत्नमाला'के रचयिता श्रीअनंतवीर्यआचार्यने कहा है—"प्रभेदुवचनोदारचंद्रिकाप्रसरे सति। मादृशाः क्व नु गण्यंते ज्योतिरिंगणसन्निभाः॥" अर्थात् श्री'प्रमेयकमलमार्तण्ड'के कर्ता श्रीप्रभाचंद्राचार्यकी वचनरूपी उदार एवं विशाल चांदनीके फैलने पर हम सरीखे जुगनू (पटवीजना) कीसी चमक वाले पुरुष किस गणनामें सामिल हो सकते हैं। इस श्लोकको देखनेसे यह पता चलता है कि जैनाचार्योंने पूर्वाचार्यों को कितनी पूज्यता प्रदान की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे और भी देखिये–"अकलंकवचोम्भोधे रुद्धृ येन धीमता। न्याय-विद्यामृतंतस्मै नमो माणिक्यनंदिने॥" आचार्य कहते हैं कि अकलंकस्वामी के वचनरूपी समुद्रसे जिन बुद्धिमान श्रीमाणिक्यनंदि आचार्यने न्याय-विद्यामृतको लिया, उन माणिक्यनंदि मुनिराजके लिये मैं नमस्कार करता हूं। उत्तरोत्तर प्रमाणता एवं पूज्यताका इस श्लोकसे पूरा परिज्ञान हो जाता है। इस प्रमाणतासे वचनोंकी अनुगामिता एवं मान्यता सिद्ध होती है। यही कारण है कि जैनसिद्धांतका समस्त निरूपण एक शृंखलामें चला आ रहा है, उसमें कहीं पूर्वापर विरोध नहीं है। जैनसिद्धांतने जिन पदार्थों का विवेचन किया है वे सब युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं, इसीलिये वे प्रमाणभूत हैं। युक्ति, शास्त्रसे उनकी अविरुद्धता इसलिये सिद्ध है कि उनमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण द्वारा कोई विरोध नहीं आता। इसप्रकार जैनसिद्धांतमें अनेकांतस्वरूप वस्तुका जो प्रतिपादन किया गया है, वह सब सर्वज्ञकथित है। इसलिये उसमें 'यह सत्य है क्या, अथवा असत्य है क्या?' ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिये। जैनागम जिनेंद्र-द्वारा कहा हुआ है, वह जिस रूपमें कहा गया है उसी रूपमें ठीक है। जो स्वरूप जैनागममें वस्तुओंका बतलाया गया है, वह उसीप्रकार है अन्यथा प्रकार कभी हो नहीं सकता। जो कुछ छद्मस्थोंको अन्यथा प्रतीति कभी किसी पदार्थमें होती है वह उनकी समझकी भूल है। इसलिये सदा जैनागममें दृढ़श्रद्धान रखना, थोड़ी भी शंकितवृत्ति नहीं रखना, इसी परिणामका नाम निःशंकित अंग है। यह सम्यक्त्वका प्रथम एवं प्रधान अंग है।

यहांपर यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि 'क्या कभी किसी पदार्थ का स्वरूप समझमें न आनेपर भी शंका नहीं उठानी चाहिये; जबकि छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान परिपूर्ण नहीं है तब किसी पदार्थकी पूर्ण खोज हो जाना नितांत कठिन है, वैसी अवस्थामें अल्पज्ञ जीवोंके परिणामोंमें उस पदार्थसंबंधमें शंकाका उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात है; ऐसी अवस्थामें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यातो सम्यग्दृष्टि पुरुषोंसे निःशंकित अंग नहीं पल सकता अथवा सर्वज्ञ सम्यग्दृष्टि ही निःशंकित अंगके पालक हो सकते हैं ?' इस प्रश्नका उत्तर इसप्रकार है—अल्पज्ञोंको किसी पदार्थमें शंकाका उत्पन्न होना स्वाभाविक बात होनेपर भी उनके निःशंकित अंग पालनेमें कोई बाधा नहीं आती। कारण शंका होनेमें और शंकितवृत्ति रखनेमें बहुत अंतर है। शंका तो हर एक पदार्थमें उठाई जासकती है और न शंकाका उत्पन्न करना सम्यक्त्वकी शिथिलताका सूचक है। सम्यग्दृष्टिको भी शंका होती है परन्तु शंका होनेपर भी वह पदार्थस्वरूपपर उसीप्रकार श्रद्धा रखता है जैसाकि जैनशास्त्रोंमें उसका स्वरूप कहा गया है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि पदार्थका स्वरूप तो जो जैनागममें लिखा है वही ठीक है, पर मेरी बुद्धि अभी वहांतक नहीं पहुंच सकी है। यह मेरी अल्पज्ञताका दोष है। इसीलिये वह शंका-द्वारा उसका स्वरूप समझनेकी चेष्टा करता है, नहीं समझमें आने पर भी वह उसकी श्रद्धासे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता। शंकितवृत्ति उसे कहते हैं कि जो पदार्थस्वरूप जैनागममें बताया गया है वह ठीक है या नहीं, ऐसा उसमें संदेह रखना। संदेह रखनेवाला पुरुष अपनी नासमझीपर ध्यान नहीं देता; किंतु अपनी समझके अनुसार जहांतक वह समझ लेता है उससे आगे समझसे बाहरके पदार्थस्वरूपको उलटा समझता है, इसीका नाम विपरीत श्रद्धा है; यह मिथ्यादृष्टिका लक्षण है। आजकल अनेक जैन कहलानेवालोंमें भी ऐसी ही विपरीत श्रद्धा अथवा कुबुद्धि देखनेमें आती है। जो सूक्ष्म विवेचन भरतक्षेत्र जंबूद्वीप आदि मध्यलोकका जैनागममें किया गया है वहांतक उनकी बुद्धि जाती नहीं, नहीं जानेका भी कारण यह है कि वे लोकरचनासंबंधी शास्त्रोंका स्वाध्याय तो करते नहीं किंतु प्रारंभसे भूगोलविद्याको पढ़ लेते हैं उसके पढ़नेसे उनके हृदयमें वे ही बातें स्थान पा जाती हैं उसी आधारपर वे अपनी तर्कणाओंको इधर उधर दौड़ाया करते हैं। वे उनकी तर्कणायें सर्वथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मूल एवं युक्तिप्रमाणबाधित रहती हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि पहले शास्त्राधारसे लोकरचनासंबंधी शास्त्रोंका परिज्ञान किया जाय, पीछे भूगोलविद्याका अध्ययन भी किया जाय तो उससे फिर विपरीतबुद्धि नहीं हो सकती। इसीप्रकार चारित्र एवं पुराणोंके संबंधमें बिना उनका स्वरूप समझे और उस विषयके शास्त्रोंका रहस्य समझे, वे लोग अपने बुद्धि-कौशलसे अन्यथा निरूपण करते हैं। इसका कारण यही है कि वे अपनी समझतक ही पदार्थस्वरूप समझते हैं, शास्त्रोंका रहस्य जाननेका प्रयास करते नहीं हैं, साथ ही उन्हें कुमतिज्ञानधारियोंकी प्रारंभसे ही शिक्षा दे दी जाती है। बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि वह पदार्थको परीक्षापूर्वक ग्रहण करनेका प्रयास करता रहे, परन्तु परीक्षा भी परीक्षाकोटि तक पहुंचकर ही करें। परीक्षा करनेकी योग्यता न होनेपर जो परीक्षाकेलिए अपनी स्वतंत्र-बुद्धिको कष्ट देते हैं, वे विद्वानोंमें कभी प्रशंसाके भाजन नहीं बन सकते। आगमके अनुकूल ही बुद्धिका विकाश एवं झुकाव करना प्रत्येक बुद्धिमानके लिये हितकारी है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जो परीक्षाकी योग्यता रखते हुए परीक्षापूर्वक पदार्थको ग्रहण करते हैं वे उससे फिर कभी विचलित नहीं होते। इसमें भी संदेह नहीं है कि जैनधर्मकी परीक्षा करना अग्निमें तपाये-हुए सोनेके समान उसको महत्त्व देना है। जिसप्रकार सोनेको जितना अग्निमें तपाया जायगा उतना ही वह महत्त्वशाली एवं बहुमूल्य होता जायगा, उसीप्रकार जैनधर्मकी जितनी छानबीन-पूर्वक परीक्षा की जायगी उतना ही वह महार्घ्य असाधारण हितकारी तथा अद्वितीय सद्धर्मनिरूपक प्रतीत होता जायगा। परन्तु जिन्हें सोनेकी पहचान नहीं है वे यदि सोनेको सोनेरूपमें श्रद्धान न करें, तो क्या उनकी नासमझी एवं अहितता नहीं समझी जायगी! इसी प्रकार जो जैनधर्मको परीक्षा-पूर्वक ग्रहण करनेमें असमर्थ बनकर श्रद्धानपूर्वक न ग्रहण करें, तो क्या उनका अहित न होगा? इसलिये परीक्षाकी योग्यता न रहनेपर श्रद्धापूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही जैनधर्मको ग्रहण करनेसे जीवोंका हित हो सकता है। जैसे जो पुरुष चतुर एवं विश्वासभाजन हितैषी वैद्य-द्वारा बतलाई गई औषधियोंकी पहचानमें असमर्थ रहनेपर भी हितैषी वैद्यके विश्वासपर ही उन्हें खाकर लाभ उठाता है, उसी प्रकार परमहितैषी श्रुतज्ञानके पारगामी महर्षियों-द्वारा निरूपण किए-गए जैनधर्मकी पहचानमें जो असमर्थ पुरुष हैं उनका उन महर्षियोंके वचनोंपर विश्वास रखनेसे ही परमकल्याण हो जाता है। जैसे वैद्य-विद्यामें निपुण एवं हितैषी मित्र वैद्य विपरीत औषधि नहीं दे सकता, उसीप्रकार स्व-परोपकारमें लवलीन निस्पृही वीतरागी एवं श्रुतज्ञान-पारगामी श्रीगुरु आचार्यमहाराज विपरीत उपदेश नहीं दे सकते।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'जगत्में जितने मत प्रचलित हैं सभी ठीक हैं; हेतु यह देते हैं कि जिन्होंने उन मतोंका आदि प्रचार किया है उनके अभिप्राय बुरे नहीं थे, उन्होंने रागद्वेषसे मतोंका निर्माण नहीं किया है किंतु अच्छे अभिप्रायसे ही किया है। इसलिये हर-एक दर्शन एकदेश ठीक हैं।' ऐसा कहनेवालोंको यह विवेक नहीं है कि अच्छा अभिप्राय अथवा निष्कषाय परिणाम रहने पर भी अज्ञानवश पदार्थ अन्यथा कहा जाता है। जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षामें अच्छे अभिप्रायसे उत्तीर्ण होनेके भाव रखकर बैठता है परन्तु विपरीत लिखनेसे अनुत्तीर्ण (ना-पाश) कर दिया जाता है, यद्यपि विद्यार्थीका अभिप्राय अच्छा है परन्तु अज्ञानतासे वह कुछका कुछ लिख डालता है, उसीप्रकार अल्पज्ञोंद्वारा निर्माण किये-गये दर्शन पदार्थका अनेकांत रूप नहीं बतला सकते, अथवा समस्त वस्तुओंका यथार्थस्वरूप नहीं कह सकते। अतः सर्वज्ञदेव-द्वारा प्रतिपादित दिगंबर जैनधर्म ही सच्चा है। वही वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाला है, उसीकी श्रद्धासे आत्माओंका सच्चा कल्याण एवं मोक्षलाभ होता है। सर्वत्र भटकनेसे कभी शांति नहीं मिल सकती।

इसलिये सूक्ष्मपदार्थ (धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य),अंतरित-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ (द्वीप, समुद्र, सुमेरु, विदेह, भोगभूमि, नरक, स्वर्ग, आदि पदार्थ) तथा दूरवर्तीपदार्थ (जो कालकी अपेक्षासे बहुत दूर जा चुके अथवा अभी दूर हैं ऐसे राम, रावण, चक्री, कामदेव आदि) इन सबमें सम्यग्दृष्टिको श्रद्धा रहती है। शंका हो सकती है कि 'ये सभी पदार्थ इंद्रियगोचर न होनेसे सम्यग्दृष्टिके अनुभवमें कैसे आते हैं ?' इसका उत्तर यह है कि— उसके सम्यक्त्वका ऐसा ही माहात्म्य है कि उसे अमूर्त एवं मूर्त परोक्ष पदार्थों पर आस्तिक्य-भाव जाग्रत हो जाता है। कुछ अंशोंमें उसका ज्ञान निर्मल हो जाता है। इसलिये वह उन पदार्थोंका आस्तिक्यपूर्वक अनुभव करता है। जिसप्रकार योगियोंकी योगशक्तिका अपूर्व एवं वचनातीत माहात्म्य होता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावोंका वचनातीत माहात्म्य होता है। मिथ्यादृष्टिके मिथ्योपजीवी भाव रहनेसे वह आस्तिक्यभाव जाग्रत ही नहीं होता; इसलिये वह सर्वज्ञ प्रतिपादित पदार्थोंमें सदा संशयालु ही बना रहता है। समस्त आत्माओंकी शक्तियां समान हैं, फिर भी मिथ्यात्वभावके विपरिणामसे आत्मा मूर्छित हो जाता है। इसलिये जिसप्रकार रागके तीव्र उदयसे मृत बच्चे पर भी माँका तीव्र अनुराग हो जाता है, उसीप्रकार उस मूर्छाके निमित्तसे वह विपरीत स्वादुवाला बना रहता है। विवेकके जाग्रत होनेपर जैसे माँका उस बच्चेसे मोह हट जाता है, उसीप्रकार सम्यक्त्वभावके प्रगट होनेपर आत्मा सत्पदार्थोंका ही ग्राहक एवं श्रद्धास्पद बन जाता है।

कुछ लोग ऐसी भी तर्कणा करते हैं कि 'बिना निर्णय किये जो श्रद्धा होती है वह केवल अंधश्रद्धा होती है, उससे आत्मीय हित क्या हो सकता है ?' ऐसा कहनेवाले भी भूल करते हैं, अंधश्रद्धामें और सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धामें जमीन-आसमानका अंतर है। जो बात अपने अनुभवमें अथवा अपने विश्वासमें तो आती नहीं किंतु दूसरोंके देखादेखी यह समझकर कि 'अमुक पुरुष विश्वास करते हैं तो ठीक होगी' किसी बातपर झट विश्वास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर बैठते हैं, वही श्रद्धा अंधश्रद्धाके नामसे कही जाती है; क्योंकि वहां स्वानुभव एवं निजी विश्वस्त भावोंकी दृढ़ता नहीं है, केवल दूसरोंकी प्रेरणा से अथवा दूसरोंके देखादेखी वैसा विश्वास किया गया है। परन्तु सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धा इस बातसे सर्वथा निराली है; यह निरालापन उसके सम्यक्त्वभावका ही कार्य है। वह जिन बातोंपर श्रद्धान करता है, उसका वह श्रद्धान चाहे परोपदेशपूर्वक हो चाहे स्वयं उत्पन्न हो, परन्तु अंधरूपमें नहीं रहता किंतु स्वानुभवमें आ जाता है। इसलिये उसे श्रद्धाभावके जागृत होनेसे प्रसन्नता होती है, संतोष होता है, आत्मीय परिणामोंमें निर्मलता होती है। भले ही उसकी श्रद्धा पदार्थके निर्णय-पूर्वक न हो, तो भी वह दृढ़तर एवं स्वानुभवगम्य होती है। इसीलिये अन्धश्रद्धालुके समान वह कभी उस श्रद्धाभावसे विचलित नहीं हो सकता। अन्धश्रद्धालु को कालांतरमें दूसरी प्रतीति भी कराई जा सकती है, परन्तु सम्यक्-श्रद्धालुको बलवती प्रेरणा मिलनेपर भी दूसरी प्रतीति नहीं हो सकती। इतनी दृढ़ताका यही हेतु है कि वह श्रद्धा सम्यग्दृष्टिके स्वात्मोत्थ—अपने आत्मासे प्रगट हुआ निजी—भाव है। इस भावका अनुभव एवं रसास्वाद मिथ्यादृष्टिको कभी हो नहीं सकता; इसीलिये वह उसकी समस्त पदार्थों में होनेवाली श्रद्धापर आश्चर्य प्रगट करता है, उसे अन्धश्रद्धा बताता है। वह यह भी आशंका करता है कि 'बिना उन समस्त पदार्थोंका बोध एवं निर्णय किये यह उनपर क्यों श्रद्धा करता है?' परन्तु उसे यह विदित नहीं है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें एक ऐसा भाव जागृत (प्रगट) हो गया है जोकि उन पदार्थोंकी यथार्थताका स्वानुभव करा देता है। जिस-प्रकार ज्ञानावरणका क्षयोपशम हुए बिना अज्ञानी जीव हेयोपादेयके विचार करनेमें असमर्थ रहता है, परन्तु ज्ञानी जीव हेयोपादेयकेविचारमें समर्थ है, उसका कारण केवल क्षयोपशमरूप सामर्थ्यकी जागृति है, उसीप्रकार मिथ्या-दृष्टिकी सामर्थ्य नहीं है कि वह पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धाका अनुभव कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सके। परन्तु सम्यग्दृष्टिके वह सामर्थ्य प्रगट हो जाती है जिसमें ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम हो जाता है, वह परवादियोंको शास्त्रार्थमें परास्त कर देता है, अनेक ग्रन्थोंकी रचना करता है। वस्तुओंकी सूक्ष्मगवेषणा (खोज) करता है। परन्तु जिसका क्षयोपशम अत्यंत मंद है वह यह भी नहीं जान पाता कि शास्त्रार्थ किसे कहते हैं और ग्रन्थ नाम किस वस्तुका है। जिसके मन होता है वही हिताहितका विचार कर सकता है, जिसके मन नहीं है वह असैनी कुछ नहीं विचार कर सकता। जिसके नेत्रेंद्रियावरण नामका क्षयोपशम है वही नेत्रोंसे देख सकता है, जिसके वैसा क्षयोपशम नहीं है वह देखनेमें असमर्थ रहता है। जिसके वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होता है, वही पराक्रमी होता है, वही रणमें बहुसंख्यक सैनिकों को अकेला ही परास्तकर विजयी होता है। जिसके वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम प्रगट नहीं है वह युद्धका नाम सुनकर घरमें ही कंपायमान होता है। इन दृष्टांतोंसे यह बात सिद्ध होती है कि जिसप्रकार आत्माओंमें शक्तियां प्रगट हो जाती हैं, उसीप्रकार उनके कार्य उनमें देखनेमें आते हैं। जिनमें सामर्थ्य प्रगट नहीं होती, वे उन कार्यों से वंचित रहती हैं। यही बात सम्यक्त्वभावके विषयमें है। जिनके वह प्रगट हो चुका है उनमें पदार्थों की—जिनमतकी यथार्थ श्रद्धा पायी जाती है, वे सदा अटलश्रद्धालु रहते हैं। जिनमें सम्यक्त्वभाव जागृतनहीं है वे उस तत्त्व तक पहुंच नहीं सकते। यह एक वस्तुस्वभाव है

कोई कोई ऐसा भी कहते हुए देखे जाते हैं कि 'किसीको किसी बातका श्रद्धान कराना उसकी उन्नतिको रोक देना है। जैसे बालकको यह विश्वास करानेकी आवश्यकता नहीं है कि यह अग्नि है, बालक स्वयं छूकर एवं झुलसकर उसका ज्ञान कर लेगा। छूकर अथवा जलकर अग्निका ज्ञान करना बालकके लिये अनुभवका मार्ग खोल देना है, अन्यथा अग्निका वह कोरा श्रद्धान ही लिये बैठा रहेगा। अग्नि कैसी क्या होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वास्तवमें वह जलाती है या नहीं; यह अनुभव बालकको कभी नहीं हो सकता। इसीप्रकार किसी विषयको किसी पुरुषकी श्रद्धा कराना, उसकी उन्नति एवं अनुभवका रोक देना है। वह जिन जिन पदार्थों का ज्ञान करता जायगा, उनका दृढ़ विश्वास उसे स्वयं होता जायगा; बिना उसके निजके अनुभवके उसे श्रद्धा कराना व्यर्थ है ?' जो लोग ऐसा कहते हैं, वे न तो श्रद्धाका स्वरूप समझते हैं और न ज्ञानका ही महत्व जानते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्त है कि बिना अनुभवके दृढ़ एवं यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। क्या मोक्ष जानेके पूर्व मोक्षका यथार्थ बोध उन महाव्रती तपस्वियोंको नहीं होता है, अथवा उनकी दृढ़ श्रद्धा उस सम्बन्ध में नहीं होती है ? यदि न हो, तो वे मोक्षके लिये कभी प्रयत्नशील न बनें। क्या सर्वज्ञ होनेके पूर्व उन्हें सर्वज्ञताका बोध एवं श्रद्धान नहीं होता है ? यदि नहीं, तो अविश्वस्त पदार्थकी प्राप्तिके लिये वे क्यों असाधारण अचिन्त्य तप एवं ध्यान करते हैं ? पहले सर्वज्ञताका श्रद्धान एवं मोक्षाका श्रद्धान उसकी प्राप्तिके लिये प्रधान कारण है। इसीप्रकार धर्मका स्वर्गादिप्राप्ति फल प्रत्यक्ष नहीं है तथा अधर्मका नरकादि फल भी प्रत्यक्ष नहीं है; वैसी अवस्थामें बिना उन सबका अनुभव एवं प्रत्यक्ष किये धर्ममें प्रवृत्ति एवं अधर्मसे भीति किसीको नहीं करना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, धर्म अधर्मके फलोंमें प्रतीति रखकर प्रत्येक बुद्धिमान धर्मसेवनमें तथा अधर्म छोड़नेमें प्रवृत्ति करता है। इतना ही नहीं, किंतु आत्मा स्वयं बस्तुस्वभावकी ओर झुकता है। वह अधर्म मार्गमें जाते हुये भय खाता है, धर्ममार्गमें जाते हुये प्रसन्न एवं प्रबल तेज पूर्ण हो जाता है। जिसप्रकार क्षयोपशम होनेसे ज्ञान होनेकी योग्यता आत्मामें उत्पन्न हो जाती है, उसीप्रकार सम्यक्त्वभाव होनेसे आत्मामें यथार्थ श्रद्धा एवं स्वानुभव होनेकी योग्यता प्रगट हो जाती है। यह बात पहले स्पष्ट हो चुकी है, आत्मीय गुणोंके स्वभाव एवं धर्म अनिवार्य हैं, बिना ज्ञानके भी यथार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं स्वानुभवगम्य दृढ़श्राद्ध होती है। यह बात भी भ्रमपूर्ण है कि बालक को, उसके अनुभव करनेसे ही हर एक बातकी शिक्षा दिलानी चाहिये, बिना उसके निजके अनुभवके उसे उपदेश देना हितकर नहीं एवं व्यर्थ है। क्योंकि बुद्धिमान पिता माताका क्या यह कर्तव्य है कि बालकको कुएमें गिरनेसे न रोकें, उसे गिर जाने दें ? और यह कहते हुये कि 'कुए में गिरकर वह स्वयं शिक्षा ले लेगा कि यह कुआ है, इसमें नहीं गिरना चाहिये ?' देखते रहें तो क्या वैसी धारणा रखनेवाले माता पिता अपने प्रिय पुत्रको फिर खिला सकते हैं अथवा उसे पुनः शिक्षा देनेका अवसर पा सकते है ? और क्या उस अपरिपक्व एवं अनुभवशून्य बालकको कुएमें गिर जानेके बाद फिर कुएका अनुभव एवं श्रद्धा हो जाती है ? वह तो कुएसे निकालनेपर उसीके किनारेपर छोड़ देनेसे फिर भी उसीमें गिरनेके लिये तैयार दीख पड़ता है। इसलिये बालकको कुएकी प्रतीति एवं उपदेशद्वारा ही दृढ़श्रद्धा कराई जायेगी, तभी वह वहां जानेसे रुक सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरे, अनुभवके विना यदि बालकके हृदयमें किसी वस्तुके गुणदोषोंकी दृढ़श्रद्धा उत्पन्न न कराई जाय तो उस बालकका सुधार ही असंभव है। कारण मदिरापानसे नशा आता है, तमाखू खानेसे कलेजा जल जाता है, विष खानेसे मृत्यु हो जाती है, बिजलीका तार अथवा उसका यंत्र (नाइफ स्वीज़) छूनेसे बिजली शरीरमें प्रविष्ट हो जाती है, इत्यादि सब बातें ऐसी हैं जिनका बालकको अनुभव नहीं है; यदि वह उनका सेवन करके अनुभव करने बैठे तो तुरन्त ही उसकी दूसरी अवस्था हो जाय, परन्तु उसे श्रद्धान रहता है कि उक्त वस्तुयें हानिप्रद हैं। इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि 'पहले प्रत्येक वस्तुका अनुभव होनेके पीछे ही श्रद्धान करना ठीक है'। यह दृष्टांत बालकके लिए दिया गया है; इसका एक अंश ही ग्रहण करना चाहिये, सर्वांश नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणके प्रभावसे स्वानुभवगम्य होता है। वहां भी समस्त वस्तुओंके परिज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, किंतु स्वात्मानुभूति ही प्रधान है। समस्त वस्तुओंका ज्ञान न होनेपर भी सम्यग्दृष्टिको उनकी यथार्थ दृढ़ता हो जाती है, यह एक गुणस्वभाव है। जहां निश्चयसम्यक्त्व नहीं है केवल व्यवहार सम्यक्त्व है, वहां आगमानुकूल श्रद्धाका होना ही निश्चयसम्यक्त्वका साधक है; कारण जिनमतमें उसी मार्गसे निश्चयसम्यक्त्वकी प्राप्ति बतलाई है। इसलिये व्यवहारसम्यग्दृष्टि आगमसे एक अक्षरमात्र भी प्रतिकूल विचार नहीं रखता है। वह देवशास्त्रगुरुकी दृढ़श्रद्धा रखता है, इसीलिये देवपूजनमें विशेष अनुराग शास्त्रवचनोंपर पूर्ण दृढ़ता, विशेष चारित्रधारक गुरुओंकी उपासनामें अनुराग, सम्यग्दृष्टियोंसे विशेष प्रेम, धार्मिकोंसे सम्मेलन एवं वात्सल्य, जिनबिम्ब महोत्सव, प्रतिष्ठादिक कार्य, जैनधर्मकी प्रभावना आदि समस्त धर्मसंबंधी कार्योंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उसकी वह प्रवृत्ति एवं विशेष अनुराग कृत्रिम नहीं होता। जहांपर वास्तवमें निश्चयसम्यक्त्वका कारणभूत व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, वहांपर उक्त कार्योंकी प्रवृत्ति अनुरागपूर्वक नहीं होती है। वहां न देवभक्तिमें विशेष आनन्द एवं उल्लास है, न शास्त्रवचनोंपर दृढ़ता है, न सम्यग्दृष्टि एवं व्रतियोंसे अनुराग है, और न प्रतिष्ठादि कार्योंमें ही सानन्द प्रवृत्ति है। ऐसी आत्माओंमें व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, यह बात जानी जाती है; क्योंकि सम्यग्दृष्टिका बाह्यलक्षणश्री गोम्मटसारमें ऐसा कहा है—"णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे [1]तसे वापि। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥" (जीवकांड) अर्थात् जो इंद्रियोंसे भी विरक्त नहीं है और जो त्रसहिंसा तथा स्थावरहिंसासे भी विरक्त नहीं है; परन्तु जिनेंद्रदेवके कहे हुए वचनोंपर दृढ़ श्रद्धान रखता है, वह अविरत

१ सम्यग्दृष्टि संकल्पी त्रसहिंसा नहीं करता, किंतु आवश्यकतानुसार वह विरोधी, आरंभी और उद्योगी-हिंसामें प्रवृत्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि है। यहांपर भोगसेवनादिक करते रहनेपर भी आर्षवचनोंपर दृढ़ श्रद्धा ही सम्यग्दृष्किा प्रधान लक्षण बतलाया गया है, और उसीको कारणमें कार्यकी विवक्षा रखकर आत्मस्वरूप कहा गया है।

निःकांक्षित अंगका लक्षण

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकांतवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस (जन्मनि) जन्मसे (विभवादीन्) विभव आदि सम्पदाओंको, (अमुत्र) परलोकमें (चक्रित्वकेशवत्वादीन्) चक्रवर्ती नारायण आदि पदोंको (च) और (एकांतवाददूषितपरसमयान्अपि) एकांतवाद होनेसे सदोष दूसरे मतोंको भी (न) नहीं (आकांक्षेत्) चाहे।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक समस्त वस्तुओंकी साभिलाष (रुचिपूर्वक) चाहना नहीं करता है। वह पुण्योदयसे मिली हुई वस्तुओं का भोग भी भोगता है, फिर भी वस्तुस्वभावसे अनुभवित होनेसे उन भोगादि समस्त ऐश्वर्य सामग्रियोंको वह कर्मजनित उपाधि समझता है, उन्हें आत्मीय वस्तु नहीं समझता। इसीलिये उनमें वह अनुराग नहीं करता है, उन्हें भोगते हुए भी हेय (त्यागनेयोग्य) समझता है। इसीलिए उसकी सांसारिक समस्त वासनाओंमें चाहना नहीं रहती, वह विचार करता है कि यह ऐश्वर्य तथा ये चक्रवर्ती आदि पद कर्मके अधीन हैं; पुण्योदय तीव्र होगा तो मिल जायेंगे, नहीं तो नहीं मिलेंगे। आज सब ऐश्वर्य दृष्टि-गत हो रहे हैं, कल पापोदय होनेसे सब विलीन हो जाते हैं। जो आज राजा बनकर खूब ऐश्वर्यको भोगता है वह कल रंक बनकर दूसरोंसे भिक्षा मांगता है। इसलिये ये सब सांसारिक सम्पत्तियां कर्मों के वश हैं। सांसा-रिक सुख सम्पत्तियोंके प्राप्त होनेपर भी बीच बीचमें अनेक दुःख आते जाते हैं। ऐसा भी नहीं है कि जबतक कर्मोदयके वश सुख मिला हुआ है, तबतक तो बराबर स्थिर रहे; किंतु सो भी नहीं रहता, बीच बीचमें अनेक दुःख आते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं। इस सांसारिक सुखमें एक बात और भी विचारनेयोग्य है, वह यह है कि यह जितना भी सुख है सब दुःखका कारण है, सुख भोगते हुए आरंभ-परिग्रहकी लालसा रहती है, बिना आरंभपरिग्रहके सांसारिक सुख भोगनेका कोई द्वार नहीं है, और जितना आरंभपरिग्रह है वह सब पापबीज है अर्थात् उससे पापका बन्ध होता है। इसलिये ऐसे कर्माधीन दुःखमिश्रित एवं दुःखकारण दुःखस्वरूप सांसारिक सुखमें सम्यग्दृष्टिकी रुचि नहीं होती। वह उन सुखोंको भोगता हुआ भी उनसे उदास है, कारण वह वस्तुस्वरूप को पहचान चुका है तथा असली सुखका स्वादी बन चुका है। इसीप्रकार जब सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपको पहचान चुका है, तो उसकी प्रवृत्ति उन एकांतवाद-दूषित परसमयोंमें (जैनधर्मको छोड़कर दूसरे दर्शनोंमें) नहीं होती है।

निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया॥ २५॥

अन्वयार्थ—(क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु) क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि (नानाविधेषु) अनेक प्रकारवाले (भावेषु) पदार्थोंमें (पुरीषादिषु) मल आदिक (द्रव्येषु) द्रव्योंमें (विचिकित्सा) घृणा (नैव) नहीं (करणीया) करनी चाहिये।

विशेषार्थ—विशेष रागद्वेष उसी वस्तुमें होता है जिसमें अपनी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहती है, परन्तु संसारमें कोई पदार्थ वास्तवमें इष्टरूप अथवा अनिष्ट-रूप नहीं है। यदि इष्ट-अनिष्ट स्वरूप वास्तवमें कोई पदार्थ होता, तो वह सबके लिये एकसा होता। जो इष्टरूप होता वह सबोंके लिये इष्टरूप होता, जो अनिष्टरूप होता वह सबोंके लिये अनिष्टरूप होता। परन्तु जो पदार्थ एकके लिये इष्टरूप है वही दूसरेके लिये अनिष्टरूप है, अथवा जो एकके लिये अनिष्टरूप है वही दूसरोंके लिये इष्टरूप है। इतना ही नहीं किंतु जो एक समयमें अपने लिये इष्टरूप है, वही दूसरे समयमें अपने लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिष्टरूप हो जाता है। इससे यह बात निर्णीत है कि पदार्थ सभी अपने अपने स्वरूपको लिये हुए हैं, उनमें इष्टता अनिष्टता कुछ नहीं है, यह सब मोहजनित आत्माका विभावपरिणाम है। सम्यग्दृष्टिके यह विभावपरिणाम नहीं है, इसलिये उसे दुर्गंधित विष्टा आदिक घृणा उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंमें और क्षुधा तृषा आदिक दुःखदेनेवाले पदार्थोंमें ग्लानि एवं तिरस्कारभाव नहीं होता है; कारण वह उन सब पदार्थोंके स्वरूपको उसीप्रकार समझता है। असाताकर्मके उदयसे क्षुधादिक वेदनाएँ सताती हैं, दुर्गंध सुगंध, सुरूप कुरूप आदि सब पुद्गलकी पर्याय हैं, उनमें उसे रुचि अरुचि नहीं है; इसलिये सम्यग्दृष्टिके निर्विचिकित्सा अंगका पालन होता है। इसीप्रकार मुनिमहाराजके धूलिपानीसे विशिष्ट शरीरको देखकर जो उससे ग्लानि करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, वस्तुस्वभावसे अनभिज्ञ हैं; उन्हें नहीं मालूम है कि शरीर तो स्वभावसे ही अपवित्र है, परन्तु मुनिमहाराजने ध्यानाग्निमें तपाकर उसे भी पवित्र बना लिया है। सम्यग्दृष्टिको मुनियोंके मलिन शरीरको देखनेपर भी उससे धार्मिकि अनुराग होता है। ग्लानि तो उत्पन्न ही नहीं होती। इसीप्रकार किसी रोगीको, कुष्ट शरीरवालेको, लंगड़ेको, लूलेको देखकर कभी घृणाभाव नहीं करना चाहिये, कारण वह सब कर्मकृत अवस्था है। घृणा करना पापबंधका कारण है, इसीलिये सम्यग्दृष्टिके उन कर्मसे सताये हुए जीवोंसे घृणा नहीं होती, किंतु उसके चित्तमें दया उत्पन्न होती है।

अमूढ़दृष्टि अंगका लक्षण

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्॥ २६॥

अन्वयार्थ—(लोके) लोकमें (शास्त्राभासे) शास्त्राभासमें-जो शास्त्र तो न हों परन्तु शास्त्र सरीखे मालूम होते हों उसमें (समयाभासे) धर्माभासमें (च) और (देवताभासे) देवता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भासमें (नित्यं) सदा (अपि) ही (तत्त्वरुचिना) सम्यग्दृष्टिके द्वारा–सम्यग्दृष्किो (अमूढदृष्टित्वं) मूढ़तारहित श्रद्धान (कर्त्तव्यं) करना चाहिये।

विशेषार्थ– किसी विपरीत तत्त्वमें दूसरोंकी देखादेखी प्रवृत्त हो जानेको मूढ़ता कहते हैं। जैसे देखनेमें आता है कि अनेक पुरुष लोकमें प्रचलित मूढ़तामें लगे रहते हैं, कोई बालूके ढेरोंकी पूजा करते फिरते हैं, कोई नदीके गोल अथवा लम्बे आदि आकारवाले पत्थरोंकी पूजा करते फिरते हैं, कोई अग्निकी पूजा करते हैं, कोई पानीकी पूजा करते हैं। ये सब लोकमें प्रचलित मूढ़तायें हैं। इनमें अज्ञानी लोक प्रवृत्त होकर दुःख फलका संग्रह करते हैं। यह भी मिथ्यात्वकर्मके उदयका परिपाक है। कोई कुदेवोंमें (रागी द्वेषी देवोंमें) सुदेव बुद्धि रखकर उनकी पूजामें लगे हुए हैं, कोई कषायी, परिग्रही, आरंभी, हिंस्रक आदि कुगुरुओंमें सुगुरुबुद्धि रखकर उनकी पूजा करते हैं; इसीप्रकार अनेक पुरुष अधर्ममें हिंसा आदिक दुष्कृत्योंमें धर्म समझकर प्रवृत्त हो रहे हैं। यह सब कार्य मूढ़पनेके हैं। जबतक आत्मामें मिथ्यात्वकर्मका तीव्रउदय रहता है, तबतक उसकी बुद्धि मूढ़ताकी ओर जाती है। सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें मूढ़श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि वह वस्तुस्वरूपको जान चुका है। वह सदा रागद्वेष-रहित वीतराग तथा सर्वज्ञदेवमें ही देवत्व-बुद्धि रखता है, सर्वज्ञ वीतराग श्री अर्हंतदेवके कहे-हुए पदार्थको ही आगम समझता है। जिनमें हिंसाका पोषण किया गया है, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिमें धर्म बतलाया गया है, आत्मीय तत्त्वका लोप करके केवल भौतिकवादका समर्थन किया गया है तथा पदार्थों का विपरीत स्वरूप बतलाया गया है, उन सबको सम्यग्दृष्टि शास्त्राभास जानता है। वह निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही निरारंभी, निष्कषाय तथा ज्ञानध्यानतपमें लवलीन साधुको ही साधु (मुनि) समझता है। उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम आदि अहिंसामय धर्मको ही धर्म समझकर उसमें प्रवृत्त होता है। यही सम्यग्दृष्टिका अमूढदृष्टित्व (तत्त्वश्रद्धान) है। वह तत्स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपगूहन अंगका लक्षण

धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७॥

अन्वयार्थ—(उपबृंहणगुणार्थं) उपबृंहणगुणके लिये अर्थात् उपगूहनअंगकी रक्षाके लिये (मार्दवादिभावनया) मार्दव आर्जव क्षमा सत्य आदि भावनाओंके द्वारा (सदा) निरंतर (आत्मनः) आत्माका (धर्मः) धर्म (अभिवर्धनीयः) बढ़ाना चाहिये (परदोषनिगूहनं अपि) दूसरेके दोषोंका आच्छादन भी (विधेयं) करना चाहिये ।

विशेषार्थ—उपगूहन और उपबृंहण इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है । ये दोनों शब्द बढ़ानेके अर्थमें भी आते हैं और छिपानेके अर्थमें भी आते हैं । जहां बढ़ानेसे प्रयोजन है वहां आत्मीयभावोंसे संबंध है, जहां छिपानेसे प्रयोजन है वहां दूसरेके भावोंसे संबंध है । अर्थात् उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य आदि गुणोंके द्वारा अपने आत्मीयभावोंको वृद्धिंगत करना चाहिये और दूसरोंके दोषोंको छिपाना चाहिये । 'दूसरेके दोषोंके छिपानेमें क्यों धर्म समझा गया, क्योंकि दोषोंका प्रगट करना अच्छा है, दोषोंके प्रगट करनेसे बहुत संभव है कि सदोषी व्यक्ति दोषोंको छोड़कर निर्दोष बन जाय, फिर दोषोंको छिपाना सम्यक्त्वका अंग क्यों बतलाया गया है ?' इस आशंकाका यह उत्तर है कि यहांपर समस्त कथन अभिप्रायसे संबंध रखता है, इसलिये सरलता एवं भावोंमें निष्कषायता रखनेकी दृष्टिसे यह अंग कहा गया है । यदि किसी पुरुषको दोषी देखकर अपने भावोंमें यह बात उत्पन्न हो कि 'यह दोषोंसे छूट जाय तो अच्छा है, इसका कल्याण हो जायगा, अन्यथा अनर्थोंका भाजन बनता रहेगा' इस भावको हृदयमें रखकर उसके दोषोंको प्रगट कर देना अनुचित तथा अनुपगूहन नहीं है । परन्तु जहां भावोंमें यह बात है कि 'इसके दोषोंका प्रकाश करनेसे यह जगतमें अपकीर्तिका भाजन बनेगा, इसकी बुरीतरह निंदा होगी, उस निंदासे इसे दुःख होगा' ऐसा अभिप्राय रखकर जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषोंका प्रकाशमें लाना है, वह अयुक्त है तथा उपगूहनअंगका घात करना है। कारण दोषोंके प्रकाश करनेसे लाभ कुछ नहीं होता है किंतु दोषी व्यक्तिकी आत्मामें पश्चात्तापके कारण अशुभकर्मोंका बंध होता है। किसी आत्मामें पापबंधका कारण हमें बनना पड़े, यह भी तो निकृष्ट कार्य है। इसलिये उपगूहनअंगकी रक्षाके लिये किसीके दोषोंका जगतमें प्रकाश मत करो किंतु कल्याणकी सच्ची दृष्टि रखकर उसी व्यक्तिसे कह दो कि 'तुममें अमुक दोष है उसे जल्दी दूर कर दो।' ऐसा करनेसे अपने परिणामोंमें भी निष्कषायता ओर सरलता बनी रहेगी तथा उस व्यक्तिकी आत्माको भी वास्तविक शांति मिलेगी। यही उपगूहनअंगका स्वरूप है। जहां आत्मीय गुणोंकी वृद्धि की जाती है वहां आत्मा इंद्रियप्रवृत्तिसे उदास हो जाता है, इसलिये आत्माके गुणोंकी वृद्धिके लिये बाह्य क्रियाकाण्डमें– पूजन, यज्ञोपवीतसंस्कार, दान, संयम इत्यादि सभी आगमविहित आत्मीय शुद्धिके कारणोंमें सम्यग्दृष्टि प्रवृत्त रहता है। इसीप्रकार किसी अज्ञानी पुरुषके कार्योंसे अथवा असमर्थ पुरुषके कार्योंसे धर्मकी निंदा होती हो, तो सम्यग्दृष्टि पुरुष उस निंदाको दूर कर देता है।

स्थितिकरण अंगका लक्षण

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यं॥ २८॥

अन्वयार्थ—(न्यायात् वर्त्मनः) न्यायमार्गसे (चलयितुं) चलायमान करनेके लिये (कामक्रोधमदादिषु) काम क्रोध मद आदिकोंके (उदितेषु) उदित होनेपर (श्रुतं) शास्त्रानुसार (युक्त्या) युक्तिपूर्वक (आत्मनः) अपना (च) और (परस्य) दूसरेका (स्थितिकरणं अपि) स्थितिकरण भी (कार्यं) करना चाहिये।

विशेषार्थ—काम क्रोध मद आदि विकारभावोंके उत्पन्न होनेपर यदि कोई पुरुष न्यायमार्गसे (संयमसे, व्रतसे, अथवा चारित्रसे) गिरता हो, तो उसे शास्त्रोंका उपदेश देकर और आगमके अनुकूल युक्तियोंसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझाकर उसी ग्रहण किये हुए सुमार्गपर दृढ़ कर देना अर्थात् उसे विचलित न होने देना इसीका नाम स्थितिकरण है। यह परस्थितिकरण कहा गया है। स्वस्थितिकरण भी इसीप्रकार कर लेना चाहिये। यदि काम क्रोध मद आदिके आवेगमें अपना चारित्र या संयम शिथिल होता हुआ प्रतीत हो, तो शास्त्रोंका लक्ष्य रखकर अपने आपको भी तुरन्त ही सुमार्गमें दृढ़ कर लेना चाहिये।

यह बात एक साधारण है कि जीवोंके पूर्व बंधे हुए कर्म कभी तीव्र-रूपसे कभी मंदरूपसे उदयमें आते रहते हैं। जिससमय कर्मों का तीव्र उदय होता है उससमय जीव सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्रसे च्युत होने लगता है अथवा अंशांशोंकी अपेक्षा उनसे शिथिल होने लगता है। उसीसमय शास्त्राभ्यास तथा उपदेशसे अपनेको और परको उनमें—सम्य-ग्दर्शन-चारित्रमें दृढ़ कर देना चाहिये। इतना विशेष है कि जहांपर दूसरेके आत्माको सुधार करनेकी भावना हो वहां किसीप्रकारका प्रलोभन अथवा स्वार्थवासना न होनी चाहिये; किंतु केवल सदनुग्रहबुद्धिसे सदुपदेश एवं आदेश करना चाहिये। जहांपर परिणामोंमें किसी प्रयोजन तथा प्रत्युपकारकी वासना रहती है, वैसी आत्माओंसे दूसरोंका सुधार होना बहुत कठिन है। पूर्णसुधार तथा सच्चासुधार वही आत्मा कर सकता है जो निस्पृहवृत्तिवाला है। एक बात यह भी नितांत आवश्यक है कि धर्मोपदेश देकर दूसरोंकी आत्माओंका वहींतक सुधार करना उचित है जहांतक कि अपने व्रत संयममें बाधा नहीं आती है, अपने व्रत संयमके नाशकी परवा न करके जो दूसरोंके सुधारमें तत्पर होते हैं वे न दूसरोंका ही सुधार कर सकते हैं और न अपना ही सुधार कर सकते हैं। जो अपने चारित्रका घात करके दूसरोंके सुधारमें अथवा पर-रक्षणमें प्रवृत्त होते हैं, उनका दूसरों पर कोई महत्त्वयुक्त प्रभाव नहीं पड़ सकता। क्योंकि वे अपनी आदर्शता तो खो चुके, वैसी अवस्थामें उनसे दूसरे लोग उत्तम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग कहांतक ग्रहण कर सकते हैं ? इसलिये जहांतक अपने सम्यक्त्व और चारित्रकी रक्षा बनी रहै वहांतक पररक्षण समीचीन एवं आवश्यक है; जहां स्वरक्षण नहीं है वहां पररक्षण भी अशक्य है, क्योंकि पररक्षण भी आत्मरक्षण-पूर्वक ही किया जा सकता है। जिस व्रतीके तीन बार सामायिक करनेका नियम है, सचित्तका त्याग है, रात्रिभोजनका त्याग है, वह यदि परोपदेशकी धुनमें तन्मग्न होकर आवश्यकता समझकर सामायिक करना बन्द कर दे, सचित्त फलफूल भक्षण करने लग जाय अथवा दिनमें उपदेश-कार्यसे अवकाश न मिलनेपर रात्रिभोजन करने लग जाय, तो वैसी अवस्थामें क्या उपदेश ग्रहण करनेवाले उसे व्रतीकी दृष्टिसे देखेंगे ? और नहीं देखने पर, उसके उपदेशका वे कहांतक आदर करेंगे ? दूसरे, जब उपदेष्टाकी आत्मा स्वयं व्रताचरणसे पतित है तब वह उन्नतमार्गका प्रभावपूर्ण उपदेश दे नहीं सकता। इसलिये सबसे प्रथम स्वात्मसाधनमें सावधान होना प्रत्येक सुबुद्धिका कर्तव्य है। उसके पश्चात् परात्म-साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

वात्सल्य अंगका लक्षण

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(अहिंसायां) अहिंसामें (शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने) मोक्षसुखरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें कारणभूत (धर्मे) धर्ममें (च) और (सर्वेषु) समस्त (सधर्मिषु अपि) समान धर्मवालोंमें भी (परमं) उत्कृष्ट (वात्सल्यं) वात्सल्यभाव (आलंब्यं) पालना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसप्रकार गौकी उसके बछड़ेके प्रति प्रीति होती है, उसीप्रकार धर्मसे, धर्मात्माओंसे, धर्ममें सहायता करनेवालोंसे प्रेमभाव जहां प्रगट किया जाता है वहींपर वात्सल्यअंगका पालन होता है। अपने और परके भेदसे वात्सल्यके भी दो भेद हैं। जिससमय परीषह उपसर्ग आदि निमित्तकारणोंसे किसीके द्वारा आत्मा पीड़ित किया जाय, उससमय अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानमें, ध्यानमें, तपमें, शुभाचारमें शैथिल्य नहीं आने देना, प्रत्युत धर्म में प्रेमपूर्वक सावधान रहना; यही स्वात्मवात्सल्य है। अर्थात् अपने निज-गुणोंमें प्रेम करना, उनकी उपासनामें, वृद्धिमें, रक्षणमें प्रमाद नहीं करना; यही स्वात्मवात्सल्य है तथा पंचपरमेष्ठियोंमें, जिनमंदिरोंमें, मुनिअर्जिका श्रावक श्राविका इन चारप्रकारके संघमें, जिनवाणीमें स्वामीके प्रति भृत्यकी तरह दासता (सेवकपना) अंगीकार करना; यह भी स्वात्मवात्सल्यमें गर्भित है। यदि ऊपर कहेहुए परमपूज्य पदार्थों मेंसे किसीपर कोई उपसर्ग अथवा आपत्ति आती हो, तो उसके दूर करनेके लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये। जिसप्रकार भी उनपर आईहुई बाधाको दूर कर सकनेकी योग्यता हो उसी-प्रकार जुटकर उसके दूर करनेमें प्रयत्नशील होना चाहिये। यदि बलकी आवश्यकता हो तो बलपूर्वक प्रयोग करना चाहिये, मंत्रकी आवश्यकता हो तो मंत्रका प्रयोग करना चाहिये, धनकी आवश्यकता हो तो धन भी खर्च करना चाहिये। परन्तु थोड़ी भी सामर्थ रहनेपर जिनबिंब एवं जिन-मंदिर आदि पर आईहुई आपत्तिको देखते रहना या सुनते रहना, परंतु उसे हटानेमें यत्नशील न होना, यह धर्मप्रेमका सूचक नहीं है। जिसकी आत्मामें धार्मिकप्रेम एवं श्रद्धा है वह जिनबिंब जिनमन्दिर चारसंघ आदि किसी भी धर्मतत्त्वपर उपस्थित होनेवाली बाधाको कभी सहन नहीं कर सकता; यही वात्सल्यअंगका लक्षण है। इसीप्रकार जहां जीवोंकी हिंसा होती हो वहां पहुंचकर, उपदेश देकर, समझाकर, प्रभाव दिखाकर, द्रव्य खर्चकर, जिसप्रकार हो उसीप्रकार प्रयत्न करके जीवोंकी हिंसा रोकना चाहिये। जीवकी रक्षाके समान दूसरा धर्म नहीं है। एक आत्माकी रक्षा कर लेना महान् पुण्यबंधका कारण है। समस्त जीवोंपर प्रेम तथा दया-भाव रखना, यह भी वात्सल्य है।

प्रभावना अंगका लक्षण

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ ३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(रत्नत्रयतेजसा) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये ही तीन रत्न कहलाते हैं, इनके प्रतापसे (सततं एव) निरंतर ही (आत्मा) अपना आत्मा (प्रभावनायः) प्रभावित करना चाहिये (च) और (दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः) दान तप जिनेंद्रपूजन और विद्याके अतिशय—चमत्कारोंसे (जिनधर्मः) जैनधर्म प्रभावित करना चाहिये ।

विशेषार्थ—प्रभावनाके भी पहले अंगोंके समान दो भेद हैं, १. अपनी प्रभावना और २ जैनधर्मकी प्रभावना । सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि और सम्यक्चारित्रजनित बढ़ी हुई उत्तरोत्तर विशुद्धतासे अपने आत्माको प्रभावित करना चाहिये । सम्यक्त्वकी निश्चल (अडोल) दृढ़ता देखकर दूसरोंको आश्चर्य उत्पन्न होने लगे, अनेक शास्त्रोंके परिज्ञान एवं उनके रहस्य अच्छीतरह समझ लेनेसे दूसरोंकी आत्मापर श्रुतज्ञानकी वृद्धिका पूर्ण प्रभाव पड़ने लगे; चारित्रकी इतनी वृद्धि करना चाहिये कि जिससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा बराबर होती जाय तथा आत्मा उत्तरोत्तर महान् विशुद्ध होता चला जाय, उस बढ़ेहुए चारित्रको देखकर दूसरे आश्चर्य करने लगें और आत्मीय सामर्थ्यकी हृदयसे प्रशंसा करने लगें एवं अनेक त्यागी उसी मार्गपर चलनेके लिये आदर्श समझने लगें । इसप्रकार रत्नत्रयके तेजसे अपने आत्माकी प्रभावना करना चाहिये । तथा दानादि सत्यवृत्तियोंमें जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये । जिनमंदिरोंकी रचना इसप्रकारकी कराना चाहिये जिससे दूसरे मतवालोंके हृदयमें भारी चमत्कार दीखने लगे । कहीं मोती लगेहुए हैं, कहीं माणिक, हीरा, पन्ना जड़े हुये हैं, कहीं सोनेके चित्र बनेहुये हैं, कहीं पच्चीकारीकी अपूर्व कारीगरी होरही हैं, समोशरणकी रचना होरही है, जिनमंदिरोंकी बहुत बड़ी विभूतिको देखकर दूसरे लोग जैनधर्मवालोंके दानकी प्रशंसा करने लगें । कुछ लोग कहते हैं कि 'जिनमंदिरोंमें रचना विशेष नहीं कराना चाहिये उन्हें वीतरागता उत्पन्न करनेवाले खंडहर सरीखे सादा ही रखना चाहिये' परन्तु ऐसा समझना और उपदेश देना बड़ी भारी भूल है । उन्हें इस बातका अनुभव नहीं है कि मंदिरोंकी समधिक शोभा बढ़ानेसे ही सरागी जीवोंकी प्रवृत्तियां वीतराग मूर्तिमें स्थिर होती हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि मंदिरोंकी रचना सादा हो तो अनेक सरागियोंका वहां चित्त ही नहीं लगे; मन्दिरोंके ऐश्वर्यशाली होनेसे आत्मापर बहुत बड़ा जिन-धर्मका चमत्कार एवं प्रभाव पड़ता रहता है। उसी निमित्तसे आत्मा उन नाना दृश्योंके साथ वीतराग जिनदेवकी सेवामें विशेष धर्मानुरागके साथ प्रवृत हो जाता है। यह निश्चित है कि–जितने साधन होंगे, जितना उत्तम क्षेत्र होगा, जितनी बढ़िया चौकी होगी, जितने उत्तम चांदी सोनेके वर्तन होंगे, उतना ही चित्त विशेषरीतिसे वहां संलग्न रहेगा। उत्तम रत्नोंकी सुन्दरमाला होगी तो ध्यान करनेके लिये सरागी पुरुषोंका चित्त विशेष आकर्षित होगा। विशेष साधन आत्माको कार्यकी ओर खींचनेके कारण हैं और आत्मा के उधर खिच जानेसे वह उन साधनोंकी सहायतासे वीत-रागताकी ओर झुक जाता है; क्योंकि आदर्श एवं उपास्यदेव तो वीत-राग हैं, वे तो सराग नहीं किये गये हैं। यदि वे भी सराग बना दिये जांय तब तो हमारा आदर्श ही न रहे, उपास्यदेवका स्वरूप ही नष्ट हो जाय। इसलिये जिनमंदिरोंके जिनाधीश वीतराग होनेसे उन सराग साधनोंसे आत्मा वीतरागताकी ओर ही झुक जाता है, सरा-गताकी ओर जाता ही नहीं। मकान महल भी सजाये जाते हैं, जिनमंदिर भी सजाये जाते हैं, परन्तु मकान महलोंकी सजावट देखकर आत्मा भोगविलास भोगनेकी ओर दौड़ता है और जिनमंदिरकी सजावट देखकर पूजन करनेकी, ध्यान करनेकी, भक्ति करने की और स्वाध्याय करनेकी ओर दौड़ता है। इसका कारण यही है कि घरोंमें उपास्यपदार्थ सराग है, वहांपर रहनेवाले स्त्री-पुरुष आदि उन घरोंके अधिपति (स्वामी) सरागी हैं, भोगी विलासी हैं; इसलिये उनके सजाये हुए घरों को देखनेवाले सरागी जीवोंके परिणाम भी भोगविलासोंकी ओर झुक जाते हैं, परंतु जिनमंदिरमें श्रीवीतरागदेवकी वीतरागताकी मुद्रा (छाप) अंकित है, इसलिये वहांकी शोभा देखनेवाले सरागी भी उसी सरागसामग्रीमें वीतरागताकी झलक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखते हैं। उनके परिणाम उन्हीं साधनोंसे धर्म-साधनकी ओर झुक जाते हैं, इसलिये जिनमंदिरोंमें अपनी विभूतिके अनुसार आश्चर्य करनेवाली रचना करना चाहिए। जिनमंदिर समवशरणके स्थानमें है, समवशरणकी जैसी विभूतियुक्त रचना होती है उसीप्रकार अपनी सामर्थ्य तथा विभूतिके अनुसार हमें भी जिनमन्दिरोंकी रचना करना चाहिए। यदि वीतराग मूर्तिके आयतन श्रीजिनमंदिर वीतराग ही बनानेसे वीतरागता आती हो, तो द्वादशांगका वेत्ता इंद्र समवशरणकी अनेक वन उपवन वाटिका स्तूप कोट आदिसे सजाई हुई रत्नमय सुन्दर रचना क्यों करता है ? जैसे उस रचनासे जैनधर्मावलम्बियोंकी आत्मा पर विशेष धर्मानुराग, और जैनेतर—अन्य धर्मावलम्बियोंकी आत्मापर जैनधर्मका विशेष चमत्कार होता है उसी-प्रकार जिनमन्दिरोंकी रचनासे समझना चाहिए। जिनमंदिरकी शिखर समस्त नगरसे उन्नत होनी चाहिये, उसपर बहुत विशाल ध्वजदंड होना चाहिए। उससे भी लोगों पर जिनधर्मका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और प्रभावना होती है। इस बाह्यप्रभावके सिवा जिनमन्दिरों की रचनामें अंतरंग कारण यह है कि गृहस्थाश्रममें रहनेवाले स्त्री-पुरुष रातदिन गृह-संबंधी आरंभ करते हैं, उससे अशुभास्रव करते रहते हैं; उसी पापारंभकी कारणभूत लक्ष्मीका सदुपयोग यदि जिनमंदिरोंकी रचनामें करते हैं तो महान् पुण्य-बंध करते हैं। धर्मायतनोंका निर्माण उनके बनानेवालोंके लिए महान् पुण्यबंधका कारण तो है ही, साथ ही अनेक जीवोंके शुभपरिणामोंके लिए भी प्रधान कारण है। जिसप्रकार गृहस्थकी इच्छा अपने घरको सजानेकी होती है, वैसे ही जिनन्दिरोंके सजानेके लिए भी उनके हृदयमें धर्मानुराग उत्पन्न होता है; उसी अनुरागकी प्रेरणासे वे छत्र चमर झालर घंटा बरतन चौकी सिंहासन आदि उत्तमोत्तम जिनभक्तिके साधनोंको सोने चांदी जवाहरात आदि वस्तुओंसे बनवाते हैं। इसके सिवा जिनपूजा के अतिशयसे प्रभावना करना चाहिये। जिनपूजा भी बड़ी विभूतिके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ की जाती है। सबसे भारी विभूति जो मनुष्योंकी सामर्थ्यसे सर्वथा बाहर है, इंद्रध्वज पूजामें बतलाई गई है; इसलिए उस पूजनका अधिकारी इंद्र ही होता है। जिस पूजनमें लोगोंको उनकी इच्छानुसार दान दिया जाता है, बड़े ठाट-वाटके साथ चक्रवर्तिओं द्वारा की जाती है उसे कल्पद्रुमपूजन कहते हैं। जिस पूजनको चतुर्मुख प्रतिमाका स्थापन कर मुकुटवद्ध राजा करते हैं, उसे चतुर्मुखपूजन कहते हैं। अष्टाह्निकमें होनेवाली पूजनको अष्टाह्निकपूजन कहते हैं और प्रतिदिन घरसे उत्तमोत्तम शुद्ध और ताजे तैयार-किये पक्वान्न फल आदि द्रव्योंको ले जाकर जो पूजन की जाती है, उसे नित्यपूजन कहते हैं। पूजन करनेवाला इंद्र-तुल्य होता है, वह पूजक बनते समय अपनेमें इंद्रकी कल्पना करता है। इसलिये पूजा करनेवालोंको विभूतिसहित जिनमन्दिरमें जाना चाहिये। उत्तमोत्तम अलंकार उत्तमोत्तम वस्त्र पहन कर पूजा करना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना परम आवश्यक है कि सभी अलंकार और वस्त्र शुद्ध होने चाहिये। अशुद्ध वा अपवित्र वस्त्रोंसे आत्मापर मलिनताका प्रभाव पड़ता है। इसीप्रकार प्रतिष्ठादिक महोत्सवों-द्वारा जैनधर्मका प्रभाव एवं चमत्कार लोगों पर प्रगट करना चाहिये। बड़ी आयोजनाके साथ महोत्सवका होना वहांपर त्यागी तथा विद्वानोंके धर्मोपदेशका होना, बड़े ठाटबाट और विभूतिके साथ श्रीजिनेन्द्रदेवको रथमें विराजमान करके बीच नगरसे ले जाना, इत्यादि बातोंसे जैन और जैनतर सभी लोगों पर जैनधर्मका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसप्रकारकी प्रभावना जगहजगह समयसमय पर होती रहना चाहिए।* सर्वार्थसिद्धिकार श्रीपूज्यपाद

*जो लोग यह कहते हैं कि 'वर्तमान समयमें इन प्रतिष्ठादि कार्योंकी आवश्यकता नहीं है किंतु शिक्षालयोंकी है' वे एक आवश्यकताकी पूर्ति करना चाहते हैं, परन्तु दूसरी आवश्यकता लोप करते हैं। शिक्षालयोंकी आवश्यकता है, यह बात ठीक है। परन्तु प्रतिष्ठादि धर्मकार्योंकी आवश्यकता नहीं है, यह बात सर्वथा अयुक्त है। कारण जिसप्रकार शास्त्रार्थके द्वारा विजयलाभ कर चमत्कार प्रगट किया जाता है, अथवा बड़े पदपर पहुँचकर स्वजाति और स्वधर्मका गौरव बढ़ाया जाता है, उसीप्रकार प्रतिष्ठादि कार्योंसे लोगों पर दूसरे प्रकारका ही प्रभाव पड़ता है। जिससमय श्रीजिनेन्द्रदेवकी सवारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजने विभूतिदर्शनको भी सम्यक्त्व-प्राप्तिमें कारण बतलाया है। इसके सिवा उदारता-पूर्वक दान देकर बड़ी बड़ी विशाल पाठशालाएँ, स्वाध्यायशालाएँ, औषधशालाएँ, धर्मशालाएँ आदि परउपकारक कार्य कराने चाहिये। ऐसे कार्योंसे जगत्में कीर्ति स्तम्भ स्थिर हो जाता है। तथा तीव्र पुण्यबंध होता है। विद्याका चमत्कार दिखाकर भी जगत्में जैनधर्मका अतिशय प्रगट करना चाहिये। इस प्रभावना अंगसे विधर्मियोंपर जैनधर्मका अच्छा प्रभाव पड़ता है। उत्तमप्रभावका पड़नाही धर्मप्रसारका चिह्न है। इसलिये जगत्में जैनधर्मका प्रसार करनेके लिये हर प्रकारसे उसकी प्रभावना दिखलाना चाहिये। इसप्रकार ये ऊपर कहे हुए सम्यग्दर्शनके अष्ट अंग सम्यग्दृष्टिको पालन करना चाहिये। ये आठों ही अंग अपना और परका कल्याण करनेके लिये प्रधान कारण हैं।

इसप्रकार श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिनप्रवचनरहस्यकोष-की (वादीभकेशरी, न्यायालङ्कार) पं० मक्खनलालशास्त्रीकृत भव्यप्रबोधिनी नामक हिन्दी भाषाटीकामें सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

सम्यग्ज्ञानका विवेचन

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः॥ ३१॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (आश्रितसम्यक्त्वैः) सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले उन पुरुषोंको, जो (नित्यं) सदा (आत्महितैः) आत्माका हित चाहते हैं, (आम्नाययुक्तियोगैः)

नगरके बीचसे बड़ी विभूति और गाजे-बाजेके साथ निकलती है, उससमय जैनधर्मका पूर्ण गौरव प्रगट होता है। इसके सिवा प्रतिष्ठादि कार्योंमें जो पञ्चकल्याणक विधियां हैं, उनसे इकट्ठे होनेवाले समस्त स्त्रीपुरुषोंके भावोंमें विशुद्धता और भक्तिरसका स्रोत बहने लगता है। स्थापना निक्षेपसे ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है और निश्चयतत्त्वकी प्राप्ति भी उसी स्थापनातत्त्वसे होती है; गर्भ जन्म आदि कल्याणोंकी कल्पनाएँ देखनेवालोंके हृदयमें उस समयवर्ती साक्षात् तत्त्वका भाव उत्पन्न कर देती हैं, उन्हीं भावोंकी निर्मलतासे उपस्थित सभी जन पुण्यबंध करते हैं। इसलिये प्रतिष्ठादि कार्य ऐसे कार्य हैं, जो जीवोंके सुधारमें पूर्ण कारण हैं उनका होना भी परमावश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनधर्मकी पद्धति और युक्तियोंके द्वारा (यत्नेन) भलेप्रकार (निरूप्य) विचार करके (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (समुपास्यं) आदरके साथ प्राप्त करना चाहिये।

विशेषार्थ– सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे आत्मा मोक्षमार्ग पर आजाता है। परन्तु आत्माका हित करनेके लिये सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करना चाहिये। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये यह उपाय है कि पदार्थोंको प्रमाण और नयोंके द्वारा निर्णीत करना चाहिये। जिसप्रकार कांटेसे वस्तुके परिमाण (वजन) का ठीक ठीक बोध हो जाता है, उसीप्रकार प्रमाण और नयोंके द्वारा वस्तुके स्वरूपका ठीकठीक बोध हो जाता है। सोने तथा जवाहरातका ठीक वजन करानेके लिये उन्हें धर्मकांटे पर तोलते हैं, उसीप्रकार कुमति ज्ञानियों-द्वारा अथवा नाना मतावलंबियों-द्वारा विवादकोटिमें लाये जानेवाले पदार्थोंको प्रमाण-नयरूपी धर्म-कांटेपर तौलनेसे उनका सत्स्वरूप ठीक ठीक जाना जाता है। प्रमाण-से अनंत धर्मात्मक वस्तुका एकसाथ बोध किया जाता है, नयसे प्रत्येक धर्मका विवक्षावश जुदा जुदा बोध होता है। प्रमाण वस्तुके सर्वांशको ग्रहण करता है, नय उसके एकदेशको ग्रहण करता है। नयोंके अनेक भेद हैं, जिनका विवेचन पहले संक्षिप्त रूपमें किया [1]जाचुका है। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। प्रत्यक्षप्रमाण भी इन्द्रियप्रत्यक्ष और अतींद्रियप्रत्यक्ष, ऐसे दो भेदवाला है। इन्द्रियोंसे होनेवाले प्रत्यक्षको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तवमें तो इंद्रियप्रत्यक्ष ज्ञान परोक्षज्ञान ही है, परन्तु लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि 'मैंने अपनी आंखोंसे देखा है, मैंने अपने कानोंसे सुना है' इत्यादि, इस व्यवहारके कारण उपचारसे उसे प्रत्यक्षके भेदमें कहा गया है। जो ज्ञान इंद्रियोंकी तथा मनकी सहायता के बिना स्वयं आत्मासे पदार्थोंका साक्षात्कार करता हो, उसे अतींद्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान, ये तीनों

१. इसी ग्रन्थके प्रारम्भमें पृष्ठ १८ से २८ तक, नयका वर्णन किया गया है; वहीं देखना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं; मति और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष हैं। परोक्षज्ञानके पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। किसी बातको कालांतरमें भूलना नहीं किंतु ध्यानमें रख लेना, उसे 'स्मृतिज्ञान' कहते हैं। जैसे—'हमने श्रीस्वर्णगिरि निर्वाणक्षेत्रकी बंदना की, पीछे १ वर्ष बाद घर बैठे ही यह ध्यान आया कि श्रीस्वर्णगिरिक्षेत्र कितना मनोज्ञ था, वहांपर ज्ञानगुदड़ी नामकी विशाल शिला कैसी सुंदर थी और श्रीचंद्रप्रभस्वामी तथा चंदेरीवालोंके मन्दिरमें श्रीचंद्रप्रभस्वामी आदिनाथ-स्वामी और श्रीवर्धमानस्वामीकी प्रतिमायें कितनी मनोज्ञ थीं।' इसी धारणावाले ज्ञानका नाम स्मृतिज्ञान है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों ज्ञानोंकी सहायतासे एक तीसरी पर्यायमें उत्पन्न होता है, उसे प्रत्य-भिज्ञान कहते हैं। जैसे—'हमने पहले श्रीसम्मेदशिखरकी बंदनाकी, दूसरे वर्ष फिर हम बंदनार्थ वहां गये और श्रीपर्वतपर चढ़ते समय मनोहर शब्दवाले सीतानालेपर द्रव्य धोकर चरणोंके प्रक्षालके लिये जल लिया; उससमय हमें पहला भी स्मरण आया कि जिस पत्थरपर बैठकर हम आज द्रव्य धो रहे हैं, पारसाल भी इसीपर बैठे थे।' इसप्रकार वर्तमानका प्रत्यक्ष और पहलेका स्मरण, इन दोनों ज्ञानोंकी सहायतासे यह एक तीसरी ही ज्ञानकी पर्याय उत्पन्न हुई कि 'यह वही पाषाण है जिसे हमने पारसाल भी देखा था।' इस ज्ञानको न तो प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं, क्योंकि पारसालका ज्ञान भी शामिल है, और न केवल स्मृति ही कह सकते हैं, क्योंकि वर्तमान प्रत्यक्ष भी शामिल है; और न दोनों ही कह सकते हैं, क्योंकि दो ज्ञान उपयोगात्मक एक साथ नहीं हो सकते। इसलिये दोनोंका जोड़-रूप यह तीसरा ही 'प्रत्यभिज्ञान' नामका ज्ञान है। किसी वस्तुकी व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव-संबंधका ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'तर्क'[1] है। जैसे—धूएँको सदा अग्निके साथ रहतेहुये देखकर यह

१- कुछ लोग तर्कका अर्थ तर्कणाशील बुद्धि करते हैं, अर्थात् किसी बातपर तर्क-वितर्क

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिज्ञान कर लेना कि धूआँ अग्निके बिना नहीं रहता, इसलिये धूआँ अग्निका [1]व्याप्य पदार्थ है।

साधनसे साध्यका ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'अनुमान' है। जैसे किसी प्रदेशमें धूआँ निकलता हुआ दिखाई देता हो, तो उससे यह निश्चयात्मक ज्ञान कर लेना कि उस प्रदेशमें अग्नि अवश्य है, क्योंकि धूआं बिना अग्निके रह नहीं सकता, इसलिये वह अग्निका निश्चय कराता है। इसप्रकार साधनसे (हेतुसे) साध्यका निश्चयात्मक ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'अनुमान' है। जैसे कोई कोई तर्कको तर्कणाशील बुद्धि समझते हैं, वैसे अनुमानको भी अन्दाजा समझते हैं; उसीप्रकार बोलते भी हैं कि 'अमुक बात मैंने अनुमानसे कही थी, मुझे उससमय ऐसी ही मालूम हुई थी, झूंठी निकल गई तो क्या हुआ ? मैंने निश्चयरूपसे तो नहीं कही थी, अनुमानसे कही थी।' यहांपर अनुमानसे कहनेवालेका अभिप्राय अन्दाजा है। किसी बातको अटकलसे अनिश्चय एवं संदेहरूपमें प्रगट कर देनेका नाम अन्दाजा है। परंतु अन्दाजाके अर्थमें अनुमान का प्रयोग करना सर्वथा असंगत है, विपरीत है। कारण अनुमानज्ञान प्रमाणात्मक है, वह सदा निश्चयात्मक ही होता है और यथार्थ ही होता है। जो निश्चयात्मक और यथार्थ नहीं होवे, उसे अनुमान नहीं कहना चाहिये, किंतु अनुमानाभास अथवा मिथ्याज्ञान कहना चाहिये। जो अविनाभावी हेतुसे यथार्थरूपमें निश्चयात्मक साध्यका बोध किया जाता है, उसीको 'अनुमानज्ञान' कहते हैं। इसीलिए धर्मद्रव्य,

---

(बाद विवाद) करनेका नाम ही वे तर्क बतलाते हैं; परन्तु उस तर्क नामसे यह तर्क नाम जुदा ही है। जिन दो पदार्थोंका अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्धके ज्ञान कर लेनेको ही तर्क संज्ञा दी गई है। यह प्रमाणरूप (यथार्थ) ज्ञान है; वादविवादवाला तर्क अप्रमाणरूप (अयथार्थ) ज्ञान है यही दोनोमें भेद है।

१. जहां धूआँ पाया जाता है, वहां अग्नि अवश्य रहती है; अग्निके बिना धूआँ कभी नहीं रह सकता, इसीका नाम 'व्याप्य' है। अग्नि धूआँके बिना भी तपेहुये लोहे आदिमें पाई जाती है, इसलिये वह, 'व्यापक' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्य, सूक्ष्म पुद्गलवर्गणाएँ, आकाशद्रव्य, ये सब जैसे आगम-प्रमाणसे जाने जाते हैं, वैसे हेतुवादसे भी जाने जाते हैं। परन्तु जहां अविनाभावी हेतुका प्रयोग नहीं किया जाता, वहां उनका ज्ञान ठीक ठीक नहीं हो सकता। जहां अविनाभावी हेतुके प्रयोगद्वारा साध्यका ठीक ठीक निश्चय कर लिया जाता है, वहां उस ज्ञानको 'अनुमानप्रमाण' कहते हैं। परोक्षपदार्थोंका ज्ञान आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण, इन दो ज्ञानोंसे ही होता है। अनुमानज्ञान सदा अविनाभावी हेतुसे ही होता है; इसीलिये वह नियमसे यथार्थ होता है। कभी विपरीत या संदेहात्मक हो नहीं सकता। सच्चे ज्ञानका नाम ही अनुमान है। इसीलिये जो सन्देहात्मक (अन्दाजू) ज्ञानके लिये अनुमान शब्दका प्रयोग करते हैं अथवा वैसा समझते हैं, वे शास्त्रीयपद्धतिसे विरुद्ध कहनेवाले वा समझनेवाले हैं। अनुमानप्रमाणमें सबसे बड़ी बात विचार करनेकी यही होती है कि—जिस हेतुसे विवादकोटिमें लायेगये साध्यकी सिद्धि की जाती है, वह हेतु कभी साध्यको छोड़कर भी रह सकता है ? अथवा सदा साध्यके साथ ही रहनेवाला है ? यदि साध्यको छोड़कर भी रह सकता हो, तो वह अविनाभावी नहीं कहा जा सकता; अतएव वह साध्यका निश्चायक भी नहीं हो सकता। अविनाभावी हेतु उसे ही कहते हैं जो साध्यके बिना नहीं रह सके। वैसे अविनाभावी हेतुके देखनेसे जो साध्यका ज्ञान होगा, वह सदा निश्चयरूप ही होगा। इसीलिये अनुमानप्रमाण यथार्थ होता है। उससे कीहुई पदार्थ-सिद्धि नियमसे यथार्थ होती है।

पांचवाँ परोक्षप्रमाण आगम है सत्यवक्ताके-द्वारा कहेगये वचनसे जो पदार्थ-ज्ञान होता है, उसे ही आगम कहते हैं। सत्यवक्ताको आप्त कहते हैं। प्रधान सत्यवक्ता सर्वज्ञ वीतराग श्रीअर्हंतदेव हैं। उनकी दिव्यध्वनिसे जो श्रोताओंको पदार्थका बोध होता है, वह बोध ही आगम कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। तथा अर्हंतदेवके द्वारा कहे गये पदार्थोंको ज्योंका-त्यों श्रीगणधरदेव और आचार्य प्रत्याचार्य कहते आये हैं, वे गौणआप्त हैं; परंतु वे सर्वज्ञदेवके कथनका ही वर्णन करते हैं, इसलिये वे भी आप्त हैं। उनके वचनोंसे जो पदार्थ-बोध होता है, वह भी आगम है। जैनशास्त्रोंको भी आगम कहा जाता है, वह उपचार-कथन है। वास्तवमें शास्त्रोंसे जो अर्थज्ञान होता है, उस ज्ञानका नाम आगम है। उस ज्ञानमें शास्त्र कारण हैं, इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके शास्त्रोंको भी आगम कहा जाता है। जिसका वक्ता सत्य है, वही आगम हो सकता है, और नहीं। दिगम्बर जैनाचार्योंने ही सर्वज्ञदेवके वचनोंका अनुसरण किया है, उनके कथनको शास्त्रोंकी रचना द्वारा मूर्तिमान् रूप दिया है। जो शास्त्र अल्पज्ञोंकी मूल रचना है, वे आगम नहीं कहे जा सकते। जैनागम युक्ति और प्रमाणोंसे अखंडित एवं निरावाध है, इसलिये वह प्रमाणभूत है। वास्तवमें विचार किया जाय, तो सबसे ऊपर प्रमाण अथवा सबसे बड़ा प्रमाण आगम ही है। जो पदार्थ मनुष्योंकी बुद्धिसे अगम्य हैं और जिनका परिज्ञान करानेमें युक्तिवाद भी असमर्थ है, उनका ज्ञान आगम-प्रमाणसे सहज हो जाता है। यदि लोकसे अथवा शास्त्रसे, युक्तिसे अथवा हेतुवादसे आगम-कथित पदार्थोंमें बाधा आती हो, तो उसे आगम नहीं मानना चाहिये। जैनागम-कथित पदार्थोंमें कभी कोई बाधा नहीं आ सकती। इसलिये वह सर्वोपरि प्रमाण है। इसप्रकार परोक्षप्रमाणके पांच भेद हैं। इन प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणोंसे और नयोंसे वस्तुतत्त्वका यथार्थ निर्णय करते हुये सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करना चाहिये।

दर्शन और ज्ञानमें भेद

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(दर्शनसहभाविनः अपि) सम्यग्दर्शनका सहभावी होनेपर भी (बोधस्य) सम्यग्ज्ञानका (पृथगाराधनं) जुदा आराधन करना अर्थात् सम्यग्दर्शनसे भिन्न प्राप्ति करना (इष्टं) इष्ट है; (यतः) क्योंकि (अनयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें (लक्षणभेदेन) लक्षणके भेदसे (नानात्वं) नानापन अर्थात् भेद (संभवति) घटित होता है।

विशेषार्थ—जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उससमय उसीके साथ मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। साथसाथ होनेपर भी, सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पीछे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उपदेश दिया गया है। यहांपर यह शंका होती है, 'जबकि दोनों साथ ही प्रगट होते हैं तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये ही उपदेश देना ठीक है, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्यों पृथक् उपदेश दिया गया है ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि साथसाथ दोनों प्रगट होते हैं, फिर भी दोनोंका लक्षण जुदा है, दोनोंकी संख्या जुदी है, दोनोंके आवरण करनेवाले कर्म जुदे हैं, दोनोंका क्षयोपशम जुदा है, दोनोंके कार्य जुदे हैं, दोनोंके स्वरूप जुदे हैं; इसलिये उनका भिन्न भिन्न विधान बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ऊपर कहा जाचुका है। सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ जानना है। किसी वस्तुको न कमती, न बढ़ती, न संदेहरूप, न विपरीतरूप, न अनध्यवसायरूप जानना किंतु जैसी है वैसी ही समझना; इसीका नाम सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् जो ज्ञान संशय-विपर्यय अनध्यवसाय से रहित यथार्थ वस्तुका परिचायक है, वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन उपशम, क्षय, क्षयोपशम, इन भेदोंसे तीनप्रकार है। सम्यग्ज्ञान सुमति, सुश्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, इन भेदोंसे पांचप्रकार है। सम्यग्दर्शनका आवरक-कर्म दर्शनमोहनीय है। सम्यग्ज्ञानका आवरक-कर्म ज्ञानावरण है। उन भिन्नभिन्न आवरणोंसे दोनोंके क्षयोपशमादिक भाव भी जुदे जुदे हैं। सम्यग्दर्शनका कार्य मोक्षमार्ग पर पहुंच जाना है। सम्यग्ज्ञानका कार्य उस मार्गमें आईहुई अविवेक जनित बाधाओं का हटाना है। सम्यग्ज्ञान आत्माका जुदा गुण है, सम्यग्दर्शन जुदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण है। इन लक्षणादिक भेदोंसे ज्ञानदर्शन दोनोंका जुदा जुदा आराधन कहा गया है। श्लोकमें 'संभवति' क्रिया दीगई है, उसका यह अभिप्राय है कि इन दोनोंमें नानापना संभव है; अर्थात् विवक्षावश नानात्व भी है और अभेदविवक्षासे अभिन्नता भी है। लक्षणादि भेद विवक्षासे भेद है; अन्यथा नहीं है।

दोनोंमें कार्य-कारणभाव

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदंति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानंतरं तस्मात् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(जिनाः) जिनेंद्रदेव (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञानको (कार्यं) कार्य और (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शनको (कारणं) कारण (वदंति) कहते हैं, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानाराधनं) सम्यग्ज्ञानका आराधन (सम्यक्त्वानंतरं) सम्यग्दर्शनके पीछे (इष्टं) ठीक है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार सूर्य और प्रकाश दोनों ही साथसाथ होते हैं; परन्तु सूर्य कारण है, प्रकाश उसका कार्य है। इसलिये प्रकाशप्राप्तिके लिये पहले सूर्यकी आराधना की जाती है, पीछे प्रकाशकी। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथसाथ होते हैं, फिर भी सम्यक्त्व कारण है, सम्यग्ज्ञान उसका कार्य है। अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति के होनेसे ही ज्ञानमें सम्यग्ज्ञानपना आता है। इसलिये सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें सम्यग्दर्शन कारणहै। पहले कारण की प्राप्ति की जाती है, पीछे कार्यकी। इस दृष्टिसे सम्यग्दर्शन पहले उपास्य अथवा प्राप्तव्य है, और सम्यग्ज्ञान पीछे उपास्य है।

समकालमें होनेवाले कार्य-कारणका दृष्टांत

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटं ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(समकालं) समान कालमें अर्थात् एक कालमें (जायमानयोः अपि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न हुए भी (सम्यक्त्वज्ञानयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें (कारणकार्यविधानं) कार्य-कारणभाव (दीपप्रकाशयोः इव) दीप और प्रकाशके समान (सुघटं) भले प्रकार घटित होता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार, दीपक जिससमय जलाया जाता है उसीसमय उसके जलनेके साथ ही उसका प्रकाश भी उत्पन्न हो जाता है, प्रकाशकी उत्पत्तिमें दीप कारण है, प्रकाश उसका कार्य है, परन्तु दोनों ही एक क्षणमें उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ उत्पन्न होते हैं,। दोनोंकी उत्पत्तिका समान काल है। फिर भी दोनोंमें कार्य-कारणभाव है। कहीं कहीं कारण पहले रहता है, कार्य पीछे उत्पन्न होता है। एक कालमें उत्पन्न हुए पदार्थ स्वतन्त्र होते हैं, उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं होता। इसी आशयको लेकर यहां भी शंका उत्पन्न हो सकती है कि 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका समानकाल है, फिर उनमें कार्य-कारणभाव कैसा?' उसीका उत्तर यह दिया गया है कि—समानकालमें उत्पन्नहुए पदार्थोंमें भी कार्य-कारणभाव होता है; जैसे दीप और प्रकाशमें। उसीप्रकार यहां सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

कर्तव्योध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥ ३५॥

अन्वयार्थ—(सदनेकांतात्मकेषु) समीचीन अनेकांतस्वरूप (तत्त्वेषु) तत्त्वोंमें (अध्यवसायः) यथार्थ बोध (कर्तव्यः) प्राप्त करना चाहिये, (तत्) वही (संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं) संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित (आत्मरूपं) आत्माका स्वरूप है।

विशेषार्थ—यहांपर सत् (समीचीन) विशेषण दो अर्थोंको सिद्ध करता है। एक तो यह कि सत्स्वरूप और अनेकांतस्वरूप तत्त्वोंका मनन करना चाहिये; द्रव्यका लक्षण सत् (सत्ता) कहा गया है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप अनेकांत है, इसलिये तत्त्व-स्वरूपका बोध करानेके लिये यहांपर सत् पद भी दिया गया है, और अनेकांत पद भी दिया गया है। दूसरा अर्थ यह होता है कि—जो अनेकांत है वह सत् समीचीन है। सर्वथा अनेकांत तथा कथंचित् अनेकांत ऐसे अनेकांतके भी दो भेद हैं, उनमें सर्वथा अनेकांत भी वस्तुस्वरूप नहीं है, कथंचित् अनेकांत वस्तुस्वरूप है अर्थात् वस्तु कथंचित् अनेकांत है, कथंचित् एकांत है। कथंचित् एकांत भी समीचीन है, सर्वथा एकांत भी समीचीन नहीं है। इसी अर्थको स्वामी समंतभद्राचार्यने "अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोर्पितान्नयात्।" इस कारिकाद्वारा प्रगट किया है। इसका अभिप्राय यही है कि प्रमाण और नयोंकी सिद्धिसे अनेकांत भी अनेकांत है, प्रमाणसे अनेकांत है, तथा विवक्षितनयसे वही एकांत है। अनेकांतस्वरूप तत्त्वोंका अनुमनन करना ही सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान आत्माका निजस्वरूप है। क्योंकि पदार्थोंका सत्स्वरूप जानना ही सम्यग्ज्ञान है, तथा सम्यग्ज्ञान आत्माके निजरूपको छोड़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जिस ज्ञानमें संशय-विपर्यय-अनध्यवसायभाव रहते हैं, वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है। संशयका लक्षण यह है कि जो ज्ञान एक साथ एक पदार्थका अनेक कोटियोंको ग्रहण करे वह संशयज्ञान कहलाता है। जैसे सीपको देखकर यह ज्ञान होना कि यह सीप है या चांदी है? यहांपर ज्ञानका निश्चय न तो सीपमें ही है और न चांदीमें ही है; दोनों कोटियोंमें बराबर है। ऐसे संशयकोटिमें आये हुए ज्ञानको संशयज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान पदार्थके स्वरूपसे विपरीत कोटिको निश्चयरूपसे ग्रहण करे उसे विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे सीपको देखकर यह निश्चय हो जाना कि यह चांदी ही है। यहां पर वस्तुस्वरूप सीप है, परन्तु सीपसे सर्वथा विपरीत चांदीका ज्ञान सीपमें निश्चयात्मक हुआ है, इसलिये वह विपर्ययज्ञान कहलाता है। विपर्ययमें विपरीत कोटिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय होता है, संशयमें दोनों कोटियोंमें संदेह रहता है, निश्चय किसी कोटिका नहीं हो पाता। अनध्यवसाय इन दोनोंसे भिन्न ज्ञान है, उसमें पदार्थका बोध ही नहीं हो पाता कि क्या है ? अविदित एवं मलिन ज्ञानकी कोटिको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे रास्ता चलते हुये पैरमें किसी तृणादिकका स्पर्श हुआ हो तो वहां यह ज्ञान नहीं होता कि किस वस्तुका यह स्पर्श हुआ है, किंतु कुछ स्पर्श हुआ है, बस इतना ही ज्ञान होता है। इसी मलिन (बिना जानी हुई) पर्यायको अनध्यवसायज्ञान कहते हैं। ये ज्ञानके तीनों ही रूप मिथ्या हैं। वस्तुस्वरूप से विपरीत हैं। इसलिये जो ज्ञान इन तीनों मिथ्याज्ञानोंसे रहित होता है वही सम्यग्ज्ञान है। यथार्थ वस्तुस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसी सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये सदा तत्त्वोंके वास्तविक स्वरूपका अध्ययन, मनन, चिंतवन एवं विचारणा विवेचना आदि करते रहना चाहिये। शास्त्रोंके स्वाध्याय करनेकी तथा उन्हें पढ़नेकी यह पद्धति है कि– पहले शास्त्रोंको पढ़ना चाहिये, अर्थात् उनके अर्थपर ध्यान देते हुए उनका स्वाध्याय करना चाहिये। फिर उसमें जो जो शंकायें अपनेको मालूम हुई हों उनका समाधान विद्वान् एवं विशेष जानकारोंसे पूछना चाहिये। पीछे, निर्णय करनेके पश्चात् स्वयं उन तत्त्वोंका मनन और चिंतवन करना चाहिये। मनन करनेके पश्चात् उन सूत्रोंको अथवा श्लोक या वार्तिकोंको शुद्धरूपमें पाठ करके ध्यानमें रख लेना चाहिये। ध्यानमें रख लेनेसे अथवा उन्हें कंठस्थकर लेनेसे स्वयं भी पदार्थबोधकी धारणा बनी रहती है, और दूसरोंके लिये भी प्रमाण दिया जा सकता है। जिससमय पढ़कर, पूछकर मननकर और शुद्ध पाठकर पदार्थस्वरूपका निश्चयात्मक धारणारूप यथार्थ बोध प्राप्त कर लिया जाय, उससमय दूसरोंको धर्मोपदेश देना चाहिये। स्व-परहित-सिद्धि करना ही जीवके जीवनका सार है। स्व-हित साधन करनेके पीछे ही परहित साधन करना श्रेष्ठ एवं कार्यकारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये पहले सम्यग्ज्ञानको स्वयं अच्छी तरह उपार्जन करना चाहिये, पश्चात् दूसरोंकी हितदृष्टि रखकर उन्हें भी सत् वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध करा देना चाहिये ॥

सम्यग्ज्ञानके अष्ट अंग

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ – (काले) अध्ययनकालमें (विनयेन) विनयपूर्वक (बहुमानेन समान्वितं) अतिशय सम्मानके साथ अर्थात् आदर भक्ति एवं नमस्कार क्रियाके साथ (ग्रंथार्थोभयपूर्णं) ग्रंथ–शब्दसे पूर्ण अर्थसे पूर्ण और शब्द अर्थ दोनोंसे पूर्ण (सोपधानं च) धारणासहित अर्थात् शुद्धपाठ सहित (अनिह्नवं) विना किसी बातको छिपाये (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (आराध्यं) प्राप्त करना चाहिये ।

विशेषार्थ—स्वाध्याय अथवा शास्त्रोंका अध्ययनकाल जो बताया गया है उसी कालमें स्वाध्याय अथवा अध्ययन करना चाहिये, जो काल ग्रंथोंके पठनपाठनका शास्त्रोंमें निषिद्ध कहा गया है उस कालमें पठनपाठन नहीं करना चाहिये । स्वाध्याय सरीखी उत्तमक्रियाओंका भी क्या काल नियत है, उन्हें हर समय क्यों नहीं कर सकते हैं ? निषिद्धकालमें स्वाध्याय करनेसे अथवा अध्ययन करनेसे क्या हानि होती है ? इत्यादि प्रश्नोंका पहला उत्तर तो यह है कि जिस क्रियाका विधान जिससमय आगममें किया गया है, वह क्रिया उसी कालमें करना चाहिये । यदि आगमविहित मार्ग अथवा विधानकी परवा नहीं की जाय तो फिर उस साध्यरूप क्रियासे भी क्या फल हो सकता है ? शास्त्रोंमें जिसप्रकार उत्तम चारित्रधारी मुनियोंकी चर्याका समयानुसार विधान बताया गया है–उनकी आहार-गमन क्रियाका काल, उनके सामायिकका काल, उनके स्वाध्यायका काल, उनका शयनकाल आदि समस्तकाल नियत हैं उन्हीं कालोंमें वे नियत क्रियाओंको करते हैं, उसीप्रकार स्वाध्याय अथवा अध्ययनकाल भी नियत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल है। जो सामायिकका समय है उससे अतिरिक्त समयमें सामायिकमें उतना चित्त भी नहीं लग सकता, अन्यान्यबाधाएँ भी उपस्थित हो सकती हैं इसलिये प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल सामायिकके लिये नियत हैं। उसीप्रकार स्वाध्यायकाल भी नियत हैं, नियत समयसे अतिरिक्तकाल में स्वाध्याय करनेमें व्यग्रता हो सकती है, अन्याय बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं, प्रमाद आ सकता है, बुद्धिमें मांद्य आ सकता है, इत्यादि अनेक विघ्न आ सकते हैं; इसलिये आगमद्वारा नियतकालमें ही स्वाध्याय करना चाहिये। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि समयका प्रभाव आत्मा-पर पड़ता है। जो निर्मलता प्रातःकाल परिणामोंमें रहती है वह दूसरे समयमें नहीं रहती। जैसे रात्रिको कोई बात ध्यानमें अथवा स्मरणमें नहीं आती है वह प्रातःकाल आ जाती है, इससे सिद्ध होता है कि समय भी परिणामोंकी उज्ज्वलता एवं मलिनताका कारण है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषोंको उचित है कि जो समय आगममें शास्त्रस्वाध्याय एवं अध्ययनका बताया गया है उसीमें वह करना चाहिये। किस समयमें अध्ययन करना चाहिये, अथवा किसमें नहीं करना चाहिये इसका विधान इसप्रकार है—

[1]गोसर्गकाल, [2]प्रदोषकाल, [3]प्रदोषकाल और [4]विरात्रिकाल, इन चार उत्तमकालोंमें पठनपाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं। चारों संध्याओंकी अंतिम दो दो घड़ियोंमें, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इंद्रधनुष, सूर्य-चंद्रग्रहण, तूफान, भूकंप आदि उत्पातोंके समयमें सिद्धांत-ग्रंथोंका पठनपाठन वर्जित है। हां, स्तोत्र आराधना धर्मकथादिके ग्रंथ बांचनेमें कोई हानि नहीं है।

जिनवाणीकी भक्ति हृदयमें रखकर विनयपूर्वक स्वाध्याय करनेको विनयाचार कहते हैं। विनय दो प्रकार है—१ बाह्य, २ अभ्यंतर।

१. मध्याह्नसे दो घड़ी पहिले और सूर्योदयसे दो घड़ी पीछेका काल। २. मध्याह्नके दो घड़ी पश्चात् और रात्रिसे दो घड़ी पहलेका काल। ३. रात्रिके दो घड़ी उपरांत और मध्यरात्रिसे दो घड़ी पहलेका काल। ४. मध्यरात्रिसे दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदयसे दो घड़ी पहलेका काल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाह्यविनय वह कहलाता है किशुद्धशरीर तथा शुद्धवस्त्रोंसे शुद्ध ऊंचे स्थानमें विनयासनपूर्वक शास्त्रोंका स्वाध्याय करना। जिससमय शास्त्र लाये जाते हों उससमय खड़े हो जाना। उनके चौकीपर विराजमान हो जानेपर अष्टांग नमस्कार करना, उन्हें उत्तम वेष्टनमें रखना, सुरक्षित रखना, सर्दी में धूप दिखाना, लिखना, लिखवाना, दूसरेको स्वाध्यायके लिये देना, ये सब बातें वाह्यविनयमें गर्भित हैं। अभ्यंतर विनय वह कहलाता है, कि हृदयमें जिनवाणीकी पूर्णभक्ति रखना, शास्त्रोंका अच्छी तरह मनन करके बुद्धिको निर्मल एवं विशेष क्षयोपशमशालिनी बनाना, जैनधर्मके सिद्धांतों को सर्वव्यापी बनाना, इत्यादि अंतरंग विनय है।

व्याकरणसे शब्दोंको परिष्कृत करके, अर्थात् शब्दशास्त्रसे शब्द वा वाक्योंको शुद्ध करके अक्षर, पद, वाक्य, चरण, श्लोक, पंक्ति, सूत्र आदिका शुद्धोच्चारणपूर्वक पठन पाठन करनेका नाम शब्दाचार अथवा ग्रंथाचार है। शब्दाचार, श्रुताचार, व्यंजनाचार, अक्षराचार, ग्रंथाचार आदि सभी पर्यायवाची (एकार्थवाचक) शब्द हैं। यथार्थअर्थका परिज्ञान करनेका नाम अर्थाचार है, अर्थात् जिन शब्द अथवा वाक्योंका जो अर्थ विहित है वही अर्थ उन शब्द वा वाक्योंका करना अर्थाचार है। विहित अर्थसे प्रतिकूल अर्थ करना अनर्थ है एवं विपरीत मार्ग है। विपरीत अर्थ करनेसे दर्शनमोहनीयकर्मका बंध होता है, क्योंकि किसी वाक्यका अथवा श्लोकका विपरीत अर्थ करना सबसे बड़ा पाप है, वैसा करनेसे अपना और दूसरोंका महान् अकल्याण होता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि जो आगमके अनुकूल अर्थ है वही ग्रहण करें। यही अर्थाचारनामा ज्ञानका अंग है। शब्द और अर्थ दोनोंके शुद्ध और यथार्थ पठनपाठन करनेका नाम उभयाचार है। यहांपर यह शंका उठायी जा सकती है कि 'शब्दाचार अर्थाचारको जुदाजुदा कह चुके हैं, उभयाचार उनसे भिन्न नहीं है, उन्हीं दोनोंका नाम है; इसलिये दोनोंमें गर्भित हो सकता है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जुदा ग्रहण क्यों किया गया है ?' इसके उत्तरमें यह बात समझलेना चाहिये कि—कहीं केवल अर्थाचारसे ही काम निकलता है; जैसे श्रीशिवभूतिमुनिका शरीरसे आत्मा तुष-माष (भूसीसे उर्द)-के समान जुदा है, इस भावज्ञानसे ही कल्याण हो गया। कहींपर केवल शब्दसे ही ज्ञानकी उपासना की जाती है; जैसे दशाध्याय सूत्र और भक्तामर, कल्याणमंदिर, विषापहार आदि स्तोत्रोंका मूलपाठ पढ़ने और सुननेसे भी कल्याण होता है। यहांपर केवल शब्दशास्त्रमें ही निष्ठा पाई जाती है। उपर्युक्त दोनों आचारोंमें उभयाचार सम्मिलित नहीं होता, इसलिये एक साथ दोनोंकी (अर्थाचार और शब्दाचारकी) पूर्तिके लिये उभयाचारका जुदा ग्रहण किया गया है। शब्दाचार अर्थाचार तथा उभयाचार इनकी शुद्धता रखना ही जिनवाणीका मूल विनय है। इनकी अशुद्धतामें जीवोंकी बड़ी भारी हानि हो सकती है। हां, जहांपर हृदयमें जिनवाणी अथवा शास्त्रोंपर परमभक्ति है वहां स्वल्पबोधवश कुछ वैपरीत्य होनेपर भी पापबंध अथवा अकल्याण नहीं होता। कारण भावोंसे ही पापबंध होता है, भावोंमें जहांपर वैपरीत्यबुद्धिका समावेश है वहां थोड़ा भी वैपरीत्य महान्पापबंधका कारण है। दृष्टांतके लिये अंजनचोरको ले लीजिये; अपने जीवनकी समाप्ति समझकर उसने धर्मनिष्ठ सेठके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके "ताणं ताणं सेठवचन परमाणं" इस अशुद्ध णमोकार मंत्रके पढ़नेसे ही कल्याण प्राप्त किया। और राजा वसुने बुद्धिपूर्वक अजका 'जौ' अर्थ न करके विपरीत अर्थ 'बकरा' (छाग) करनेसे नरक प्राप्त किया। इन दृष्टांतोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि बुद्धिपूर्वक भावोंसे एक शब्दका भी विपरीत अर्थ होनेसे कितना भारी पाप होता है कि जिसके फलसे नरक जाना पड़ता है और शुद्ध अंतःकरण तथा दृढ़श्रद्धामें कितना तत्त्व भरा हुआ है कि जिसके फलसे शब्दांतर होनेपर भी कल्याण लाभ हुआ। बुद्धिमान पुरुषोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान कर्तव्य है कि शब्दाचार अर्थाचाररूप सम्यग्ज्ञान पालनका पूर्ण ध्यान रक्खें ।

सम्यग्ज्ञानका पूर्ण आदर करना, ग्रंथोंका पूर्ण आदर और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले गुरुओंका पूर्ण आदर करना, यह बहुमानाचार कहलाता है । यह बात निश्चित है कि जबतक जिस वस्तुको प्राप्ति करना चाहते हैं उसके प्रति आदरभाव एवं आकांक्षा विशेष नहीं होगी, तबतक उसकी प्राप्ति होती नहीं । फिर जिस वस्तुकी प्राप्ति केवल भावोंकी विशुद्धता मात्रसे संबंध रखती है उस वस्तुके प्रति यदि भावोंमें अनादरपना अथवा मलिनता है तो फिर उसकी प्राप्ति अशक्य ही समझना चाहिये । सम्यग्ज्ञानको प्राप्तिके लिये यह नितांत आवश्यक बात है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना की जाय, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें कारणभूत ग्रंथों और गुरुओंकी उपासना की जाय । जबकि हमारी भावना शुद्ध और बलवती होगी तो अवश्य ही विशेषज्ञानकी प्राप्ति होगी; ऐसा समझकर बहुमानाचारनामा ज्ञानका अंग ध्यानपूर्वक पालना चाहिये । इस अंगकी परवा नहीं करनेसे न तो शिष्य और गुरुमें शिष्य-गुरु संबंध ही रहता है और न समीचीन ज्ञानकी उपासना ही होती है । परिणाम यह होता है कि पुरुष कुमतिज्ञानी बन जाते हैं । सूत्र, वार्तिक, श्लोक, गाथा आदिको न भूलनेका नाम उपधानाचार है । मूलग्रंथका स्मरण रखना अत्यावश्यक है; बिना उसके शब्दविपर्यास और अर्थविपर्यास होनेकी पूरी संभावना रहती है, इसलिये मूलपाठकी धारणा रखना नितांत आवश्यक है; इसीका नाम उपधानाचार है ।

ज्ञानको गुरुको और शास्त्रको नहीं छिपाना अनिह्नवाचार कहलाता है । ज्ञानके छिपानेसे ज्ञानावरणकर्मका बंध होता है । ज्ञानका तो जितना प्रसार किया जाय उतनी ही उसकी वृद्धि होती है, उसे जितना छिपाकर रक्खा जाय उतना ही वह मंद कुंठित तथा विस्मृत होता जाता है;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये ज्ञानको कभी नहीं छिपाना चाहिये। अहो! ज्ञानको छिपाकर क्या आत्माके गुणोंको फिरसे कर्मों द्वारा ढकना चाहते हो? कठिनतासे तो कथंचित् उनका विकाश हुआ है, इसलिये प्रकाशमें लाकर उसकी वृद्धि करना ही बुद्धिका सदुपयोग है। इसीप्रकार ज्ञानदान करानेवाले अथवा तत्त्वबोध करानेवाले विद्या-गुरुओंका नाम भी नहीं छिपाना चाहिये। गुरुका नाम छिपानेसे कृतघ्नताका दोष आता है। सज्जन पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे किये हुए उपकारको भूलें नहीं। सबसे बड़ा उपकार ज्ञानदान है, जिसने सम्यग्ज्ञानका दान किया है उसने अनंतसंसारका विच्छेद करनेका मार्ग दिखाया है। ऐसे महान् उपकारीका नाम छिपाना अत्यंत कृतघ्न आत्माओंका कार्य है। दूसरी बात यह है कि गुरुका नाम छिपानेसे अपने ज्ञानमें प्रमाणीकता नहीं आती है; इसलिये गुरुका नाम कभी गोपन नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार जिन शास्त्रोंसे अध्ययन किया हो उनका नाम तथा उनके रचयिताओंका नाम भी नहीं छिपाना चाहिये। इसीका नाम अनिह्ववाचार है। इसप्रकार (१) कालाचार (२) विनयाचार (३) शब्दाचार (४) अर्थाचार (५) उभयाचार (६) बहुमानाचार (७) उपधानाचार (८) अनिह्ववाचार, ये सम्यग्ज्ञानके आठ अंग हैं। इनका पालन करना नितांत आवश्यक और परमोपयोगी है।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिनप्रवचन-रहस्यकोषकी वादीभकेशरी न्यायालङ्कार पं० मक्खनलालशास्त्री-कृत भव्यबोधिनी नामक हिन्दीटीकामें सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥ २ ॥

सम्यक्चारित्र धारण करनेयोग्य पुरुष

विगलितदर्शनमोहैः समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपिनिःप्रकंपैः सम्यक्चारित्रमालंब्यं॥ ३७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(विगलितदर्शनमोहैः) नष्ट हो चुका है दर्शनमोहनीयकर्म जिनका (समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः) सम्यग्ज्ञानके द्वारा जाने हैं जीव अजीव आदिक तत्त्व जिन्होंने (नित्यमपि निःप्रकंपैः) जो सदा अडोल अथवा अचल रहनेवाले हैं, ऐसे पुरुषों-जीवों द्वारा (सम्यक्चारित्रं) सम्यक्चारित्र (आलंब्यं) धारण किया जाना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, और जो सम्यग्दर्शनकी दृढ़तासे कभी विचलित नहीं होते हैं, वे ही जीव सम्यक्चारित्र धारण करनेके पात्र हैं । अथवा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिये । बिना सम्यक्चारित्र धारण किये आत्मा उन्नत अवस्थामें नहीं जा सकता, कषायोंका परित्याग नहीं कर सकता, इंद्रियोंपर विजयलाभ नहीं कर सकता; अतएव आत्माके निज-गुणोंका विकाश भी नहीं कर सकता और निज गुणोंके विकाशके बिना आत्माकी अवनत (नीचली) दशा रहती है । इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंको उचित है कि सम्यक्चारित्र धारण करके जीवनको महत्त्वशाली एवं सुखमय बनावें । परंतु सम्यक्चारित्र से पहले उस आत्माको सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बनना परम आवश्यक है, बिना सम्यग्दर्शन लाभ किये वह सन्मार्गपर आरूढ़ ही नहीं हो सकता । वैसी अवस्थामें उसकी जितनी भी क्रियायें होंगी, सब मिथ्याचरणरूप होंगी । उन सम्यक्त्व-विहीन मिथ्याचरण-युक्त क्रियाओंसे पापबंधके सिवा कोई लाभ नहीं । इसलिये वे ही क्रियायें फलवती होती हैं जो सम्यक्त्व-पूर्वक हैं । सम्यक्त्व-प्राप्तिके साथ सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी सम्यक्चारित्र से पहले आवश्यक है, बिना सम्यग्ज्ञान प्राप्त किये समस्त क्रियायें उतना फल नहीं दे सकतीं जितना कि सम्यग्ज्ञानीको हो सकता है । कारण भी उसका यह है कि सम्यग्ज्ञानीके विचारोंमें सदा तात्त्विकबोध जाग्रत रहता है, उसके निमित्तसे वह लघु क्रियाओं-द्वारा भी विशेषफलका भाजन बन जाता है । बिना सम्यग्ज्ञान-प्राप्तिके विशेष एवं कठिन तपसे भी कम फलकी प्राप्ति हो सकती है । परंतु यह कोई नियम नहीं है कि विशेष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानी ही सम्यक्चारित्र धारण करनेका अधिकारी है; जो स्वल्पज्ञानी हैं वे भी विशेष मंदकषाय तथा कठिन तप करनेवाले पाये जाते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें तपोबलसे ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम कालांतरमें सुतरां (अपने आप) हो जाता है। यद्यपि प्राथमिकअवस्थामें सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञानकी कारणता विशेष फलप्रद होनेसे आवश्यक है, तथापि आगे चलकर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि तथा पूर्ण प्राप्तिके लिये सम्यक्चारित्र ही कारण पड़ता है। इसलिये मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्तिकी योग्यता छठे गुणस्थानसे पहले नहीं बतलायी गई है। छठे गुणस्थानमें भी जो विशेष संयमी और ऋद्धिप्राप्त हैं, उन्हीं तपस्वियोंके उसकी योग्यता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विशेष चारित्रमें ही यह शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि ज्ञानावरणकर्मको दूर कर देती है। केवलज्ञानकी प्राप्ति सिवा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए—किसी शिक्षाके ग्रहण करनेसे—नहीं होता, परम उत्कृष्ट तपोबलसे समस्त कषायों पर विजय करनेसे अर्थात् उन्हें आत्मासे सर्वथा पृथक् कर देनेसे ही आत्मा केवलज्ञानी बन जाता है; इसलिये सम्यक्-चारित्रसे ही विशेषज्ञान अथवा सर्वज्ञज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा चारित्र पूज्य है। चारित्र ही लोकमें पूजा जाता है, त्याग ही चारित्रका मूर्तिमान् रूप है। इसलिये स्वल्पज्ञानी संयमी भी पूज्य है।

सम्यक्चारित्रमें सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता

नहि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानंतरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥ ३८॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानपूर्वकं) अज्ञान-पूर्वक (चरित्रं) चारित्र (सम्यक्व्यपदेशं) सम्यक्-भावको—समीचीनताको (हि) निश्चयसे (न लभते) नहीं प्राप्त होता है. (तस्मात्) इस-लिये (चारित्रराधनं) चारित्रका आराधन करना (ज्ञानानंतरं) ज्ञानके पीछे (उक्तं) कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसलिये यहांपर सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्रको अज्ञानपूर्वक चारित्र कहा गया है। अज्ञानपूर्वक चारित्र कुचारित्र अथवा मिथ्याचारित्रको कहते हैं। इसलिये चारित्र तभी सम्यक्चारित्र कहलाने योग्य है जबकि वह सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दर्शन-सहित ज्ञान) पूर्वक होता है। बिना सम्यग्ज्ञानके चारित्रमें समीचीनता अथवा सम्यक्पना नहीं आता है। यह बात पहले कही जा चुकी है कि अविवेकपूर्वक चारित्र पापबंधका कारण है। संसारमें ऐसे अनेक तपस्वी देखनेमें आते हैं जो कुतप तपते हैं, शरीरको कष्ट देते हैं, वासनाओंको रोकते हैं, परन्तु बिना सद्विवेकके उनका वह सब कर्म उलटा पापबंधका कारण है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक स्वल्पक्रिया अथवा थोड़ा व्रत भी लाभदायक है। बिना सद्विवेक या सम्यग्ज्ञानके बहुतसा तपका आचरण भी दुःखकारण है। जो पुरुष नग्न होकर जंगलमें रहकर भी आरंभी और परिग्रही हैं, जो व्रती होकर भी अमर्यादी एवं सांसारिक वासनाओंसे मुक्त नहीं हैं, जो धर्मात्मा बनते हुए भी हिंस्रक हैं, जो देवोपासक बनते हुए भी कुदेवाराधक हैं, जो त्यागी एवं संयमी बनकर भी अभक्ष्यसेवी और रात्रि-भोजी हैं, वे सब सद्विवेकशून्य मिथ्याचरणी हैं। इसीलिये आचार्योंका यह उपदेश है कि "हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया" अर्थात् जिन्होंने सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके भी चारित्र धारण नहीं किया, उनका वह ज्ञान व्यर्थ है; क्योंकि सद्विवेकका फल आत्माको समुज्ज्वल बनाना है, सो वे नहीं बन सके। तथा जो सम्यज्ञानी नहीं हैं वे यदि चारित्र धारण करते हैं, तो उनका चारित्र नष्ट है, किसी कामका नहीं है। अज्ञानसे कीगई क्रिया कभी उत्तम फलको नहीं देसकती। जिन्होंने सम्यग्ज्ञानको प्राप्तकर, यदि चारित्र नहीं धारण किया तो उन्होंने इतनी ही हानि उठाई कि वे आत्माको विशेष महत्वशाली नहीं बना सके। परन्तु जिन्होंने बिना सम्यज्ञानकी प्राप्तिके चारित्र धारण किया उन्होंने तो लाभ नहीं किया इतना ही नहीं किंतु उलटा पापबंध किया। यदि वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस चारित्रको नहीं धारण करते तो भी ठीक था, बिना सम्यग्ज्ञानके चारित्र धारण करना अंधे आदमीके समान है। जैसे एक अंधा आदमी जंगलमें पहुंच गया, वहां दैवयोगसे जंगलमें आग लग गई, आग लगने पर अंधा इधर उधर भागने लगा, जिधर भागे उधर ही उसे अग्नि का संताप सताने लगा, इसीप्रकार घूमते घामते उसके चारों ओर अग्नि व्याप्त होगई तब तो उसका प्राणही मरणासन्न होगया, इसी बीचमें एक नेत्रवाले पुरुषने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और उसे एक अग्निरहित प्रदेशसे निकाल कर बचा दिया, इसीप्रकार सद्विवेकी पुरुष उन अविवेकपूर्ण आत्माओंका उद्धार करते हैं जो कि अपनी अज्ञान क्रियाओं से पापोपार्जन कर रहे हैं। यह सम्यग्ज्ञानका ही प्रभाव है कि जिन क्रियाओं के करनेसे मिथ्याज्ञानी कर्मबंध करता है उन्हीं क्रियाओंके करनेसे वह (सम्यग्ज्ञानी) कर्मों की निर्जरा करता है। इसीलिये ग्रंथकारने चारित्र-की आराधना-प्राप्तिके लिये उपासना, ज्ञानकी आराधनाके पीछे—सम्य-ज्ञानकी प्राप्तिके पीछे बतलायी है।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ ३९॥

अन्वयार्थ—(यतः) कारण कि (समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्) समस्त पापयुक्त योगोंके दूर करनेसे (चारित्रं) चारित्र (भवति) होता है, (तत्) वह चारित्र (सकलकषाय विमुक्तं) समस्त कषायोंसे रहित होता है, (विशदं) निर्मल होता है, (उदासीनं) रागद्वेष रहित वीत-राग होता है, (आत्मरूपं) वह चारित्र आत्माका निज स्वरूप है।

विशेषार्थ—चारित्रके दो भेद हैं; (१) अंतरंग चारित्र और बाह्यचारित्र। यहांपर अंतरंग चारित्र जो आत्माका स्वरूप है उसीका लक्षण कहा गया है। अंतरंग चारित्रका लक्षण संक्षेपमें इतना ही है कि वह निवृत्ति स्वरूप होता है, जिन मन वचन कायरूप तीन योगोंसे शुभ अशुभ रूप प्रवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रही है उस प्रवृत्तिका रुक जाना अर्थात् जहांपर सकषाय योग नहीं रहता है, जहां समस्त कषायोंका अभाव हो जाता है, जहां आत्मा वीत-राग निर्मलभावोंको धारण करता है आत्माकी उसी अवस्थाका नाम चारित्र है वह आत्माका निजरूप है। गुप्ति समिति रूप जो चारित्र है वह भी प्रवृत्ति रूप है। सामायिक आदि चारित्रोंमें समस्त सावद्यका अभेद रूपसे त्याग किया जाता है परन्तु वहांपर भी संज्वलन कषायके मंदोदय-से समस्त सावद्ययोगोंका पूर्ण परिहार नहीं हो पाता, इसलिये जहां समस्त सावद्ययोगोंका पूर्ण परिहार है ऐसा यथाख्यातचारित्र हो यहां पर अंतरंग चारित्रमें कहा गया है। क्योंकि दशवें गुणस्थान तक मन वचन कायकी प्रवृत्ति सकषाय है, वहां सूक्ष्म लोभ कषायका उदय है, इसलिये वहां सूक्ष्मसांपरायनामा चारित्र है। उससे ऊपर उपशांतकषायमें सावद्य-योग नहीं है वहींपर यथाख्यात चारित्रका प्रारंभ हो जाता है।

देशचारित्र और सकलचारित्र

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(हिंसातः) हिंसासे (अनृतवचनात्) असत्य वचनसे (स्तेयात्) चोरीसे (अब्रह्मतः) कुशीलसे (परिग्रहतः) परिग्रहसे (कात्स्न्यैकदेशविरतेः) समस्तविरति और एक देशविरतिसे (चारित्रं) चारित्र (द्विविधं) दो प्रकार (जायते) होता है।

विशेषार्थ—चारित्रके दो भेद हैं; एक एकदेश चारित्र, दूसरा सकल चारित्र। जहांपर हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग किया जाता है वहां एकदेश चारित्र कहलाताहै, जहां इन पांचों पापोंका सर्वथा त्याग किया जाता है वहां सकल चारित्र कहलाता है। सकलचारित्रका दूसरा नाम महाव्रत है, एकदेश चारित्रका दूसरा नाम अणुव्रत है। कषायोंके अनुद्रेकको अर्थात् कषायोंके उदयमें न आनेको ही चारित्र कहते हैं, जहां जितने कषायांशोंका अनुदय है वहां उतना ही चारित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझना चाहिये। जो कषायें आत्माके सकलचारित्रको रोकनेवाली हैं उनके अनुदय होनेपर सकलचारित्र प्रगट हो जाता है। अनंतानुबन्धी क्रोधादिचतुष्टय, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोधादिचतुष्टय, प्रत्याख्यानावरणी क्रोधादिचतुष्टयके अनुद्रेक–अनुदयमें सकलचारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यानावरणी देशचारित्रको नहीं होने देती इसलिये उसके अनुदयमें एकदेशचारित्र प्रगट हो जाता है। सकलचारित्र छठे गुणस्थानसे प्रारंभ हो जाता है। दशवें तक संज्वलनकषायका उदय रहता है। संज्वलनकषाय यद्यपि सकलचारित्र का घात नहीं करती तो भी यथाख्यातचारित्रकी बाधक है, इसलिये उपशांतकषाय गुणस्थानमें उसका भी अनुदय होनेसे वहां यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है। पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणी कषायका अनुदय है इसलिये वहां देशचारित्र प्रगट हो जाता है। अनंतानुबंधिकषाय स्वरूपाचरणचारित्र और सम्यग्दर्शन दोनोंका घात करती है, इसलिये अविरतसम्यक्त्वनामा चतुर्थ गुणस्थानमें उसका अनुदय होनेसे सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणचारित्र दोनों प्रगट हो जाते हैं। अनंतानुबंधिकषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयके भेदोंमें गिनाई गई हैं इसीलिये चारित्रमोहनीयके २५ भेद हैं, तो भी उसमें चारित्रके घात करनेके साथ सम्यक्त्वके घात करनेकी भी शक्ति है, इसलिये सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके लिये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके साथ अनंतानुबंधिकी चार प्रकृतियोंका भी अनुदय आवश्यक बताया गया है।

एकदेशचारित्र और सकलचारित्रके स्वामी

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(कात्स्न्र्यनिवृत्तौ) सर्वथा त्यागरूप चारित्रमें (निरतः) लवलीन रहनेवाले (अयं) ये (यतिः) मुनिमहाराज (समयसारभूतः) आत्माके सारभूत–शुद्धोपयोग रूप स्वरूपमें आचरण करनेवाले (भवति) होते हैं, (यातु) यह जो (एकदेशविरतिः) एकदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप त्याग है (तस्यां) उसमें (निरतः) लवलीन रहनेवाला (उपासकः) श्रावक (भवति) होता है।

विशेषार्थ - सर्वथा त्यागरूप महाव्रतके स्वामी मुनिमहाराज होते हैं और एकदेश त्यागरूप अणुव्रतका स्वामी श्रावक-गृहस्थ होता है। जहां रंच-मात्र भी आरंभ और परिग्रह है वहां मोक्षका साक्षात् साधनभूत मुनि पद नहीं पाला जा सकता, गृहस्थाश्रममें रहनेवाला पुरुष आरंभपरिग्रहके संबंधसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, इसलिये आरंभपरिग्रहके सर्वथा त्यागी वे मुनिमहाराज होते हैं जो नग्नदिगम्बर बनकर वीतराग-शुद्धोपयोग पूर्वक त्रस स्थावरकी रक्षा करते हुए जंगलमें ध्यान लगाते हैं। गृहस्थाश्रममें रहनेवाला श्रावक त्रसहिंसाका त्यागी है परन्तु आरंभी उद्योगी विरोधी त्रसहिंसासे विरक्त नहीं हो पाता और स्थावर हिंसासे तो बच ही नहीं सकता। हां, अप्रोजनीभूत अनर्थदण्डस्वरूप स्थावरहिंसाको वह बचाता है परंतु फिर भी स्थावर हिंसामें लिप्त रहता है इसलिये वह एकदेश त्यागरूप चारित्रका धारक है। सर्वथात्यागी श्रीमुनि समयसारभूत अर्थात् शुद्ध निजस्वरूपके रसास्वादन करनेवाले बन जाते हैं और एकदेश त्यागी श्रावक उस निजात्मानंदी मुनिवृत्तिका उपासक-आराधना करनेवाला बन जाता हैं।

हिंसाका व्यापक स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

अन्वयार्थ—(आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्) आत्माके परिणामोंकी हिंसा होनेके कारण से (एतत् सर्व एव) यह सब ही (हिंसा) हिंसा है; (अनृतवचनादिकेवलं) असत्य वचनादि केवल (शिष्यबोधाय) शिष्योंको बोध करनेके लिये (उदाहृतं) कहे गये हैं।

विशेषार्थ—आत्माके परिणामोंका पीड़ा जाना ही हिंसा है। जिस मन-वचनकायसे अपने अथवा परके अथवा दोनोंके परिणामोंमें आघात पहुंचे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख हो, संताप हो, कष्ट हो, उसीका नाम हिंसा है। जीवके परिणामोंकी पीड़ाको छोड़कर हिंसा और कोई वस्तु नहीं है, इसीका नाम भावहिंसा है। जिसमें आत्मीयभावोंकी हिंसा होती है उसे ही भावहिंसा कहते हैं। वास्तवमें हिंसाका स्वरूप यही है और इतना ही है द्रव्यहिंसाको—शरीरके किसी अवयवकी अथवा समस्त शरीरकी हिंसाको (आयु-विच्छेदको) भी भावहिंसाके होनेसे ही हिंसामें गर्भित किया गया है। जो कोई किसीको शारीरिक कष्ट पहुंचाता है वहां आत्माके परिणामोंको दुःख पहुंचता है इसलिये द्रव्यहिंसा हिंसामें गर्भित हो चुकी। इसीप्रकार जिस जिस कार्यमें आत्माके परिणामोंकी हिंसा होती हो वे सब हिंसामें गर्भित हैं, जैसे—झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, तृष्णा बढ़ाना, हंसना, रोना, राग—द्वेष करना इत्यादि सब हिंसाके ही स्वरूप हैं, क्योंकि झूठ बोलना आत्माका निजधर्म नहीं है, आत्माका धर्म सत्य है उस आत्मीय सत्य परिणामके रहते हुए जो वचनवर्गणा खिरती है वह भी सत्यके नामसे कही जाती है। जो कोई झूठ बोलता है उसके आत्मासे सत्यरूप निजी परिणाम नष्ट होता है अथवा असत्यरूप विकार अवस्थामें आ जाता है। आत्माके परिणामोंका स्वस्वरूपमें नहीं रहना अथवा स्वस्वरूपसे च्युत होकर विकार अवस्थाको धारण कर लेना इसीका नाम भावोंकी हिंसा है, इसी-प्रकार जितने भी आत्माके निज स्वरूपको विकृत बनानेवाले कार्य हैं वे सब हिंसामें गर्भित हैं। चोरी करना, कुशील सेवन करना आदि भी आत्माके अचौर्यस्वरूप और ब्रह्मचर्यस्वरूप निजस्वरूपका नाश कर उसे चोरी तथा कुशीलादिरूप विकारी बना देते हैं इसीलिये चोरी आदि सभी कार्य हिंसामें गर्भित हैं। उपर्युक्त कथनका सार यह है कि जितने भी विकृत भाव हैं वे सब हिंसास्वरूप हैं इसलिये संसारमें जितने भी पापोंके भेद प्रभेद कहे जाते है वे सब हिंसाके ही दूसरे नाम हैं।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'जब सभी पाप हिंसास्वरूप हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो फिर झूठ, चोरी, कुशील तृष्णा आदि भिन्न भिन्न पापोंके नाम क्यों कहे गए हैं ?' इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें सब हिंसाके रूप होनेपर भी केवल बालकोंके बोध करानेके लिये विजातीय (भिन्न भिन्न) पापोंका भिन्न भिन्न नाम कहा गया है। अल्पज्ञानी एवं अज्ञानी जीव खंड खंड रूपसे एक एक विषयको समझकर एक एक अंशको छोड़ते जांय इसीलिये खंड खंड अंशांशोंका पांच पापोंके नामसे जुदा जुदा रूप दिया गया है। सबोंमें आत्माके निजस्वरूपका घात होनारूप लक्षण घटित होनेसे सब हिंसामें गर्भित हो जाते हैं। जिसप्रकार खंड खंड रूप पापोंको झूठ चोरी कुशील तृष्णा आदि नामसे कहा गया है, उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहभावोंको भी भिन्न भिन्न व्रतके नामोंसे कहा गया है अर्थात् विजातीय एवं खंड खंडरूप पापोंका त्याग खंड खंडरूप व्रतके नामसे जुदा जुदा कहा गया है। वास्तवमें वे सब एक अहिंसाके ही स्वरूपमें गर्भित हैं।

हिंसाका लक्षण

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणा।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ ४३॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (कषाययोगात्) कषायसहित योगोंसे (द्रव्यभावरूपाणां) द्रव्य और भावरूप (प्राणानां) प्राणोंका (यत् व्यपरोपणस्यकरणं) जो नष्ट करना है (सा) वह (सुनिश्चिता) निश्चितरूपसे (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

विशेषार्थ—हिंसाका यही मूल लक्षण है कि सकषायमनवचनकायसे अपने तथा परके अथवा दोनोंके भावप्राण और द्रव्यप्राणोंका घात होना। इस लक्षणकी सूक्ष्मतापर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि केवल किसी जीवका मारा जाना अथवा उसके अंगोंका भंग हो जाना मात्र ही हिंसा नहीं है; किंतु भावहिंसापूर्वक की गई द्रव्यहिंसा हिंसामें गर्भित है। दूसरे शब्दोंमें इस बातको यों कह सकते हैं कि केवल द्रव्यहिंसाको हिंसा नहीं कहा जाता, वहां हिंसाका लक्षण ही घटित नहीं होता। यदि बिना कषाय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट मनवचनकायकी प्रवृत्तिके केवल शरीरके अंग भंग हो जाने अथवा जीवके मर जाने मात्रसे हिंसा होती हो तो जिन सज्जनोंका हिंसा करनेका सर्वथा परिणाम जीवके सतानेका नहीं है उनसे जो प्रमादवश या दृष्टि-दोषसे सूक्ष्म जीवोंका बध हो जाता है तो उन्हें भी उस जीवकी हिंसाका दोष लगना चाहिये परन्तु उन्हें लगता नहीं है; क्योंकि उनके परिणाम हिंसा करनेके सर्वथा नहीं हैं और न लोकमें ही निरपराधी पुरुष—उनके द्वारा जीवबध होनेपर भी दंडित अथवा दोषी ठहराये जाते हैं। डाक्टरका अभिप्राय यही रहता है कि रोगीको जल्दी आराम हो, उसकी हित कामनासे वह उसके शरीरमें चीरा देता है, परन्तु दैवयोगसे चीरा देते देते यदि नस्तरके कड़े आघातसे रोगीकी मृत्यु हो जाय तो डाक्टर उसका मारनेवाला कभी नहीं कहा जाता, इसलिये हिंसा वही कही जाती है जहां अभिप्रायपूर्वक जीवका बध किया जाता है। अभिप्रायपूर्वक जीवका बध वहीं हो सकता है जहां सकषायप्रवृत्ति है। यदि हिंसामें भावोंकी मुख्यता न हो अथवा हिंसामें सकषायप्रवृत्ति कारण न हो तो पिता पुत्रकी हित-कामना रख कर उसे पाठशाला भेजता है, पुत्र नासमझीके कारण पढ़ने नहीं जाना चाहता, पिता उसे मार पीटकर फटकार देकर एवं अनेक प्रकारका भय दिखाकर पाठशाला भेजता है, ऐसा करनेमें पुत्रके परिणामोंमें संक्लेश होनेसे उसके भावोंकी हिंसा होती है; परन्तु उसका दोष पिताके अधीन नहीं है, कारण पिताका अभिप्राय दुरभिप्राय नहीं है। इसीप्रकार यदि कोई सदुपदेष्टा किसी व्यसनीको व्यसन छुड़ानेके अभिप्रायसे डर दिखावे, उसके दुष्कार्यकी निंदा करे और उससे उस व्यसनीके भाव पीड़े जांय तो उसका दोष उस धर्मोपदेष्टाको नहीं लग सकता। इसीप्रकार त्रस और स्थावर हिंसाके सर्वथात्यागी हरप्रकारसे जीवरक्षाका प्रयत्न करनेवाले श्रीमुनिमहाराज अकस्मात् उनके द्वारा सूक्ष्म जीवका बध होनेपर भी हिंसाके भागीदार नहीं होते। यदि किसी पुरुषने अच्छे अभिप्रायसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसीके प्रति कटुवचन भी कह दिये, तो उन वचनोंसे सुननेवालेको जो आघात पहुंचेगा उस भावहिंसाका भागीदार वह कटुभाषी नहीं हो सकता जो अच्छा अभिप्राय रखता है। इसलिये केवल मनवचनकायकी प्रवृत्ति हिंसाका कारण नहीं है, किंतु सकषाय-प्रवृत्ति ही हिंसाका कारण है, इसीलिये 'कषाययोगात्' यह हेतुवाक्य दिया गया है। जहांपर कषायपूर्वक योग है वहां चाहे भावहिंसा हो चाहे द्रव्यहिंसा हो, दोनों ही हिंसामें गर्भित हैं, अथवा दूसरे किसी जीवकी हिंसा नहीं भी हो अपने भावोंमें ही सकषाय परिणाम हैं तो अपनी ही हिंसा है।

हिंसा चार भेदोंमें मूलरूपसे बटी हुई है—(१) संकल्पिनी, (२) विरोधिनी, (३) आरंभिणी और (४) उद्योगिनी। इन चार भेदोंमें सबसे बड़ी और सबसे प्रथम त्याज्य संकल्पसे होनेवाली हिंसा है; जहांपर भावोंमें यह संकल्प कर लिया जाता है कि मैं इस जीवको मार डालूं अथवा इसे दुःख पहुचाऊं, वहांपर हिंसा करनेका अभिप्राय रहनेसे उसे संकल्पसे होनेवाली हिंसा कहते हैं; अर्थात् हिंसाके अभिप्रायसे (इरादेसे) की गई हिंसाको संकल्पिनी हिंसा कहते हैं। जो जीव संकल्पिनी हिंसा करनेके लिये उद्यमी होता है उसके द्वारा दूसरे जीवका घात हो अथवा न हो, परन्तु उसे तो हिंसासे होनेवाला पापबंध हो ही जाता है। यही बात लोकनीतिमें भी पायी जाती है, जो कोई किसीको मारनेके लिये तलवार या लाठीका प्रयोग करता है उससे वह नहीं भी मारा जाय तो भी प्रयोग करनेवालेको सरकार उसी अपराधीमें शामिल करती है जोकि मारनेवाला है। यह संकल्पी हिंसा तीव्रकषायके उदयसे होती है। जबकि आत्माका स्वभाव जीवोंपर दया करनेका स्वाभाविक है तब उसके जीवबध करनेके भावोंका होना महान् क्रूरताका सूचक है। 'मैं इसे मारूं' यह भाव बिना घातक क्रूर परिणामोंके कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। इसलिये विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है कि सबसे पहले इसप्रकारकी संकल्पी हिंसाका सर्वथा त्याग कर दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी–विरोधिनी हिंसा उसे कहते हैं कि जहांपर दूसरे जीवको मारनेके या उसे दुःख पहुंचानेके तो भाव नहीं हैं परन्तु दूसरा जीव अपनेको पहले मारना चाहे या दुःख देना चाहे तो इस अवसरपर अपनी रक्षाकेलिये विरोध करनेमें जीवबध हो जाता है, अपनी रक्षा करनेमें जहांपर उस आक्रमणकारी जीवका विरोध करनेमें जो वध होता है वहांपर अपनी रक्षा करनेवालेका अभिप्राय जीवको मारनेका नहीं है किन्तु अपनी रक्षा करनेका है, परन्तु आत्मरक्षा करते करते यदि दूसरे जीवका बध होता है तो वह हिंसा विरोधसे होनेवाली विरोधिनी कही जाती है। यद्यपि इस हिंसामें भी जीवका बध होता है और संकल्पसे होनेवाली हिंसामें भी जीवका बध होता है, परन्तु दोनोंमें बहुत बड़ा अंतर भावोंका है; संकल्पी हिंसामें मारनेवालेके भावोंमें क्रूरता भरी हुई है, विरोधी हिंसावालेके परिणाममें क्रूरता नहीं है किन्तु अपनी रक्षाका प्रयत्नमात्र है। संकल्पी हिंसामें तो जीवके बध करनेके परिणाम हैं, विरोधीमें जीवबध करनेके परिणाम तो सर्वथा नहीं हैं परन्तु अपनी रक्षाके प्रयत्नमें प्रतिकार करतेहुए जीवबध हो जाता है अथवा किया जाता है। यदि एक न्यायनिष्ठ राजाके ऊपर कोई परराष्ट्र चढ़ आवे तो अपनी एवं प्रजाकी रक्षाके लिये उस राजाको ऊपर आये हुए परराष्ट्रका सामना करना ही पड़ेगा, वैसी अवस्थामें उसके द्वारा अनेक सैनिकोंकी हिंसा भी होगी। राज्यभार ग्रहण करके प्रजाजनपर शासन करनेवाले पदाधिकारीके लिये विरोधी हिंसाका समारंभ अनिवार्य है। इसलिये पदस्थानुसार यथाशक्ति हिंसाका परित्याग करना प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है।

तीसरी–आरंभी हिंसा वह कहलाती है जो कि गृहस्थाश्रममें होनेवाले आरंभोंसे होती है। गृहस्थाश्रममें रहनेवाले मनुष्योंको गृहस्थाश्रम संबंधी आरंभ करने ही पड़ते हैं, बिना आरंभ किये गृहस्थाश्रम चल ही नहीं सकता, जलका बरतना, चौका, चूलि, ऊखरी, झाड़ना, कपड़े धोना आदि सब कार्योंमें आरंभ होता है; जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना अनिवार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसलिये गृहस्थाश्रमी आरंभी हिंसासे बच नहीं सकते; परंतु आरंभ-जनित हिंसाकी कमी अथवा स्वल्पता की जा सकती है, जिन कार्योंको विशेष आरंभके साथ किया जाता है उन्हें थोड़े आरंभसे भी किया जा सकता है, अथवा ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये जिनमें विशेष आरंभ होता हो, अथवा जिन आरंभोंमें अधिक जीवोंके बधकी संभावना हो उन आरंभोंको नहीं करना चाहिये। इसप्रकार गृहस्थाश्रममें रहनेवाले विवेकी पुरुष आरंभी हिंसाका बहुत कुछ बचाव कर सकते हैं। एक बात यह भी आवश्यक है कि किसी भी कार्यके करनेमें सावधानी रखनेकी बड़े प्रयत्नसे सम्हाल करनी चाहिये। बिना देखभालके या बिना सोधे-सुधाए, बिना जमीनको देखे झाड़ू देनेसे, बिना देखे पानीसे चौका धोनेसे, बिना सोधे अन्नको कूटने पीसनेसे बहुतसी हिंसा हो जाती है, उसका बहुत अधिक पापबंध हो जाता है; इसके लिये प्रयत्नपूर्वक सावधानीसे हरएक क्रिया करना चाहिये।

चौथी—उद्योगिनी हिंसा वह कहलाती है जो गृहस्थाश्रमी मनुष्योंके उद्योग धंधोंसे होती है। किसी प्रकारके व्यापारमें अनाज भरनेमें, मिल खोलनेमें, दूकान करनेमें, खेती आदि सभी कार्योंका जो उद्योग (प्रयत्न) किया जाता है उसमें जो जीवोंकी हिंसा हो जाती है उसे उद्योगिनी हिंसा कहते हैं। इस हिंसामें भी उसी प्रवृत्तिका विचार करना इष्ट है कि जिससे जीववध अति स्वल्प हो, उद्योगी और आरंभी हिंसाओंमें जीववधके परिणाम नहीं है किंतु आरंभजनित हिंसा होती है। आरंभ सकषाय भावोंसे किया जाता है इसलिये सकषाय मनवचनकायकी प्रवृत्ति होनेसे वहां भी हिंसाका लक्षण घटित होता है। इसप्रकार चार प्रकारकी हिंसासे विरक्त होना चाहिये। श्रावक संकल्पी हिंसाका त्यागी तो होता ही है किंतु अन्यान्य हिंसाओंको भी उसे कम कम करना चाहिये। चारों प्रकारकी हिंसाओंके सर्वथा त्यागी संकल्प, विरोध, आरंभ, उद्योगरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार एवं क्रियाओंसे सर्वथा रहित श्रीमुनि महाराज होते हैं। गृहस्थ त्रसहिंसाका ही त्यागी हो सकता है स्थावरहिंसाका वह उस पदस्थमें रहकर त्यागी तो नहीं हो सकता; हां, प्रयोजनके सिवा व्यर्थकी अनावश्यक हिंसासे यत्नाचारद्वारा अपनेको बचा सकता है।

अहिंसा और हिंसाका लक्षण

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयकरके (रागादीनां) रागादिकभावोंका (अप्रादुर्भावः) उदयमें नहीं आना (अहिंसा) अहिंसा (भवति) कहलाती है, (इति) इसीप्रकार (तेषां-एवं) उन्हीं रागादिभावोंकी (उत्पत्तिः) उत्पत्तिका होना (हिंसा) हिंसा है (इति जिनागमस्य) इसप्रकार जिनागमका अर्थात् जैनसिद्धांतका (संक्षेपः) सारभूत रहस्य है।

विशेषार्थ—आत्माके शुद्ध स्वभावका विभावरूप परिणमन होना ही हिंसा है। विभावरूप परिणाम रागादिस्वरूप हैं, इसलिये रागादिरूप जो भाव हैं, वे ही हिंसाके नामसे कहे जाते हैं। हिंसासे विपरीत अहिंसा है। इसलिये रागादिकभावोंका उदयमें नहीं आना ही अहिंसा है। अर्थात् अहिंसा शुद्धभावोंका नाम है। जिस जीवके निष्कषाय शुद्धपरिणाम हैं वही अहिंसाका स्वामी है। जीवके विकृत (विकार सहित) परिणामोंका नाम हिंसा है। विकाररहित शुद्धपरिणामोंका नाम अहिंसा है। जो जीव किसी दूसरे जीवको सताना चाहता है उसके परिणाम विकारसहित (रागद्वेषसे मलिन) पहले ही हो जाते हैं, इसलिये दूसरे जीवको कष्ट पहुंचे या नहीं पहुंचे, मारनेवालेके रागद्वेषरूप विकारी परिणाम होनेसे वह हिंसक—हिंसा करनेवाला हो चुका।

वीतरागीको हिंसा नहीं लगती

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[युक्ताचरणस्य] योग्य आचरणवाले अर्थात् यत्नाचार पूर्वक सावधानीसे कार्य करनेवाले [सतः] सज्जन पुरुषको [रागाद्यावेशं] रागादिरूप परिणामोंके उदय हुए [अंतरेण] बिना [प्राणव्यपरोपणात् एव] प्राणोंका घात होनेमात्रसे [जातु] कभी [हि] निश्चय करके [हिंसा न भवति] हिंसा नहीं लगती है।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांतमें हिंसाका लक्षण "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमादके योगसे प्राणोंका नष्ट करना हिंसा है, यह कहा गया है। प्राणोंके नष्ट करनेके पूर्व प्रमत्तयोग विशेषण दिया गया है। यह हेतुरूप विशेषण हिंसाके लक्षणको अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव आदि समस्त दूषणोंसे रहित सुघटित बनानेके लिये ही दिया गया है। इस प्रमादयोगरूप पदसे सिद्ध होता है कि 'जहांपर प्रमादयोग नहीं है किंतु जीवके प्राणोंका घात है वहांपर हिंसा नहीं कहलाती और जहांपर प्राणोंका घात नहीं भी है किंतु प्रमादयोग है वहांपर हिंसा कहलाती है। शंका हो सकती है कि जबतक दोनों पदोंकी सार्थकता नहीं होगी तबतक हिंसाका लक्षण घटित नहीं होगा। जहां प्रमादयोग है वहां प्राणोंके घातके बिना भी हिंसा कही गयी है, परन्तु "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्रके अनुसार तो प्रमादयोग भी होना चाहिये और प्राणोंका घात भी होना चाहिये ?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—जहां प्रमादयोग है वहां द्रव्यप्राणोंका घात यदि नहीं भी है तो न सही, परन्तु भावप्राणोंका तो है। जो प्रमादयोग (कषायरूप परिणाम) करता है वह अपने भावोंका घात तो कर ही चुका, दूसरे या अपने द्रव्यप्राणोंका घात पीछे हो या न हो। इसलिये हिंसाका यही लक्षण समुचित लक्षण है कि प्रमादयोगसे प्राणोंका घात होना। इसीलिये यहांपर ग्रन्थकर्ता श्रीआचार्य महाराज कहते हैं कि जिस जीवके रागद्वेषरूप परिणामोंका उदय नहीं है और जो सदा यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे गमनागमन क्रिया करता है उस जीवके द्वारा यदि अज्ञात अवस्थामें किसी प्राणीके प्राणोंका घात भी हो जाय तो उस यत्ना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारी निष्कषाय जीवको हिंसा करनेका दूषण नहीं लगता है। क्योंकि वहां केवल प्राणोंका घात है, प्रमादरूप परिणाम तो नहीं है। इसलिये हिंसा वहीं होती हैं कि जहां प्रमादरूप परिणाम होते हैं। अतएव श्रीमुनिमहाराज सदा वीतराग परिणामोंसहित रहते हैं, बड़े यत्नाचारसे गमनागमन किया करते हैं, ऐसी अवस्थामें उनके शरीरद्वारा अज्ञात अवस्थामें किसी जीवका बध भी हो जाय, तो वे उसकी हिंसाके भागीदार नहीं हैं। अर्थात् उनके हिंसारूप परिणाम नहीं हैं किन्तु वीतरागरूप हैं और यत्नाचारपूर्वक उनकी क्रिया है; जहां ये दोनों बातें हैं वहां हिंसा कदापि नहीं हो सकती।

सरागीको बिना प्राणघातके भी हिंसा लगती है

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ— [रागादीनां] रागादिकोंके [वशप्रवृत्तायां] वशमें प्रवर्तित [व्युत्थानावस्थायां] प्रमादअवस्थामें [जीवः] जीव [म्रियतां] मर जाय [मा वा] अथवा नहीं मरै [ध्रुवं] नियमसे [हिंसा] हिंसा [अग्रे] आगे [धावति] दौड़ती है।

विशेषार्थ— जिससमय आत्मा रागादि वैभाविक भावोंके वशवर्ती होकर प्रमाद-अवस्थामें रहता है उससमय उसके द्वारा दूसरे जीवकी मृत्यु हो अथवा नहीं हो, उसे नियमसे हिंसा लगती है। इसलिये केवल प्राणोंका घात होना ही हिंसा नहीं है, किन्तु आत्माकी सकषायरूप प्रमाद-अवस्था ही हिंसा है। वह अवस्था जिस जीवके है उस जीवको बाह्यप्राणोंका घात (द्रव्य प्राणोंका घात) किये बिना ही हिंसाका दूषण लगता है।

इसमें हेतु

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ— [यस्मात्] क्योंकि [आत्मा] आत्मा [सकषायः सन्] कषायसहित होता हुआ [प्रथमं] पहले [आत्मना] अपने ही द्वारा [आत्मानं] अपने आपको [हंति] मार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डालता है, [पश्चात्] पीछे [प्राण्यंतराणां] दूसरे जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [जायते न वा] हो अथवा नहीं हो ।

विशेषार्थ— सकषायरूप प्रमाद-अवस्थामें बिना दूसरेके घातके ही हिंसा बतलाई गई है । इस सम्बन्धमें यह शंका हो सकती है कि 'बिना प्राण-घातके हिंसा कैसी ?' इसीके उत्तरमें यह श्लोक कहा गया है कि—जो जीव कषाय करता है वह पहले अपने स्वरूपको नष्ट कर लेता है, क्योंकि कषाय करना आत्माका धर्म नहीं है । यदि कषाय करना आत्माका धर्म हो तो उन्नतिमें उत्तरोत्तर कषायभावोंकी भी उन्नति होना चाहिये, परन्तु होता इसके सर्वथा विपरीत है । ज्यों ज्यों आत्मा ध्यानादि क्रियाओंद्वारा उन्नत अवस्थामें पहुंचता जाता है, त्यों त्यों उसके शांति क्षमा दया आदि सद्गुण वृद्धिंगत होते जाते हैं और क्रोध मान माया लोभादि विभाव-परिणाम क्षीण होते जाते हैं । जहां आत्मा सर्वथा स्वस्वरूपमें पहुंचता है वहां आत्मासे क्रोधादि विकार सर्वथा दूर होते जाते हैं । इससे भली भांति सिद्ध होता हैं कि क्रोधादिभाव आत्माका निजरूप नहीं है । क्रोधादि विकार परकृत है, पुद्गलके निमित्तसे होनेवाला परिणाम है । यदि वह जीवका निजभाव होता तो ज्ञानके समान उसे भी सदा कमती बढ़ती रूप-में रहना अवश्य चाहिये, परन्तु यह बात प्रत्यक्ष-बाधित है । क्रोधादि परि-णाम प्रतिसमय जाग्रत नहीं रहते हैं किन्तु निमित्त पाकर उदित होते रहते हैं । कोई कोई संसारसे उदासीन ऐसे भी त्यागी एवं योगी पुरुष हैं जिनके कषायभाव अत्यन्त मंद हो चुके हैं, किन्हीं योगियोंके उनका अभाव ही हो चुका है । इससे भली भांति सिद्ध है कि क्रोधादि परिणाम आत्माका विकाररूप परिणाम है, उसका स्वभावरूप परिणाम क्षमादिक भाव है । कषाय करने वाला जीव पहले तो अपना ही घात कर डालता है, ज्यों ही उसके कषायभाव जाग्रत हुआ त्यों ही उसके निजगुण क्षमा मार्दव आर्जव आदि नष्ट हो जाते हैं । इसलिये जिसप्रकार हाथसे अग्नि उठाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे पर फेंकनेकी चेष्टा करनेवाले का हाथ पहले जल जाता है पीछे दूसरा जले या न जले यह दूसरी बात है, उसीप्रकार कषायीजीव पहले अपने आत्माका घात कर ही डालता है पीछे दूसरेका घात हो या न हो यह दूसरी बात है।

प्रमादयोगमें नियमसे हिंसा होती है

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यं ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसायां) हिंसामें (अविरमणं) विरक्त न होना (अपि) तथा (हिंसापरिणमनं) हिंसामें परिणमन करना (हिंसा भवति) हिंसा कहलाती है (तस्मात्) इसलिए (प्रमत्तयोगे) प्रमादयोगमें (नित्यं) नियमसे (प्राणव्यपरोपणं) प्राणोंका घात होता है।

विशेषार्थ—हिंसामें जहां प्रवृत्ति है अर्थात् मन वचन कायकी उपयोग सहित जहां हिंसा करनेकी प्रवृत्ति है वहां तो हिंसा होती ही है परन्तु जहांपर हिंसा करनेकी प्रवृति नहीं है किन्तु जहां हिंसासे विरक्ति-त्याग भी नहीं है वहां भी हिंसा होती है। हिंसामें प्रवृत्ति न होनेसे केवल त्याग न करनेसे हिंसा कैसे होती है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हिंसाका लक्षण प्रमादयोग है, जहां प्रमादरूप परिणाम है वहीं हिंसा है, वाह्य प्रवृति हो या न हो। इस लक्षणके अनुसार जो जीव हिंसाका त्यागी नहीं है उसके परिणामोंमें न तो निराकुलता है, न शांतिरूप परिणाम हैं किन्तु कषायविशिष्ट संस्कार हैं और वे संस्कार ही हिंसामय परिणाम हैं। जिसप्रकार विलाव हिंसामें प्रवृत्त होने पर भी हिंस्रक कहलाता है और सोया हुआ भी हिंस्रक कहलाता है, सोनेमें भी उसकी क्रूरता चली नहीं गई है उसके क्रूरपरिणाम बराबर उपस्थित हैं। उसीप्रकार हिंसाका त्याग नहीं करनेवाले जीवके परिणाम संस्कारित रूपसे हिंसामय रहते हैं। दूसरी बात यह है कि हिंसा रागरूप परिणामका ही नाम है, जिस जीवने हिंसाका त्याग नहीं किया है उसके परिणामोंमें हिंसा रहती है, क्योंकि यदि राग प्रवृत्तिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव होता तो हिंसाका त्याग ही कर देता, जिसप्रकार गृहस्थ पुरुष त्रसहिंसाका त्यागी है उसके त्रसहिंसाके किन्चिन्मात्र भी परिणाम नहीं हैं परन्तु वह स्थावर हिंसाका त्यागी नहीं है इसलिये स्थावर हिंसामें उसकी सरागप्रवृत्ति पायी जाती है उसीप्रकार हिंसासे अविरक्तजीवके परिणाम सरागरूप रहते ही हैं। यह बात भी अनुभव गम्य है कि किसी वस्तुका बिना त्याग किये परिणामोंमें उस विषयसे पूर्ण उदासीनता एवं परिणामोंमें निराकुलतापूर्ण शांति हो ही नहीं पाती। तीसरी बात यह भी है कि जबतक जिस वस्तुका त्याग नहीं किया जाता है तबतक निमित्त पाकर उसमें प्रवृत्ति हो ही जाती है। इतनाही नहीं किन्तु बिना त्याग किये उस वस्तुकी अंतर्लालसा कभी व्यक्त कभी अव्यक्त बनी ही रहती है और जब उस वस्तुका त्याग कर दिया जाता है तो उसमें कभी प्रवृत्ति तो होती ही नहीं। परिणामोंमें विरक्तरूप भाव रहनेसे उस वस्तुमें लालसारूप परिणाम भी नहीं होते, इससे यह बात सिद्ध होती है कि हिंसाका त्याग किये बिना भी प्रमत्तयोग रहनेसे हिंसा लगती है और प्रवृत्ति करनेसे तो स्पष्ट हिंसा प्रत्यक्ष ही है इसलिये प्रमत्तयोगमें नियमसे प्राणघात होता है।

हिंसाके निमित्तोंको हटाना चाहिये

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥ ४६॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (पुंसः) आत्माके (सूक्ष्मा अपि हिंसा) सूक्ष्म भी हिंसा (परवस्तुनिबंधना) जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी (न भवति) नहीं होती है। (तदपि) तो भी (परिणामविशुद्धये) परिणामोंकी विशुद्धिकेलिये (हिंसायतननिवृत्तिः) हिंसाके आयतनों-हिंसाके निमित्त कारणोंका त्याग (कार्या) करना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोकद्वारा यह बात प्रगट की गई है कि वास्तवमें हिंसा परिणामोंके अधीन है, परिणामोंसे ही होती है, परिणामोंमें ही होती है, बाह्यपदार्थोंमें न तो हिंसा है और न वे हिंसाके कारण ही हैं, यदि बाह्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थोंमें ही हिंसा होती तो फिर पहले यह नहीं कहा जाता कि दूसरे जीवकी हिंसा हो या नहीं हो जिसके परिणामोंमें रागाद्वेषादि संक्लेशभाव हैं वह हिंसाका भागीदार हो जाता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि वाह्यपदार्थोंमें हिंसा नहीं है किंतु प्रमादयुक्त परिणामोंमें ही है इसलिये परिणामोंको ही प्रमादरहित बनानेसे हिंसाभावसे जीव मुक्त हो जाता है। जबतक प्रमादयुक्त परिणाम है तबतक वाह्यप्राणोंका घात हो या न हो हिंसा अवश्य लगेगी। इस कथनके अनुसार यद्यपि वाह्यपदार्थोंसे हिंसाका कोई संबंध नहीं है फिर भी उन समस्त पदार्थोंसे संबंध नहीं करना चाहिये जो कि परिणामोंको क्लेशित बनानेमें सहकारी पड़ते हों। परिणामोंको विशुद्ध रखनेके लिये हिंसाके निमित्तकारणोंका भी त्याग कर देना योग्य है। संसारमें हिंसाका निमित्तभूत आरंभ है, इसलिये आरंभसे मुक्त होनेकी पूर्ण चेष्टा करना चाहिये।

निश्चय और व्यवहारसे सिद्धि

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (निश्चयं अबुद्ध्यमानः) निश्चयनयको नहीं समझता हुआ (निश्चयतः) निश्चयरूपसे (तमेव) उसका ही निश्चय तत्त्वको ही (संश्रयते) आश्रय करता है, स्वीकार करता है (सः बालः) वह मूर्ख (बहिःकरणालसः) वाह्यक्रियारूप चारित्रमें आलसी—प्रमादी ('सन्') होता हुआ (करणचरणं) क्रियारूप चारित्रको—व्यवहार-चारित्रको (नाशयति) नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह बात प्रगट की गई थी कि हिंसा वास्तवमें निज परिणामोंकी अशुद्धतामें ही है; वाह्यपदार्थोंमें नहीं है। यहांपर यह बतलाते हैं कि जो सर्वथा निश्चयनयका अवलम्बन कर वाह्यचारित्र—व्यवहार-चारित्रकी परवा नहीं करते हैं; जिनका यह सिद्धांत है कि वाह्यक्रियाओंमें क्या धरा है परिणामोंको ही ठीक रखना चाहिये, उन लोगोंको निश्चय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयका स्वरूप नहीं मालूम है। बिना बाह्यक्रियाओंका विचार किये परिणाम ठीक नहीं रह सकते, क्योंकि परिणामोंकी शुद्धि अशुद्धि बाह्यपदार्थों एवं बाह्यक्रियाओंके निमित्तसे होती है इसलिये बाह्यप्रवृत्तिका विचार रखना नितांत आवश्यक है। जो पुरुष दौड़कर विना देखे चलने लगे, विना देखे भक्ष्याभक्ष्य खाने लगे, बिना छाना हुआ जल पीने लगे, विना देखे वस्तुओंको उठाने लगे और रखने लगे फिर यह कहे कि बाह्यप्रवृत्ति मेरी कैसी भी रहो परिणामोंको मैं ठीक रक्खूंगा तो मुझे हिंसा नहीं लगेगी, तो ऐसा कहनेवाला अविवेकी है वह परिणामोंको कभी सम्हाल नहीं सकता, विना बाह्यप्रवृत्तिमें जीवरक्षाका विचार किये जीवहिंसासे कभी छूट नहीं सकता इसलिए परिणामोंकी विशुद्धिके लिये बाह्यप्रवृतिको संयमित बनाने-की अत्यावश्यकता है। जो केवल निश्चयनयका अवलम्बन करके बाह्यप्रवृत्ति का विचार नहीं करते हैं वे निश्चयनयके स्वरूपसे भी अपरिचित हैं क्योंकि नयवाद अनेकांतरूप है, वह स्याद्वादके नामसे प्रसिद्ध है, यदि उसका ग्रहण एकांतरूपसे किया जायगा तो वस्तुसिद्धि नहीं हो सकती इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका आश्रय कर निश्चयतत्त्व और व्यवहारतत्व दोनोंकी सिद्धि करना आवश्यक है। परिणामोंकी विशुद्धताका भी पूरा लक्ष्य रखना आवश्यक है और बाह्यप्रवृत्तिको भी निर्दोष बनाना आवश्यक है, किसी एकके छोड़ देनेसे कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता।

हिंसा अहिंसाके पात्र

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥५१॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (हिंसां अविधाय अपि) हिंसाको नहीं करके भी (एकः) एक कोई जीव (हिंसाफलभाजनं) हिंसाके फलका भोक्ता (भवति) होता है (अपरः) दूसरा जीव (हिंसां कृत्वा अपि) हिंसा करके भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसाके फलका भाजन (न स्यात्) नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—इस श्लोकमें परिणामोंकी विचित्रता दिखलाई गई है और उन्हींके ऊपर हिंसाके फलका भोक्ता या अभोक्ता सिद्ध किया गया है। एक जीव दूसरे जीवकी हिंसा तो करना चाहता है परन्तु बाहर प्रवृत्तिमें कोई उद्योग नहीं कर सका है अर्थात् अपने परिणामोंको तो हिंसामय भावोंसे उग्र कर चुका है परन्तु दूसरे जीवके प्राणोंका घात नहीं कर सका है ऐसी अवस्थामें हिंसा करनेके भाव रखनेवाला जीव हिंसा करनेका अपराधी हो चुका उसे हिंसाका फल अवश्य मिलेगा, भले ही दूसरे जीवकी हिंसा नहीं हुई है फिर भी उसके—मारनेवालेके परिणाम हिंसारूप होचुके इसलिए उसके जो क्लेशित परिणामों से अशुभास्रव हुआ है उसका फल उसे अवश्य मिलेगा, दूसरा कोई जीव किसी को नहीं मारना चाहता परिणामोंको सदा शांत दयारूप रखता है फिर भी उसके शरीर से किसी जीवका अकस्मात्—बिना उसकी इच्छाके घात होगया वैसी अवस्थामें वह हिंसाके फलका भोक्ता नहीं हो सकता। कारण उसके भाव तो हिंसारूप नहीं हैं, इसलिए हिंसा होनेपर भी वह हिंसाके फलका भोक्ता नहीं हो सकता। यह परिणामोंकी ही विचित्रता है कि कोई हिंसा करता है फिर भी उसे हिंसाका फल नहीं मिलता, कोई हिंसा नहीं करता है फिर भी हिंसा का फल पाता है।

और भी

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पं।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) किसीको (अल्पा हिंसा) थोड़ी भी हिंसा (काले) समय पर उदय कालमें (अनल्पं फलं) बहुत फलको (ददाति) देती है। (अन्यस्य) किसी जीवको (महाहिंसा) बहुत बड़ी हुई हिंसा भी (परिपाके) फलकालमें (स्वल्पफला) थोड़ा फल देनेवाली (भवति) हो जाती है।

विशेषार्थ—कोई जीव बाह्यहिंसा तो कम करता है अर्थात् जीवोंका घात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थोड़ा करता है परन्तु अपने भावोंको कषायसे तीव्र हिंसामय बना डालता है, ऐसी अवस्थामें उसके तीव्र अशुभकर्मका बंध होता है; जिस समय वह कर्मबंध उदयमें आता है उस समय वह बहुत बड़ी हिंसासे होनेवाले फलको देकर उस जीवको महा दुःखी बना डालता है। तथा कोई जीव परिणामोंमें तो मंद कषाय रखता है परन्तु बाह्यप्रवृत्तिमें उसके द्वारा हिंसा अधिक हो जाती है, वैसी अवस्थामें उसके जो कर्मबंध होता है वह मंद रसको लेकर ही होता है, वह जब उदयमें आता है तब थोड़े फलको देकर ही खिर जाता है। यह परिणामोंकी ही विचित्रता है कि कोई बाह्यहिंसा अधिक करनेपर भी परिपाककालमें हिंसाजन्य थोड़ा फल पाता है, कोई बाह्यहिंसा कम करनेपर भी हिंसाजन्य फल अधिक पाता है। इसका मूल कारण यही है कि जिससमय जिस जीवके जैसे परिणाम तीव्र संक्लेशमय या मंद संक्लेशमय होते हैं उसके जो कर्मबंध होता है उसमें रसदान-शक्ति वैसी ही मंद या तीव्र पड़ती है और उदयकालमें वैसी ही कमती या अधिक फल देती है। बाह्यकारण निमित्तमात्र हैं। परिणामोंकी सरागता या वीतरागता ही हिंसा अहिंसारूप फलकी दात्री है।

और भी

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मंदमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३॥

अन्वयार्थ—[सहकारिणोः अपि] दो पुरुषोंके द्वारा साथ साथ की गई भी [हिंसा] हिंसा [फलकाले] फलकाल प्राप्त होने पर [अत्र] आत्मामें [वैचित्र्यं] विचित्रताको [व्रजति] प्राप्त होती है। [सा एव] वही हिंसा [एकस्य] एक जीवको [तीव्रं फलं] तीव्र फल [दिशति] देती है [सा एव] वही हिंसा [अन्यस्य] दूसरे जीवको [मंदफलं दिशति] मंद फल देती है।

विशेषार्थ—यदि दो जीव मिलकर किसी जीवकी हिंसा करें तो उन दोनों को भी समान हिंसाका फल नहीं होता, जिसके अधिक कषायसहित परिणाम हैं उसे हिंसाका तीव्र फल मिलता है जिसके कुछ कम कषायसहित परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं उसे कम फल मिलता है। एक कार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी एवं समान क्रिया करनेपर भी परिणामोंकी तीव्रता और मंदताके कारण दो जीवोंमें एक अधिक पापी बनकर तीव्र अशुभ कर्म बांध लेता है दूसरा लघु पापी होकर उससे हलका अशुभ कर्म बांधता है।

यही बात राजा और प्रजामें घटित करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि 'यदि राजाकी आज्ञासे सैनिक लोग परचक्रको मारें तो उनकी हिंसाका भागीदार वे मारनेवाले सैनिक नहीं होते किन्तु आज्ञा देनेवाला राजा ही होता है' परन्तु यह बात एकांतरूपसे ठीक नहीं है, कारण ऐसा हो सकता है कि राजाने किसी दुष्ट पुरुषका अन्याय देखकर अपने परिणामोंमें मंदकषाय रखते हुए ही यह आज्ञा दी कि 'अमुक पुरुष बहुत पापिष्ठ है इसलिये उसे मार डालो' तो उसकी हिंसाका भागीदार सरागप्रवृत्ति होनेसे कुछ अंशोंमें राजा भी होता है परन्तु उससे बढ़कर वह सैनिक भी होता है जिसने उसे मारते समय अपने परिणामोंको बहुत ही क्रूर और कलुषित बनाया है। भले ही उसने राजाकी आज्ञासे हिंसामें प्रवृत्ति की है परन्तु हिंसा करते समय जो उसके तीव्र कषायी परिणाम हुए हैं उनसे उसके तीव्र अशुभकर्मका बंध नहीं होगा क्या? आज्ञा लेनेका इतना ही प्रयोजन है कि वह सैनिक स्वयं किसीको मारनेका अधिकारी नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि वह हिंसामें रागपूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी निर्दोष बना रहे। हां! राजा जो आज्ञा देता है वह अन्यायके रोकनेके लिए देता है उसे वैसी आज्ञा देनेके लिए वाध्य होना पड़ता है इसलिए राजाके तीव्र परिणाम न होनेसे वह बहुत कम हिंसाका भागीदार होता है। जैसे कि न्यायपूर्वक दण्डकी आज्ञा देनेवाला न्यायाधीश (जज) निर्दोष है वैसे ही राज्यशासनकी न्यायपूर्वक व्यवस्था करनेवाला राजा भी निर्दोष है। हां! सरागप्रवृत्तिजन्य स्वल्पहिंसाका भाजन अवश्य है। इसलिए परिणामोंके आधारपर ही हिंसाका फल मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भी

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—[प्राक् एव हिंसा फलति] कोई हिंसा पहले ही फल देती है [क्रियमाणा फलति] कोई हिंसा करते करते फल देती है [कृता अपि फलति] कोई हिंसा कर चुकनेपर फल देती है [च] और [कर्तुं आरभ्य] कोई हिंसा आरंभ करके [अकृता अपि] विना किये भी [फलति] फल देती है। [इति] इस प्रकार [अनुभावेन] भावोंके अनुसार [हिंसा फलति] हिंसा फल देतीहै।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांतके मंतव्यानुसार जिस समय जैसे जीवके भाव हो जाते हैं उस समय उसीप्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म बंध जाते हैं। कोई जीव किसी जीवको मारनेका विचार कर चुका हो तो विचार करते समय जो उसके जीवघातक हिंसारूप भाव हुए हैं उसी समय उसके दुःख देनेवाले बुरे कर्मोंका बंध हो चुका है। विचार करनेके पीछे जबतक वह दूसरे प्राणीको मार भी नहीं पाया उसके पहले ही वे विचारसमयके बंधे हुए कर्म उदयमें आगये इसलिये जीवकी हिंसा भी नहीं कर पाया, उसके पहले ही उसे हिंसाका फल मिल जाता है। कोई जीव किसीको मारना चाहता है और वैसे हिंसारूप विचारोंमें उसने कर्मका बंध कर लिया पीछे जब दूसरे जीवको मारने लगा उसीसमय उसे उन कर्मोंका फल भी मिलने लगा जोकि उसने विचार करते समय बांधे थे इसलिये यहांपर हिंसा करते करते ही हिंसाका फल मिल गया। कोई जीव किसी जीवकी हिंसा कर चुका, हिंसा करते समय जो कर्म (पाप) उसके बंधे थे उनका पीछे उदय आया इसलिये यहांपर हिंसा करनेके पीछे हिंसाका फल मिला। कोई जीव हिंसा करनेके लिये मनमें विचार कर चुका उसी विचारोंसे उसने बुरे कर्म बांध लिये पीछे हिंसा करनेके लिये उद्यत हुआ परन्तु हिंसा कर नहीं पाया इसी बीचमें उसके हिंसारूप भावोंसे बंधे हुए कर्म उदयमें आ गये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये यहांपर बिना हिंसा किये भी हिंसाका फल मिल गया। इन ऊपर कहे हुये चार भंगोंका जो निदर्शन किया गया है वह परिणामोंकी विचित्रताको सूचित करता है, जीव चाहे हिंसा करै या न करै, पीछे करै या पहले करै या उसी समय करे कुछ भी हो परन्तु जीवके जिससमय जैसे परिणाम होंगे उन परिणामोंसे जैसे उसने कर्म बांधे होंगे, समय पाकर वे कर्म उदयमें आकर उसे वैसा फल अवश्य देंगे। हिंसाका फल जीवको भावोंके अनुसार मिलेगा चाहे दूसरे जीवका उसके द्वारा वध हो, चाहे न हो। अर्थात् दूसरे जीवकी वह हिंसा करै या न करै यदि उसके भावोंमें हिंसारूप प्रवृत्ति है तो उसे हिंसा करनेका फल अवश्य मिलेगा।

हिंसा कर्ता एक, फल भोक्ता अनेक

एकः करोति हिंसां भवंति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः॥ ५५॥

अन्वयार्थ—(एकः) एक जीव (हिंसा करोति) हिंसा करता है (फलभागिनः) फलके भागी (बहवः भवंति) बहुत होते हैं, (बहवः हिंसां विदधति) बहुत जीव हिंसा करते हैं (हिंसाफलभुक्) हिंसाके फलका भागी (एकः भवति) एक होता है।

विशेषार्थ—एक कुटुम्बमें दश पुरुष रहते हों, सभीकी इच्छा और प्रेरणासे उनमेंसे एक पुरुष यदि चोरी करने या जूआ खेलने जाता है तो उसके उस दुष्कृत्यका फल सबोंको भोगना है। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि किसी कुटुम्बमें यदि सभी दुष्ट एवं व्यसनी पुरुष रहते हों तो उनमेंसे किसी एकके अपराधपर सभी पकड़े जाते हैं इसलिये यह बात सुसंगत है कि एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं। किसी दुष्ट राजाने निरपराध हरिणको शिकार खेलते हुए बंदूकसे मार डाला उसके साथियोंने हृदयसे प्रशंसा की कि वाह महाराज! आपने खूब किया तो उस हिंसा कृत्यकी सराहनासे राजाके साथ साथ सभी सराहना करनेवाले भी हिंसाके फलके भोगनेवाले हैं कारण उनके परिणाम भी तो हिंसारूप ही हैं इसलिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके भी अशुभ कर्म बंधेगा और फलकालमें राजाके समान उन्हें भी दुःख उठाना पड़ेगा इसलिये यह बात युक्तिसिद्ध है कि एक करता है अनेक उसका फल भोगते हैं।

कहीं पर इसके विपरीत है अर्थात् अनेक हिंसा करते हैं फल एकको मिलता है। जैसे किसी राजाकी आज्ञा हो कि अमुक पुरुषको मार डालो परंतु सैनिक लोगोंकी इच्छा नहीं है कि वे उसे मारें फिर भी राजाके तीव्र अनुरोध (आज्ञा) एवं राजदंडके भयसे वे उसे मारनेमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये उस हिंसाका फल उस आज्ञा देनेवाले राजाको ही मिलेगा; सैनिक लोग तो बिना इच्छाके राजाज्ञासे उस दुष्टकर्ममें प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए हैं वे उस हिंसाके भागीदार नहीं होंगे। इससे यह बात सिद्ध होती है कि अनेक हिंसा करते हैं परंतु उसका फल एकको मिलता है। यहां पर भी परिणामोंकी ही विचित्रता समझना चाहिये कि क्रिया करनेवाला तो हिंसाका फल नहीं पाता है और क्रिया नहीं करनेवाला पाता है।

और भी कहा है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥५६॥

अन्वयार्थ—(कस्य अपि हिंसा) किसी जीवको तो हिंसा (फलकाले) फलकालमें (एकं एव हिंसाफलं) एक ही हिंसारूप फलको (दिशति) देती है (अन्यस्य) दूसरे जीव को (सैव हिंसा) वही हिंसा (विपुलं अहिंसाफलं) बड़े भारी अहिंसारूप फलको (दिशति) देती है।

विशेषार्थ—किसी जीवने दूसरे जीवकी हिंसा हिंसाकरनेके अभिप्रायसे यदि की हो तो उसे हिंसारूप ही फल मिलेगा अर्थात् हिंसा करनेसे जो बुरे कर्मों का उसके बंध हुआ है उदयकालमें वह उसे दुःख देकर ही निकलेगा और किसी जीवने हिंसा तो की परंतु अभिप्राय उसका उत्तम हो तो उसे हिंसारूप फल न मिलकर अहिंसारूप फल मिलेगा। जैसे जंगलमें ध्यानमें बैठे हुए मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजको देखकर सिंह तो उन्हें मारनेके उद्देशसे उनपर झपटा परंतु इसी बीचमें एक सूकरके परिणामोंमें मुनिमहाराजकी रक्षाका भाव उत्पन्न हुआ, उसने उस सिंहपर आक्रमण किया, दोनों लड़ते लड़ते मर गये, दोनोंके ही क्रूर परिणाम थे, फिर भी सिंहका जीव तो नरक गया और सूकरका जीव स्वर्ग गया। दोनोंके ही हिंस्रक परिणाम थे, दोनों ने दोनों की हिंसा भी की, एक साथ ही उनकी हिंसारूप प्रवृत्ति हुई फिर भी अभिप्रायके भेदसे एक स्वर्ग गया दूसरा नरक गया। सिंहका अभिप्राय मुनिमहाराजके घात करनेका था इसलिये उसे दुर्गतिमें जाना पड़ा, सूकरका अभिप्राय मुनिमहाराजकी रक्षा करनेका था इसलिये उसे सुगति मिली। इसी दृष्टांतके आधारपर यह बात भली भांति सिद्ध होती है कि एक ही हिंसा एकको हिंसाके फलको देती है और दूसरेको अहिंसाके फलको देती है।

हिंसा अहिंसाका फल

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥५७॥

अन्वयार्थ—[अपरस्य तु] किसीको तो [अहिंसा] अहिंसा [परिणामे] उदयकालमें [हिंसाफलं] हिंसाके फलको [ददाति] देती है [तु पुनः] और [इतरस्य] किसीको [हिंसा] हिंसा [अहिंसाफलं] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है [न अन्यत्] और फलको नहीं।

विशेषार्थ—किसी जीवने किसी जीवके घात करने अथवा उसे हानि पहुंचाने का विचार किया और उसीप्रकारका उद्योग करना आरंभ किया परन्तु दूसरा जीव अपने पुण्योदयसे बच गया अथवा बुरेकी जगह उसका भला हो गया तो ऐसी अवस्थामें हिंसा नहीं होनेपर भी घात करनेकी चेष्टा करनेवालेको हिंसाका ही फल मिलेगा। तथा किसी पुरुषने एक चिड़ियाके बच्चेको सड़कके किनारे पड़ा हुआ देखकर सुरक्षित रहनेके अभिप्रायसे एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घोंसलेमें रख दिया परन्तु वहांसे उसे एक पक्षी पकड़कर ले गया और उसे मार डाला अथवा किसी रोगीको वैद्यने अच्छा करनेके अभिप्रायसे औषधि दी; परन्तु उस औषधिसे वह मर गया तो वैसी अवस्थामें उस वैद्यको एवं घोंसलेमें बच्चेको रखनेवाले पुरुषको हिंसा होनेपर भी अहिंसाका ही फल मिलेगा। कारण उनके परिणामोंमें हिंसाका भाव किंचिन्मात्र भी नहीं है प्रत्युतः उनके भाव जीवके बचानेके हैं, वैसे परिणामोंके रहनेपर यदि उनसे किसी निमित्तवश बाह्य हिंसा हो गई तो वे उस हिंसाके फलके भागीदार नहीं हो सकते किंतु भावोंके अनुसार अहिंसाके फलके भागीदार हो चुके।

मार्ग-प्रदर्शक

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनां ।
गुरवो भवंति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—[इति] इसप्रकार [सुदुस्तरे] अत्यंत कठिन [विविधभगगहने] अनेक प्रकारके भंग-भेद प्रभेदरूप गहन वनमें [मार्गमूढदृष्टीनां] जिनमार्गको भूले हुए पुरुषोंके-लिये [प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः] अनेक नयसमूहको भलीभांति जाननेवाले [गुरवः] श्रीगुरु-आचार्य महाराज ही [शरणं भवंति] शरण होते हैं।

विशेषार्थ—जिसप्रकार बड़े भारी जंगलमें कोई अनजान पुरुष फंस जाता है तो उसका वहांसे निकलना बहुत कठिन हो जाता है कारण जंगलमें मार्गका मिलना अत्यंत कठिन है। इसीप्रकार जैनधर्मने परिणामोंकी अनंत श्रेणियां बतलाई हैं उनमेंसे थोड़ीसी श्रेणियोंका परिज्ञान करना भी गणधरदेव, श्रीआचार्यपरमेष्ठी आदि श्रुतधारियोंका काम है, साधारण बुद्धिवाले तो क्या विशेष पंडित भी उन परिणामकोटियोंका परिज्ञान करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, कारण आत्माओंमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है, उसमें निमित्तकारण पूर्वबद्ध कर्मपरमाणुओंका उदय है, जैसे जैसे कर्मोंका उदय होता रहता है उसी उसीप्रकार आत्माओंके परिणमनमें भेद प्रभेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते चले जाते हैं। कर्मों की भिन्न भिन्न वर्गणाओंके स्कंधभेदसे असंख्यात भेद हैं तथा उतने ही उनके प्रतिपक्षी क्षयोपशमके भेद हैं। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक कर्मपरमाणुमें रसदानशक्ति है और जितने कर्मपरमाणुरूप आवरकोंके भेद हैं उतने ही क्षयोपशमके भेद हैं, इस दृष्टिसे अनंत कर्मपरमाणुओंके प्रतिपक्षी अनंत आत्मीयभावोंकी क्षयोपशम-रूप कोटियां हैं। इसप्रकार उन अनंत भावोंके होनेवाले प्रतिक्षण परिण-मनके सूक्ष्म अंशोंका परिज्ञान नितांत दुस्तर एवं छद्मस्थोंके अगम्य है इसीलिये उसको गहनवनके नामसे आचार्यों ने कहा है। परन्तु जिसप्रकार बड़ेसे बड़े जंगलमें भटके हुए मनुष्यको जंगलके मार्गोंको जाननेवाला मनुष्य तुरन्त मार्गपर खड़ा कर देता है एवं प्रातव्य स्थानपर पहुंचा देता है उसीप्रकार इस सिद्धांतरूपी गहनवनमें जो जीव मार्ग भूलकर इधर उधर कुमार्गमें भटकते फिरते हैं उनके लिये श्रीगुरु आचार्य महाराज ही शरणभूत हैं अर्थात् उस कुमार्गमें जानेवाले पुरुषको वे स्व-पर-तारक गुरु ही सर्वज्ञ प्रतिपादित जिनमतका रहस्य बताकर सुमार्गपर लानेका प्रयत्न करते हैं। सिद्धांतरहस्यके अपरिमितवेत्ता उन दिगम्बराचार्यों के सिवा अन्य समर्थ नहीं है इसलिये उन्हींकी शरणमें पहुंचकर उन्हींके सदुपदेशसे आत्माका कल्याण करना चाहिये।

जिनेंद्रदेवका नयचक्र

अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रं।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानां॥ ५९॥

अन्वयार्थ—[अत्यंतनिशितधारं] अत्यंत तीक्ष्ण धारवाला [दुरासदं] बड़ी कठिनतासे मिलनेवाला [जिनवरस्य नयचक्रं] जिनेंद्रदेवका नयरूपी चक्र [धार्यमाणं] यदि धारण किया जाय तो वह [दुर्विदग्धानां] अज्ञानी जीवोंके [मूर्धानं] मस्तकको [झटिति] शीघ्र ही [खंडयति] खंड खंड कर देता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार चक्रसे शत्रुओंका मस्तक खण्ड खण्ड हो जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसीप्रकार इस जिनेंद्रदेव के नयरूपी चक्रसे अथवा जिनेंद्र भगवानद्वारा प्रतिपादित नयसमूहसे मिथ्यावादियोंका अभिमान खण्ड खण्ड हो जाता है। अर्थात् जब पदार्थ अनेक धर्मात्मक है तो वह नयभंगियोंसे ही ठीक ठीक कहा जा सकता है, नयोंको छोड़कर किसी भी धर्मको यदि एकांतरूपसे प्रतिपादन किया जाय तो वह प्रतिपादन वस्तुस्वरूपसे प्रतिकूल हो जाता है इसलिये जैनधर्मको छोड़कर सभी धर्म एकांतपक्षके प्रतिपादक होनेसे निरवलंब, वस्तुस्वरूपसे च्युत एवं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे बाधित हैं, इसलिये जैनमतका सारभूत रहस्य नयचक्रका सर्वोपरि महत्त्व प्रगट करने के लिये आचार्य महाराजने उस नयचक्रको चक्रकी उपमा दी है। चक्र नाम समूहका भी है और शस्त्र विशेषका भी है दोनों ही अर्थ यहांपर घटित होते हैं। दुर्विदग्ध लोगोंका मस्तक उनका माना हुआ तत्त्व समझना चाहिये, उसीके बलपर वे ऊंचा शिर किये हुये रहते हैं परंतु अनेकांतस्वरूप जिनमतके सामने उन सबका मस्तक गिर जाता है—खंडित हो जाता है।

हिंसा निरूपण की समाप्ति

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

अन्वयार्थ—(हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि) हिंस्य कौन है, हिंसक कौन है, हिंसा क्या है, हिंसाका फल क्या है? इन चारों बातोंको (तत्त्वेन) वास्तवरूपसे (अवबुद्ध्य) समझ करके (नित्यं अवगूहमानैः) सदा संवर करनेमें सावधान रहनेवाले पुरुषोंको (निजशक्त्या) अपनी शक्तिके अनुसार (हिंसा) हिंसा (त्यज्यतां) छोड़ना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसकी हिंसा की जाती है उसे हिंस्य कहते हैं। ऐकेंद्रियसे लेकर संज्ञी पंचेंद्रियपर्यंत सभी प्राणी हिंस्य कहे जाते हैं, कारण कि सभी संसारी जीवोंके द्रव्यप्राण अथवा भावप्राण स्व-परके द्वारा पीडे जा सकते हैं। हिंसा करनेवालेको हिंसक कहते हैं, इस कोटिमें मनवाले संसारी जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष रीतिसे समझना चाहिये बाकी तेइंद्रिय आदि भी रागद्वेषके निमित्तसे इस कोटिमें आ सकते हैं, एकेंद्रिय दो इंद्रिय जीव भी सरागी हैं परंतु वे सर्वथा अव्यक्त कोटिमें हैं। वास्तवमें हिंसककी प्रधान कोटिमें वे ही जीव समझने चाहिये जो बुद्धिपूर्वक अपने अथवा परके द्रव्यप्राण अथवा भावप्राणोंका घात करते हैं जो प्राणपीडारूप क्रिया है उसे हिंसा कहते है, अर्थात् जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणोंमें जो पीड़ा हो रही है और द्रव्यप्राणोंका जो घात हो रहा है वही हिंसा है। हिंसा करते समय जो अशुभ कर्मों का बंध किया जाता है उसके उदयमें आनेपर हिंसा करनेवालेको जो नरकादि गतियोंमें कष्ट मिलता है वही हिंसाका फल है। जैसे एक मनुष्यने सिंहको मारा और तीव्र क्रूर परिणामोंसे उसने नरकायु का बंध बांध लिया, पहली आयुके खिर जानेपर तथा हिंसा करते समय बांधी हुई नरकायुका उदय आने पर वह जीव नरकगतिमें चला गया और वहां छेदन भेजन भर्जन कुंभीपाकपाचन आदि नानाप्रकारके दुःखोंको भोगने लगा तो यहांपर सिंह तो हिंस्य है, मनुष्य हिंसक है, सिंहके प्राणों का घात होना हिंसा है और मनुष्यने नरकायुका जो बंध किया तथा उसके उदयमें आनेपर वह नरकगतिमें पहुंचकर वहांके दुःखोंको भोगने लगा यह हिंसाका फल है।

इसप्रकार इन समस्त सूक्ष्म हिंसाकोटियोंको समझ करके प्रत्येक विचारशील एवं कर्मोंका उपशमन करनेके लिये उद्योगशील पुरुषको अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका परित्याग कर देना ही उचित है।

अष्ट मूलगुण

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुंबरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसाव्युपरतकामैः) हिंसाको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको (प्रथम एव)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे पहले (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक अथवा सावधानीके साथ (मद्यं) मदिरा (मांसं) मांस (क्षौद्रं) मधु (पंच उदुंबरफलानि) पांच उदुंबरफल (मोक्तव्यानि) छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह बात प्रगट की गई थी कि अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका परित्याग करना चाहिये। इस श्लोक द्वारा यह बात प्रगट की गई है कि वे कौनसे पदार्थ हैं जिनके सेवनसे अत्यधिक जीवोंकी हिंसा होती है जिन्हें कि सबसे पहले छोड़नेकी आवश्यकता है ? इसके लिये बतलाया गया है कि हिंसाका त्याग करनेवालोंको सबसे पहले मदिरा, मांस, मधु (शहत) और पांच उदुंबरफल इन आठ वस्तुओंका परित्याग कर देना चाहिये। सबसे पहले इन्हीं आठोंका परित्याग क्यों बतलाया गया है ? इसका उत्तर यह है कि ये आठों ही वस्तुएं ऐसी हैं कि जिनके सेवनसे अनंतप्राणियोंका घात हो जाता है एवं असंख्य त्रस-जीवोंका घात हो जाता है। इनसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो कि जीवोंकी खान हो। जीवहिंसाका त्याग करनेके लिये यदि कोई प्रथम श्रेणी है तो इन्हीं आठ वस्तुओंका त्याग है, इनका त्याग किये बिना यदि कोई हिंसाका त्यागी कहलानेका पात्र बनना चाहता है तो वह बात सर्वथा असत्य है। त्यागका मार्ग ही इन आठोंके त्यागसे प्रगट होता है'। अथवा यों कहना चाहिये कि जो पुरुष मदिरा मांस मधु और पांच उदुम्बरफलोंको छोड़ नहीं सकता वह हिंसाका त्यागी कभी बन ही नहीं सकता अथवा वैसे पुरुषकी प्रवृत्ति त्याग करनेके लिये कभी उद्यत नहीं हो सकती। मदिरा मांस मधु आठों ही पदार्थ जीवोंके साक्षात् पिण्ड हैं तथा अनंत स्थावर एवं असंख्य त्रसोंके आश्रयभूत हैं इसलिये उनका सेवन करनेवाला महापापी तीव्रकषायी, सबसे बड़ाहीनाचारी एवं मनुष्य श्रेणीमें गिनने योग्य नहीं है। जैनधर्मके सिद्धांतके अनुसार तो जो मनुष्य इन आठोंका परित्याग नहीं करता है वह जैन ही नहीं कहा जा सकता, इन आठों का त्यागी ही जैन कहा जाता है। इन आठोंका त्याग ही अष्ट मूलगुणके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामसे प्रसिद्ध है। अष्ट मूलगुणका पालन करनेवाला मनुष्य ही जैन कहा जा सकता है। जिसके जैनत्वके योग्य मूलगुण ही नहीं है वह जैन नहीं कहा जा सकता इसलिये उपर्युक्त मदिरा आदि आठोंका त्याग करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

मदिरा-पानमें दोष

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(मद्यं) मदिरा (मनः मोहयति) मनको मूर्छित—बेहोश कर देता है (मोहितचित्तस्तु) मोहित चित्तवाला पुरुष (धर्मं विस्मरति) धर्मको भूल जाता है (विस्मृतधर्मा जीवः) धर्मको भूला हुआ जीव (अविशंकं) बिना किसी प्रकारकी शंकाके (हिंसां आचरति) हिंसाका आचरण करता है।

विशेषार्थ—सबसे बड़ा दोष ज्ञानका नष्ट हो जाना है। मदिरा पीनेवालोंका ज्ञान एकदम नष्ट हो जाता है, उनकी बुरी दशा हो जाती है। उन्हें अपने शरीर तकका होश नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें कहां तो विवेक ठहर सकता है और कहां धर्म ठहर सकता है? मदिरापायी पुरुषके धर्म कर्म विवेक सभी नष्ट हो जाते हैं वैसी अवस्थामें उसकी हिंसामें सुतरां प्रवृत्ति हो जाती है, कारण कि विवेकपूर्ण उत्तमगुणोंकी ओर तो बुद्धिका झुकाव बड़े यत्न करनेपर होता है परन्तु नीचमार्गकी ओर वह सुतरां प्रवृत्त हो जाती है। इसका कारण जीवोंके अनादिकालसे चले आये हीनसंस्कार एवं अशुभकर्मोंका उदय ही है इसलिये मदिरा पीनेवाला पुरुष निडर होकर हिंसा करने लगता है। मदिरा पीनेवालेकी हिंसा करनेमें ही क्यों प्रवृत्ति होती है? इसका उत्तर यह है कि मदिरासे आत्मामें तमोगुणकी वृद्धि होती है उसके निमित्तसे वह तीव्रकषाय एवं क्रूरतापूर्ण कार्यमें प्रवृत्त होनेके लिये बाध्य हो जाता है। इसलिये देखा भी जाता है कि मदिरापायी पुरुष गाली बकता फिरता है, कुचेष्टाऐं करता फिरता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभक्ष्यपदार्थोंका सेवन करता है, सप्तव्यसनके सेवनमें लग जाता है ये सब तमोगुणके कार्य हैं इसलिये उसकी समस्तक्रियायें हिंसाजनक हैं।

मदिरा जीवोंका पिंड है

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यं।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं ॥ ६३॥

अन्वयार्थ – (च) तथा (बहूनां रसजानां जीवानां) बहुतसे रससे उत्पन्न हुए जीवोंके (योनिः) योनि अर्थात् जीवोंत्पत्तिका आधार (मद्यं) मदिरा (इष्यते) कही जाती है (मद्यं भजतां) मदिरा पीनेवाले (तेषां) उन जीवोंको (हिंसा अवश्यं संजायते) हिंसा अवश्य लगती है।

विशेषार्थ—मदिराकी उत्पत्ति सड़ाए हुए पदार्थोंसे होती है। महुआ गुड़ आदि अनेक मादक पदार्थोंको इकट्ठा कर महीनों एवं वर्षों सड़ाया जाता है। बहुतकाल सड़नेसे उन पदार्थोंमें तीव्र मादकता उत्पन्न हो जाती है। जो जितने अधिक दिन सड़ाये जाते हैं उनसे उतनी ही अच्छी शराब तैयार होती है। उन महीनों और वर्षोंके अनेक मिले हुए दुर्गंधित पदार्थोंमें असंख्य तो त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं, और अनंत स्थावर जीव पैदा हो जाते हैं। पीछे उन सड़ाये हुए पदार्थोंको मथा जाता है। मथन करनेमें वे समस्त–पंचेंद्रिय तक असंख्य त्रसजीव तथा अनंत स्थावर जीव उसी मदिराके रसमें मथ जाते हैं। इसप्रकार अनंतों जीवोंका बध हो चुकनेके पीछे फिर जब मदिरा तैयार हो जाती है तो फिर उस दुर्गंधित रसमें असंख्य त्रस और अनंत स्थावर उत्पन्न होते हैं। उसी जीवोंसे सने हुये मदिराको मदिरापीनेवाले दुष्टपुरुष पी जाते हैं। पीछे ज्ञानगुणके मूर्छित होनेसे नानाप्रकारके खोटे कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं इसप्रकार मदिरापान महान् हिंसा और अनर्थोंका घर है।

और भी कहा है--

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः) अभिमान भय ग्लानि हास्य दुःख शोक कामवासना क्रोध आदिक सभी दुर्गुण अथवा कषाय हैं, वे सब (हिंसायाः पर्यायाः) हिंसाके पर्यायवाची शब्द हैं (च) और (सर्वे अपि) सभी (सरकसन्निहिताः) मदिराके निकटवर्ती हैं अर्थात् मदिराके पास रहते हैं।

विशेषार्थ—अभिमान आदिक सभी दोष हिंसाके ही पर्यायवाची शब्द हैं। इस बातको पहले ही प्रगट किया जा चुका है कि कषायपरिणाम भावहिंसास्वरूप हैं। उपर्युक्त समस्त दुर्भाव अथवा कषायभाव मदिरा पीनेसे उत्पन्न होते हैं इसलिये मदिरापायी पुरुष भावहिंसा एवं द्रव्यहिंसा ही किया करता है अर्थात् उसका मदिरापान ही पहले तो हिंसात्मक कार्य है दूसरे उससे होनेवाले भाव और उत्तर प्रवृत्तियां हिंसात्मक हैं इसलिये जो दुर्बुद्धि मदिराका त्याग नहीं करते वे महापापी हैं।

मांसकी उत्पत्ति

न बिना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिस कारण (प्राणिविघातात् विना) विना प्राणियोंके वध हुए (मांसस्य उत्पत्तिः) मांसकी उत्पत्ति (न इष्यते) नहीं हो सकती (तस्मात्) इसलिए (मांसं भजतः) मांसको सेवन करनेवाले पुरुषको (हिंसा अनिवारिता प्रसरति) हिंसा अनिवार्य (अवश्य ही) होती है।

विशेषार्थ—मांस क्या पदार्थ है ? इसका विचार करनेसे जाना जाता है कि मांस त्रस जीवका भीतरी शरीरपिण्ड है इसलिये जो वस्तु साक्षात् त्रस जीवके शरीरका पिण्ड है वह बिना जीववधके तैयार नहीं हो सकती अतः मांस सेवन करनेवालेको हिंसा अनिवार—अवश्य ही होती है।

मांसमें अन्य अनन्तजीव

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(यदपि) यद्यपि (मांसं) मांस (स्वयं एव मृतस्य) अपने आप मरे हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(महिषवृषभादेः अपि भवति) भैंस बैल आदि पशुओंका भी होता है (तत्र अपि) वहां भी (तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्) उस मांसके आश्रित निगोदजीवराशिके घात होनेसे (किल) निश्चयसे (हिंसा भवति) हिंसा होती है।

विशेषार्थ—अनेक कुतर्कीपुरुष ऐसीभी आशंका किया करते हैं कि जिस मांसको जीववध करके तैयार किया गया है उसके भक्षणमें हिंसा लगती है परन्तु जो मांस स्वयं मरे हुये पशुओंका तैयार किया गया है उसके भक्षणमें कोई दोष नहीं है। इसका उत्तर इस श्लोक द्वारा दिया गया है कि स्वयं मृतजीवके मांसभक्षणमें भी अनेक महान् दोष आते हैं। कारण जो पुरुष मांसभक्षण करते हैं वे साक्षात् जीवके कलेवरका भक्षण करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके कितना तीव्रराग है अथवा कितनी तीव्र पापवासना है उसका विवेचन करना व्यर्थ है। क्या जीवका कलेवर ग्रहण करनेवाले मनुष्योंकी कोटिमें बिठानेके पात्र हैं ? कभी नहीं। वे राक्षस हैं ऐसे पुरुषों के हृदयमें दयाका लेश नहीं हो सकता। फिर भी शंकाकार के कथनानुसार यह मान लिया जाय कि स्वयंमृतके मांसमें क्या जीववध हो सकता है ? तो उसका उत्तर यह है कि मांस एक ऐसी घृणित वस्तु है जिसमें निरन्तर अनन्त निगोतजीवराशि उत्पन्न होती रहती है। इसलिये मांसभक्षण करनेवाले उस अनन्तजीवराशिका भी भक्षण कर जाते हैं अतएव मांससेवियोंके नियमसे महान्—दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसा होती है।

पक्वमांसमें भी जीवराशि है

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(आमासु) कच्ची (पकासु अपि) पकी हुई भी (विपच्यमानासु अपि) पकती हुई भी (मांसपेशीषु) मांसकी डालियोंमें (तज्जातीनां) उसी जातिके (निगोतनां) निगोतजीवराशियोंकी (सातत्येन) निरंतर (उत्पादः 'भवति') उत्पत्ति होती रहती है।

विशेषार्थ—कोई यह शंका करे कि—कच्चे मांसमें जीव रह सकते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निपर पकाये हुये मांसमें नहीं रहते होंगे ? तो आचार्य महाराज इसका उत्तर देते हैं कि—चाहे मांस कच्चा हो, चाहे पकाया हुआ मांस हो चाहे अग्निपर पकाया जा रहा हो, कैसी भी अवस्थामें वह क्यों न हो, हर समय उसमें उसी जातिकी—जिसजातिके जीवका वह मांस है उसी जाति-वाले अर्थात् गौ भैंस आदि जिन जीवोंके शरीरका वह मांसपिंड है उसी-प्रकारके वर्णादिवाले परमाणुओंके शरीरवाले एवं उसीप्रकार आकार विशेष रखनेवाले अनंत निगोदजीव उसमें निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं।

इसलिये—

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं।
स निहंति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनां॥ ६८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (आमां) कच्ची (वा) अथवा (पक्वां) पकाई हुई (पिशित-पेशीं) मांसकी डलीको (खादति) खाता है (वा) अथवा (स्पृशति) स्पर्श करता है (सः) वह (बहुजीवकोटीनां) अनन्त जीवराशियोंके (सततनिचितं) निरन्तर संचित हुए (पिंडं) पिंडको (निहंति) नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ—जो मांसपिंडको खाता है वह तो अनंत जीवराशिको खाता ही है उस पापिष्ठकी तो बात ही क्या ? परन्तु जो उस अनन्त जीवरा-शिमय मांसको छूता भी है वह भी उन जीवोंका घातक है इसलिये मांसका स्पर्श भी दुर्गतिका कारण है और तीव्रहिंसा का मूलभूत है।

मधुमें हिंसा

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोत्यंतं॥६९॥

अन्वयार्थ—[लोके] लोकमें [मधुशकलमपि] मधुका एक छोटा सा खंड भी [प्रायः] बहुधा [मधुकरहिंसात्मकं] मक्खियोंकी हिंसाका स्वरूप [भवति] होती है। [यः] जो [मूढधीकः] मूढ़ बुद्धि रखनेवाला [मधु भजति] मधुका सेवन करता है [सः] वह [अत्यंत हिंसकः भवति] अत्यंत हिंसक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—मधु (शहत) की एक बिन्दु भी बिना मक्खियोंकी हिंसा किये नहीं मिल सकती, कारण कि कोई मधु लेने की चेष्टा करेगा वह पहले उन मक्खियोंके छत्तेको—उनके घरको नष्ट करेगा वैसा करनेसे कुछ मक्खियां उड़ जाती हैं परंतु अनेक उसी छत्तेमें दब जाती हैं, छत्तेके निचोड़नेसे पिस जाती हैं। इसके सिवा उस छत्तेमें रहनेवाले ऐसे पिंड जिनमें कि जीव पड़ चुके हैं वे उसीमें नष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन समस्त जीवोंका बुरी तरहसे घात होता है। जो विचारी मक्खियां छत्तेसे उड़ भी जाती हैं, वे भी उनका घर नष्ट हो जानेसे महान् क्लेश भोगती हैं। इसके सिवा मधु कोई उत्तम पदार्थ भी नहीं है किंतु मक्खियोंके मुंहका जूठा उगाल है। पुष्पोंका रस पीकर मक्खियां आती हैं उसी रसको छत्ते पर उगलती हैं वही मधु है इसलिये वह मधु खाने योग्य तो क्या छूने योग्य भी पदार्थ नहीं है। हिंसाका विचार करनेसे तो मधुको खानेवाला महान् पापी एवं क्रूरात्मा है, कारण कि मक्खियोंके छत्तेमें रहनेवाले असंख्य जीवोंका घात वह करता है जो मधुकी एक बिंदु भी खाता है। इस विषयमें कि जो मधुका एक बिंदु भी खाता है वह सात गावोंके जलादेनेके बराबर हिंसाका भागी होता है। ऐसा समझकर किसी पुरुषको मधुका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये किन्तु सदाके लिए सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

स्वयं गिरे हुए मधुके ग्रहणमें हिंसा

स्वयमेव विगलितं यो गृहणीयाद्वा छलेन मधु गोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—[यः] जो पुरुष [गोलात्] मधुके छत्तेसे [स्वयं एव विगलितं] अपने आप ही गिरे हुये [वा] अथवा [छलेन 'विगलितं'] छलसे गिरे हुये [मधु] मधुको [गृहणीयात्] ग्रहण करता है [तत्रापि] वहांपर भी [तदाश्रयप्राणिनां] उसके आश्रयभूत प्राणियोंके [घातात्] घातसे [हिंसा भवति] हिंसा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जो स्वयमेव छत्तेसे गिरे हुये मधुका सेवन करता है वह भी हिंसक होता है, कारण कि उसके आश्रित रहनेवाले सभी जीव नष्ट हो जाते हैं अथवा जो किसी भी छलसे मधुबिंदु काग्रहण करता है वह नियमसे हिंसक होता है।

व्रती इनका भक्षण नहीं करते

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
बल्भ्यंते न व्रतिना तद्वर्णा जंतवस्तत्र ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ— [मधु मद्यं नवनीतं] मधु-शहद, मदिरा-शराब, नवनीत-मक्खन, अथवा लौनी [च] और [पिशितं] मांस [महाविकृतयः] महान् विकृतिवाले पदार्थ हैं अर्थात् इन पदार्थोंके सेवन करनेसे आत्मामें विकार पैदा होता है इसलिए [ताः] ये चारों [व्रतिना] व्रती पुरुषोंके द्वारा [न बल्भ्यंते] नहीं सेवन किये जाते हैं क्योंकि [तत्र] उनमें [तद्वर्णाः] उसी वर्णवाले [जंतवः] जंतु उत्पन्न होते रहते हैं।

विशेषार्थ— मधु, मदिरा, मक्खन और मांस इन चारों ही मकारोंमें उन्हीं उन्हीं रंगवाले जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये व्रती पुरुष उनका कदापि सेवन नहीं करते हैं। इनका सेवन करनेवालोंकी आत्मा महा-मलिन विकारयुक्त एवं नीचपथकी अवलंबिनी बन जाती है।

इन उपर्युक्त पदार्थोंमें मदिरा और मांसका तो जैनमात्रके ही त्याग होता है, परन्तु कोई कोई भाई शहद और मक्खनका सेवन करते हुए पाये जाते हैं। परन्तु उन्हें भी न सेवना चाहिये क्योंकि मधु और मक्खन इन दोनोंको मदिरा और मांसके साथ वर्णन किया है, इसलिये इन दोनों की भी वही कोटि है जो मदिरा और मांसकी होती है। इतना विशेष है कि मक्खनमें एक मुहूर्तके पीछे जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है। कोई कोई दो मुहूर्त पीछे उसमें जीवोंकी उत्पत्तिका विधान करते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें वह एक मुहूर्त अथवा दो मुहूर्त पीछे सर्वथा अभक्ष्य हो जाता है। इसलिए श्रावकोंको चाहिये कि एक मुहूर्तके भीतर ही मक्खनको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निपर तपाकर घृत बना लेवें तभी उसका ग्रहण करें। आजकल मक्खन के विषयमें बहुत कम लोग विचार करते हैं। बहुभाग लोग एक, दो एवं आठ दिन तक मक्खनको कच्चा ही रखते हैं पीछे उसे अग्निपर तपाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन समस्त जीवोंकी हिंसाके वे भागीदार हैं जो कि उसमें दो मुहूर्त पीछे पड़ चुके हैं। इसलिये इस शिथिलाचारको तुरन्त दूर करनेका जैनियोंको प्रयत्न करना चाहिये।

दूसरी बात शहदके विषयमें भी है। बहुसंख्यक जैनीभाई बीमारीके समय चटनी आदि औषधिके लिये शहदकी चासनी बना लेते हैं और उसी शहदके साथ औषधि खा लेते हैं। मधुका ग्रहण करना तो दूर रहा उसका स्पर्श भी आचार्योंने महान पापबंधका कारण बतलाया है। उसका कारण भी प्रगट किया है कि उसके आश्रित रहने वाले समस्त जीवोंका बध हो जाता है, मधुबिंदुको खाने वालेके लिये सात गावोंके जलाने वालेके बराबर पापी बतलाया गया है, इसलिये मधुका सर्वथा त्याग कर देना ही प्रत्येक जैनके लिये अत्यावश्यक है। जो पदार्थ अभक्ष्य हैं, अनुपसेव्य हैं, उनका ग्रहण जैनमात्रके लिये निषिद्ध है। जो मधुका भी त्याग करनेमें असमर्थ हैं वे हिंसासे कभी नहीं बच सकते और न वे जैन कहलानेके पात्र हैं कारण अष्ट मूलगुणका धारण करना जैनत्वका प्रथम लक्षण है, उसके अभाव में जैनत्व का भी अभाव समझना चाहिये।

पांच उदुंबरफल

योनिरुदुंबरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

अन्वयार्थ—[उदुंबरयुग्मं] उदुंबर युग्म-ऊमर और कठूमर [प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि] पाकर, बड़ और पीपलफल [त्रसजीवानां] त्रस जीवोंके [योनिः] योनिभूत हैं अर्थात् त्रसजीवों की उत्पत्ति के ये पांचों फल घर हैं इनमें अनेक त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं [तस्मात्] इसलिये [तद्भक्षणे] उनके भक्षण करने में [तेषां] उन त्रसजीवों की [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—इन पांचों वृक्षोंके फलोंमें त्रस जीव साक्षात् उड़ते देखे जाते हैं तथा और भी सूक्ष्म जीव बहुत होते हैं जो नहीं देख पड़ते इसलिये हिंसासे बचने वालोंको इन पांचों ही फलोंके भक्षणका त्याग कर देना उचित है।

पञ्च उदुंबर सूखे भी अभक्ष्य हैं

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

अन्वयार्थ—[पुनः] फिर [यानि] जो फल [शुष्काणि तु] सूखे हुए भी [कालोच्छिन्नत्रसाणि] काल पाकर त्रस जीवों से रहित हो जांय [तानि अपि] उनको भी [भजतः] सेवन करनेवालेको [विशिष्टरागादिरूपा] विशिष्ट रागादि रूप [हिंसा स्यात्] हिंसा होती है।

विशेषार्थ—जो लोग यह विचारकर कि सूखे फलों में तो त्रस जीव नहीं रहते उनके भक्षण करने में क्या दोष है ? सूखे फलोंको भक्षण करने लगें तो आचार्य उनके लिये भी निषेध करते हैं कि जो फल सूख जाते हैं और काल पाकर उनमें से त्रस जीव नष्ट हो जाते हैं अथवा बाहर निकल जाते हैं ऐसे सूखे हुए फल भी नहीं खाना चाहिये, कारण कि उनके खानेमें एक विशेष रागरूप परिणामोंकी उत्पत्ति होती है। बिना तीव्र रागके उनके सुखानेके लिये परिणाम भी नहीं हो सकते। जब कि उन फलोंमें तीव्र गृद्धता या रागविशेष होगा तभी उन त्रस जीवोंके घररूप फलोंको सुखानेके लिये प्रेरित परिणाम होंगे वैसी अवस्थामें तीव्र रागजनित भावहिंसा होती ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि जो फल त्रस जीवों की योनिभूत हैं, ऐसे फलों को सुखाने से वे त्रस जीव क्या सभी बाहर ही निकल जाते हैं ? अनेक उसी फलमें गरमीसे मरकर रह जाते हैं, सूक्ष्म होनेसे दीखते भी नहीं हैं और फलके समान रंग होनेसे भी नहीं दीखते। वैसी अवस्थामें उनफलोंका सेवन त्रस जीवोंके कलेवरकाभक्षण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पदार्थ त्रस जीवों की योनिरूप नहीं हैं उनसे तो त्रस जीव निकल जाते हैं परंतु जो योनिरूप हैं उनसे सब त्रसोंका निकलना अशक्य है। अनेक सूक्ष्म त्रस उन्हीं फलोंमें रहते ही हैं इसलिये ऐसे सर्वथा अभक्ष्य पंच उदुंबर फलोंको सुखाकर खाना भी हिंसा है। परिणामोंमें तीव्रराग तथा आकुलता होनेसे भावहिंसा होती है और उन त्रस जीवोंका घात होनेसे द्रव्यहिंसा होती है इसके सिवा उन फलोंका भक्षण करनेसे मांस सेवन का दोष आता है, इसलिये पांचों लिए फल जैनमात्रके त्याज्य हैं।

धर्मोपदेश पानेके पात्र

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवंति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अन्वयार्थ - (अमूनि) इन (अष्टौ) आठ (अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि) अनिष्ट, कठिनतासे छूटनेवाले और पापोंकी खानस्वरूप फलोंको (परिवर्ज्य) छोड़कर ही (शुद्धधियः) शुद्धबुद्धिवाले पुरुष (जिनधर्मदेशनयः) जिनधर्मके उपदेश ग्रहण करनेके (पात्राणि भवन्ति) पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—जबतक कोई पुरुष इन पांच फलोंको और मदिरा मांस मधुको नहीं छोड़ सकता तबतक वह जैनधर्मके उपदेशको सुननेका पात्र भी नहीं है। कारण कि जिसके इतना तीव्र राग है कि जो साक्षात् त्रस जीवोंके कलेवरको ही भक्षण कर जाता है, उस दयाहीन महाक्रूरपरिणामी मलिनात्माके जिनधर्मके स्वरूपके सुननेके कहां परिणाम हो सकते हैं ? ऐसे तीव्र रागी पुरुषको उपदेश नहीं देना चाहिये सो नहीं। आचार्य महाराज का यही अभिप्राय है कि ऐसे अभक्ष्यभक्षी मलिनबुद्धिकी आत्मामें थोड़े भी निर्मल परिणाम नहीं हैं जो कि जिनधर्मको सुनकर वह कुछ लाभ उठा सके। ऐसी अवस्थामें उसे उपदेश देना व्यर्थ ही जाता है। क्योंकि जिसके परिणामोंमें थोड़ासा क्षयोपशम होता है तभी उस आत्माका उपयोग सन्मार्गकी ओर झुकाया जा सकता है इसलिए वे ही पुरुष जिनधर्मका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश ग्रहण करनेके पात्र हैं जो इन–मदिरा मांस मधु और पांच उदुंबर फलोंका त्याग करके अपने परिणामोंको निर्मल बना चुके हैं।

ऊपर कहे हुये तीन मकार और पांचों ही फल आत्माके लिये महान् अनिष्ट करनेवाले हैं, महान् पापबंध करनेवाले हैं इसलिये सबसे पहले जैनधर्मके सिद्धांतानुसार इन्हीं आठोंका परित्याग श्रावकके लिये आवश्यक बतलाया गया है। इन्हीं आठोंके त्यागको आठ मूलगुण कहते हैं, जिसके मूलगुण नहीं हैं वह श्रावककी कोटिमें भी नहीं सम्हाला जा सकता। मूलगुणों के अभावमें उत्तरगुण–पंचअणुव्रत आदि तो किसीप्रकार पाले ही नहीं जा सकते हैं। जिसके आठ मूलगुण नहीं हैं वह किसीप्रकारकी धर्मक्रियाके पालनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

त्रसहिंसा तो छोड़ ही दो

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वंतोपि ये परित्यक्तुं।
स्थावरहिंसाममहास्त्रसहिंसां तेपि मुंचंतु ॥७५॥

अन्वयार्थ—(धर्म अहिंसारूपं) धर्म अहिंसारूप है इस बातको (संशृण्वंतः अपि) भलेप्रकार जानते हैं फिर भी (ये) जो पुरुष (स्थावरहिंसां परित्यक्तुं) स्थावर हिंसाके छोड़नेमें (असहाः) असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (त्रसहिंसां मुंचंतु) त्रसहिंसाको तो छोड़ दें।

विशेषार्थ—जो पुरुष धर्मका स्वरूप ही नहीं समझते वे यदि हिंसासे नहीं बच सकें तो आश्चर्यकी बात नहीं है कारण वे उस विषयमें अज्ञानी हैं, परन्तु जो यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि–धर्मका स्वरूप अहिंसात्मक है, यदि वे भी हिंसा नहीं छोड़ सकें तो आश्चर्यकी बात है। श्रीगुरु ऐसे पुरुषोंसे जो कि धर्मका स्वरूप समझे हुए हैं प्रेरणापूर्वक आदेश करते हैं कि भाई ! यदि तुम जान बूझकर भी स्थावर हिंसाके छोड़नेमें समर्थ नहीं हो तो न सही; परन्तु त्रसहिंसा तो छोड़ दो। यदि वह भी नहीं छोड़ सकते तो तुम्हारा धर्मका सुनना सुनाना सब कुछ व्यर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् श्रावकोंको प्रयोजनसे भिन्न स्थावरहिंसा भी यथाशक्ति बचाना चाहिए परन्तु त्रसहिंसा तो उसके लिए छोड़ना आवश्यक ही है।

सामान्य और विशेषत्यागमें अन्तर

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(औत्सर्गिकी) उत्सर्गरूपी–सामान्यरूप (निवृत्तिः) त्याग (कृतकारितानुमननैः) कृत, कारित, अनुमोदनाके भेदोंसे (वाक्कायमनोभिः) वचन, काय और मनके भेदोंसे (नवधा) नौ प्रकार (इष्यते) कहा जाता है। (तु) और (एषा अपवादिकी निवृत्तिः) यह अपवादरूप त्याग (विचित्ररूपा) अनेक प्रकार कहा जाता है।

विशेषार्थ— त्याग दो भेदोंमें बांटा जाता है (१) जो त्याग मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना–अर्थात् किसी कार्यको मनसे वचनसे कायसे स्वयं करना, दूसरोंसे कराना, करते हुएकी प्रशंसा आदि करना, इन नौ प्रकारोंसे किया जाता है वह उत्सर्गत्याग कहा जाता है। उत्सर्ग त्याग सर्वथात्याग, सामान्यत्याग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। परंतु जो त्याग इन नव भेदोंमेंसे किसी एक वा अनेक भेदोंसे किया जाता है वह अपवादत्याग कहा जाता है। अपवादत्याग, विशेषत्याग, आंशिकत्याग आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिसप्रकार चारित्रधारियोंके मुनि और श्रावक ऐसे दो भेद हैं उसीप्रकार त्यागके भी सर्वथात्याग और एकदेशत्याग ऐसे दो भेद हैं। मुनिमहाराज तो महाव्रतके धारक हैं इसलिए वे तो प्रत्येक पापाचारका सर्वथात्याग करते हैं परंतु गृहस्थ अणुव्रती है तथा अव्रती पाक्षिक भी है, इसलिये वह यथाशक्ति अनेकरूपसे थोड़ा थोड़ा त्याग करता है। कोई कायसे त्याग करता है मन वचनसे नहीं करता, कोई वचनसे भी त्याग कर देता है, कोई तीनोंसे त्याग करता है परंतु स्वयं करता है दूसरोंसे उस छोड़ने योग्य विषयका आरंभ कराता है, कोई किसी दूसरेको कोई पापाचार करते हुये देखकर स्वयं उसका त्यागी होनेपर भी उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसा करता है इत्यादि अपवादत्यागके अनेक भेद प्रभेद हैं। जिस जातिका जिसने त्याग किया है अर्थात् नव भेदोंसे जिसने जिस भेदसे जिस वस्तुका त्याग किया है उसे उसपर दृढ़ रहकर आगेके भेदोंके त्यागके लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

निरर्थक स्थावरहिंसा भी त्याज्य है।

स्तोकैकेंद्रियघाताद् गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणां।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयं॥ ७७॥

अन्वयार्थ – [संपन्नयोग्यविषयाणां] इंद्रिय विषयोंको न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [गृहिणां] गृहस्थोंको [स्तोकैकेंद्रियघातात्] अन्य एकेंद्रियके घातके सिवा [शेषस्थावर-मारणविरमणं अपि] बाकीके स्थावर जीवोंके मारनेका त्याग भी [करणीयं भवति] करना योग्य है।

विशेषार्थ – यह बात तो निश्चित है कि गृहस्थ स्थावरहिंसासे सर्वथा नहीं बच सकता, कारण कि गृहस्थाश्रममें आरम्भोंका होना अनिवार है, जहां आरम्भ है वहां हिंसाका होना भी अनिवार है। परन्तु विवेकी गृहस्थ प्रयोजनीभूत स्थावरहिंसा तो करता ही है उसके लिये उसका त्याग होना अशक्य है। बिना मुनिपद ग्रहण किए वह हिंसा छूट नहीं सकती। परन्तु प्रयोजनके सिवा बाकी अनावश्यक कार्योंसे होनेवाली स्थावरहिंसा को वह छोड़ देता है और यथाशक्ति परिमित न्यायानुसार विषयोंका ग्रहण करता है। ऐसे विवेकी गृहस्थके लिये आचार्य उपदेश देते हैं कि—न्याया-नुसार परिमित आवश्यक विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले गृहस्थसे यद्यपि अन्य अविवेकी अपरिमित एवं अनावश्यक विषयसेवी गृहस्थकी अपेक्षा बहुत कम स्थावरहिंसा होती है फिर भी उसे शेष स्थावर जीवोंकी हिंसाका विचारपूर्वक त्याग कर देना चाहिये अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे जो स्थावरहिंसा होती है उसका परित्याग तो वह कर नहीं सकता परन्तु जो स्थावरहिंसा असावधानीसे अनेक व्यर्थ प्रवृत्तिसे होती है उसे अवश्य छोड़ देना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसापालकोंको दृढ़ रहना चाहिये ।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य वालिशानामसमंजसमाकुलैर्न भवितव्यं ॥७८॥

अन्वयार्थ – (अमृतत्वहेतुभूतं) अमृतपनेका कारणभूत–नहीं मरनेका कारणस्वरूप (परमं) उत्कृष्ट (अहिंसारसायनं) अहिंसारूपी रसायनको (लब्ध्वा) पाकर (वालिशानां) मूर्खोंके (असमंजसं) अयोग्य अथवा प्रतिकूल वर्तावको (अवलोक्य) देखकर (आकुलैः) व्याकुल (न भवितव्यं) नहीं होना चाहिये ।

विशेषार्थ – अहिंसाधर्मका पालना एक प्रकारकी रसायन है । जैसे रसायनका सेवन करनेवाला चिरजीवी बन जाता है उसीप्रकार इस अहिंसारूपी रसायनका सेवन करनेवाला सदाके लिये अजर अमर हो जाता है अर्थात् अहिंसाधर्मको उत्कृष्टरीतिसे पालनेवालोंको मोक्षसिद्धि हो जाती है । ऐसे महान् श्रेष्ठ अहिंसाधर्मको पाकर प्रत्येक बुद्धिमानको चाहिये कि वह सदा उसके यत्नाचारपूर्वक पालनेमें दृढ़ रहे, तथा प्रतिकूल प्रवृत्ति देखकर किसी प्रकार चित्तमें व्याकुलता अथवा संशयालु प्रवृत्ति न लावे । संसारमें यह भी देखनेमें आता है कि अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाले भी सुखी और ज्ञानवान पाये जाते हैं और अहिंसाधर्मके सेवन करनेवाले दुःखी भी पाये जाते हैं । अनेक अहिंसा धर्मके पालक कृशशरीर और रोगी भी देखनेमें आते हैं परंतु हिंसा करनेवाले और जीवोंके शरीरपिण्डको भक्षण करनेवाले कोई कोई पुष्टशरीर और निरोगी भी पाये जाते हैं । ऐसी अवस्थामें बहुतसे मूर्ख उस हिंसारूप अधर्मकी पुष्टि करते हैं । जो कुछ लाभ उन्हें पूर्वपुण्यके उदय से मिल रहा है वह सब वे हिंसाके करनेसे बतलाते हैं । इसप्रकारकी विपरीत प्रवृत्ति कुछ मूर्खोंकी देखकर बुद्धिमान पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे चित्तमें यह संशयभाव कभी न लावें कि शायद हिंसासे ज्ञान विकसित होता हो तथा शरीरकी पुष्टि और निरोगता भी उसीसे होती हो । ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संशय करना अज्ञानताका ही सूचक है। वास्तवमें विचार किया जाय तो हिंसा करनेवाला कभी ज्ञानवान एवं विवेकी नहीं बन सकता है, कारण कि जो क्षमाशील आत्माको मलिन तथा क्रूर बना चुका है वह थोड़ेसे ज्ञानके क्षयोपशमको भी नष्ट कर देता है। विना सात्विकभावोंके विशेष ज्ञानकी वृद्धि नहीं हो सकती। जिनकी मांसादिक पदार्थों के भक्षणमें प्रवृत्ति है फिर भी जो विशेष बुद्धिमान देखे जाते हैं सो वह बुद्धिमत्ता आत्माको सुखी बनानेवाली नहीं है, वैसे ज्ञानसे सिवा अनर्थकारी प्रयोगों के कभी उत्तम बात नहीं सूझ सकती इसलिये उस ज्ञानको कुमतिज्ञान का विकाश कहा जाता है और अपना तथा परका कल्याण सुमतिके बिना हो नहीं सकता इसलिये वैसे ज्ञानसे सात्विकपरिणामी मंदज्ञानी उत्तम है और न हिंसा करनेवाला पुष्टशरीरी और निरोगी ही रह सकता है। जो पुष्टता उत्तम उत्तम फलोंके सेवनसे घी दूध बादाम आदि उत्तम उत्तम पदार्थों के सेवनसे आती है वह मांसादि विकारी पदार्थों के सेवनसे कभी नहीं आ सकती। ऊपरसे शरीर भले ही स्थूल हो जाये परन्तु मांसादि अभक्ष्य भक्षण करनेवालोंके शरीरमें अनेक विकार और मलोंका संचय होता रहता है, उससे उन्हें दमा श्वास रुधिरविकार आदि बीमारियोंका घर बनना पड़ता है। इसलिये अहिंसा पालन करनेवालोंको पापमें लिप्त जीवोंकी अवस्थाओंको देखकर थोड़ा भी स्वधर्मसे विचलित एवं संशयालु नहीं होना चाहिये किन्तु दृढ़ रहकर उत्तरोत्तर उस अहिंसात्मक पवित्र धर्मकी वृद्धि कर आत्म उन्नतिके साथ साथ पर रक्षणव्रतकी पूर्णता तक पहुंचना चाहिये।

धर्मार्थ हिंसा भी पाप है

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

अन्वयार्थ—(भगवद्धर्मः सूक्ष्मः) ईश्वरका बताया हुआ धर्म सूक्ष्म है (धर्मार्थं हिंसने) धर्मके लिए हिंसा करनेमें (न दोषः अस्ति) दोष नहीं है (इति) इसप्रकार (धर्ममुग्धहृदयैः)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्ममें मूढ़ बुद्धि रखनेवाले हृदयसहित (भूत्वा) बनकर (जातु) कभी (शरीरिणः) प्राणी (न हिंस्याः) नहीं मारने चाहिये।

विशेषार्थ—संसारमें अनेक अज्ञानी मनुष्य पापमें ही धर्म मान बैठे हैं। ऐसे लोगोंको मार्ग बतानेवाले उनके शास्त्र बतलाते हैं कि ईश्वरने जो धर्मका व्याख्यान किया है वह अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए धर्मके लिए जो जीवोंकी हिंसा होती है उसमें कोई दोष नहीं है। हिंसामें दोष क्यों नहीं है इसका उत्तर वे लोग कुछ नहीं दे सकते। केवल इतना ही कहते हैं कि धर्मका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे कुछ नहीं जाना जा सकता कि हिंसामें धर्म क्यों है ? इसप्रकार वे धर्मसेवनमें मूढ़ बनकर अनेक जीवोंका अपने ईश्वरके नामपर वध करते हैं। यज्ञोंमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पशुओंको बुरी तरह होम देते हैं, देवताओंके नामपर पशुओंकी बलियां चढ़ाते हैं, अनेक मार्गोंसे तीव्र हिंसा करते हैं. फिर भी दुष्ट धर्म कहकर उस जीवसंहारसे पुण्य समझते हैं। परन्तु उनकी ऐसी समझ अत्यन्त विपरीत और खोटी है जीवोंकी हिंसा करनेमें कभी धर्म नहीं हो सकता। जिस जीवको धर्मके नामसे मारा जाता है उसको कितना तीव्र दुःख होता है यह बात किसीसे छिपी नहीं है, तो क्या किसी जीवको मरणवेदनाका कष्ट पहुंचाना भी कभी पुण्यबंधका कारण हो सकता है, वह तो नितांत अधर्म है, जीवोंका घात करनेवाला कषायी है, वह नरकगामी है। यह बात भी कुबुद्धिधारक पुरुषोंने मिथ्या ही मान रक्खी है कि—धर्म सूक्ष्म है, उसका पता नहीं लग सकता। जिस धर्मकी परीक्षा प्रमाण और युक्ति द्वारा सिद्ध न हो उसे बुद्धिमान पुरुषों को कदापि नहीं स्वीकार करना चाहिये। जो धर्म स्वानुभाव, युक्ति, आगम इनसे दूर हो तो उस धर्म को किसप्रकार धर्म कहा जा सकता है ? इसलिये विद्वानोंको उचित है कि धर्मका स्वरूप समझकर ही उसे धारण करें। धर्म अहिंसामय है, दयामय है। हिंसा और अदयाभाव उससे सर्वथा विपरीत—अधर्म है। इसलिये यज्ञादिकोंमें धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझकर जो लोग पशुओंका प्राणबध करते हैं, वे साक्षात् अधर्मी हैं, पापी हैं, निर्दयी हैं। इसप्रकार समझकर धर्मके विषयमें मूढ़बुद्धि बनना महा मूर्खता है, ऐसी मूर्खता धारणकर पशुओं की हिंसा करना कभी भी किसीको उचित नहीं है।

और भी

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वं।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (धर्मः) धर्म (देवताभ्यः) देवताओं से (प्रभवति) पैदा होता है इसलिये (ताभ्यः) उनके लिये (इह) इस लोकमें (सर्वं) सब कुछ (प्रदेयं) दे देना चाहिये (इति) इस प्रकार (दुर्विवेककलितां) अविवेकपूर्ण (धिषणां) कुबुद्धिको (प्राप्य) पाकरके (देहिनः) प्राणी (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिये।

विशेषार्थ—धर्मके प्रणेता देवता हैं इसलिए उनके लिये मांसादि देनेमें भी कोई दोष नहीं हैं, ऐसी खोटी बुद्धि धारण करके प्राणियोंका बध करना उचित नहीं है। लोकमें किसी अतिथिके लिये भी मांस सरीखा महा निकृष्ट एवं घृणित पदार्थ भेंट नहीं किया जाता। किसी राजामहाराजा की भेंटमें भी कोई ऐसी बुरी वस्तु नहीं देता तो क्या देवताओं की भेंटमें ऐसी अपवित्र अतएव अस्पृश्य वस्तु देनी चाहिये, कभी नहीं। जो लोग धर्मके नाम पर देवताओंके बहानेसे पशुबध करते हैं वे महा मूर्ख हैं।

अथितिके लिये भी प्राणिघात करना पाप है

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोपि दोषेस्ति।
इति संप्रधार्यं कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनं ॥८१॥

अन्वयार्थ—([1]पूज्यनिमित्तं) पूज्य पुरुषोंके निमित्त (छागादीनां) बकरा आदिके

१. 'उत्तररामचरित' सनातनधर्मावलंबियोंका काव्यग्रन्थ है, उसके प्रणेता उन्हींके महान् कवि भवभूति हुये हैं। उन्होंने रामचरित में प्रगट किया है कि 'एक ऋषि जिसके यहाँ अथिति हुए थे उसने सत्कारार्थ बछियाकी हिंसा की और आगंतुक ऋषिने मांसाहार किया' इस प्रकार पशुहिंसा और मांस भक्षणकी आज्ञा देने वाले तथा ऐसी नीच राक्षसी प्रवृत्ति करने वाले ऋषि नामधारियोंके विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घाते) मारने में (न कोपि दोषः अस्ति) कोई दोष नहीं है (इति) इस प्रकार (संप्रधार्य) निश्चय करके (अतिथये) अतिथिके लिये (सत्त्वसंज्ञपनं) प्राणियों की हिंसा (न कार्य) नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंने यह भी धर्म समझ लिया है कि यदि घरमें कोई अतिथि अथवा शिष्टपुरुष आवे तो उसके लिये पशुबध करनेमें कोई दोष नहीं है। परन्तु यह बात उन्हीं लोगोंकी मानी हुई है जो कि हिंसा में धर्म माने हुए हैं और स्वयं मांसाहारी हैं। मांसाहारियोंके अतिथि भी मांसाहारी ही प्रायः होते हैं अन्यथा अतिथिके लिए पशुबध करके मांस तैयार करना फलाहारियोंका काम नहीं है। जिस अतिथिके लिये मांसाहार दिया जायेगा वह अतिथि कभी शिष्ट एवं मनुष्यताके व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता; किन्तु राक्षसवृत्तिवाला है। इसीलिए ऐसे अतिथि मांसाहारियोंके यहां पहुंचकर अपनी तृष्णाको पूर्ण करते हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो यह सब तीव्र अधर्म है, किसी भी बुद्धिमानको ऐसी अधर्ममय प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए।

और भी खोटी समझ

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्वघातोत्थं ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अन्वयार्थ—[बहुसत्त्वघातजनितात्] बहुतसे प्राणियोंके घात करनेसे तैयार होनेवाले [अशनात्] भोजनसे [एकसत्त्वघातोत्थं] एक प्राणीके घातसे उत्पन्न भोजन [वरं] श्रेष्ठ है [इति] इसप्रकार [आकलय्य] विचार करके [महासत्त्वस्य] एक विशाल त्रस प्राणी की [हिंसनं] हिंसा [जातु] कभी [न कार्यं] नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ—जिन लोगोंका यह मत है कि भोजनमें अनेक स्थावर जीव मर जाते हैं इसलिये उनकी अपेक्षा एक बड़े पशुको मारकर खा लेनेमें उतना दोष नहीं है। वे बहुत खोटी समझ रखते हैं, कारण हिंसा द्रव्यप्राण और भावप्राणोंके नष्ट करनेसे होती है। जिस जीवके जितने ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक प्राण नष्ट किये जांयगे उतनी ही अधिक हिंसा उसके मारनेवाले को लगेगी। स्थावर जीवकी अपेक्षा द्वींद्रिय आदिमें क्रमसे अधिक प्राण होते हैं इसलिये उनके वध करनेमें अनंतगुणित पाप भी बढ़ता जाता है। इसलिए वनस्पतिमें रहनेवाले जीवकी अपेक्षा जबकि द्वींद्रिय शंखमें और त्रींद्रिय चिंउटी आदिमें बहुत अधिक हिंसा है तो पंचेंद्रिय संज्ञी पशुके घात करनेमें तो महान् पाप है। दूसरे एकेंद्रिय जीवका अन्न वनस्पति आदिसे भिन्न कोई शरीर नहीं है और न उसके संहनन है अतएव उसके रुधिर मांस हड्डी आदि भी नहीं है। इसलिये अन्न वनस्पतिके भक्षण में मांसका दोष नहीं लगता है। परन्तु त्रस जीवोंके भक्षणमें मांस भक्षण है कारण उनके संहनन होनेसे मांस रुधिर मज्जा हड्डी आदि सभी शरीरपिंड हैं। शरीरपिंडका भक्षण ही मांसभक्षण है। एकेंद्रियके उस पदार्थसे भिन्न कोई शरीरपिंड नहीं होता। तीसरे यह हेतु भी अकिंचित्कार—व्यर्थ है कि प्राणवध एकेंद्रियमें भी है और पंचेंद्रियमें भी है इसलिये दोनोंका भक्षण समान है, कारण न तो प्राणिवध दोनोंमें समान है और न रागक्रिया समान है। एकेंद्रियका प्राणिवध अशक्यानुष्ठान-वश सुतरां होता है उसके लिये हिंसा करनेके भाव भी नहीं होते; किंतु आरम्भमात्रमें एकेंद्रियका विघात है इसलिये वहांपर संकल्पीहिंसा नहीं है परन्तु पंचेंद्रियके घातमें संकल्पीहिंसा है वहां एक जीवका जान बूझकर वध किया जाता है इसलिये उसके मारनेमें तीव्र रागक्रिया है वह अनन्त पापबंध करनेवाली है। एकेंद्रियका विघात सुतरां होता है इसलिये वहां न संकल्पी हिंसा है और न तीव्रराग ही है। एकेन्द्रियका विघात तो स्वयं होता है, पंचेंद्रियका विघात प्रयोग एवं विचारपूर्वक किया जाता है। इसीलिये वह संकल्पी हिंसा है। अतएव दोनोंमें प्राणवध भी समान नहीं है। एकमें रागकी तीव्रता है एकमें उसके लिये रागभाव नहीं है, जैसे कि स्त्री माता भी है और स्त्री अपनी स्त्री भी है। दोनोंमें स्त्रीपन रहनेपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पुरुषोंको रागभाव स्वस्त्रीके सेवनमें ही होता है, माताके प्रति उसप्रकारके किसीके परिणाम भी नहीं होते इसलिये ऐसी खोटी बुद्धि नहीं रखना चाहिये कि अनेक जीवोंकी अपेक्षा एक बड़े प्राणीका वध कर लिया जाय। ऐसा करनेमें एक बात यह भी है कि जिस एक पशुका वध किया जाता है उसे तो महान् पीड़ा होती ही है परन्तु उसके वधके साथ उसके शरीरमें रहनेवाले और भी असंख्य त्रस एवं अनंत एकेंद्रिय जीव विध्वंसित हो जाते हैं और उस कलेवरके भक्षणमें और भी उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव भक्षणमें आ जाते हैं इसलिये यह सिद्धांत सर्वथा मिथ्या है कि एक प्राणीका वध किया जाय।

एकके बधमें अनेकोंकी रक्षाका विचार भी मिथ्या है

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन ।
इति मत्त्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानां ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—[अस्य] इस [एकस्य एव] एक ही हिंस्रक जीवके [जीवहरणेन] प्राण नष्ट करनेसे [बहूनां] बहुत जीवोंकी [रक्षा भवति] रक्षा होती है। [इति] इसप्रकार [मत्त्वा] मानकरके [हिंस्रसत्त्वानां] हिंसा करनेवाले प्राणियोंकी [हिंसनं न कर्तव्यं] हिंसा नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—मोटी समझ एवं कुबुद्धि रखनेवाले कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि संसारमें जितने हिंसा करनेवाले जीव हैं उन्हें मार देना चाहिये जिससे जगत्में हिंसा न हो। जैसे बिल्ली चूहों की हिंसा करती है तो एक बिल्लीके मार देनेसे बहुतसे चूहोंकी रक्षा हो जायेगी। सिंह, हिरण आदि पशुओंकी हिंसा करता है इसलिये एक सिंहके मारडालनेसे अनेक जंगलके पशुओंकी रक्षा हो जायेगी इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं। इसप्रकार कहनेवालोंको सोचना चाहिये कि तुम जीवों की रक्षा करना ही यदि लक्ष्य रखते हो तो फिर स्वयं हिंसक क्यों बनते हो ? संसारमें एक दूसरेके भक्षक अनेक हैं, तुम किस किसको मारते फिरोगे ? बिल्ली, कुत्ता, चिड़िया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बगुला, भेड़िया, सिंह, चीता, मयूर, नकुल आदि बहुतसे एक दूसरेके विरोधी और भक्षक ही हैं। ये ज्ञानहीन पशुपक्षी हैं, अपने स्वभावानुसार पापबंध करते ही रहते हैं। उन्होंने ऐसी ही नीचपर्याय पायी है जिसमें कि जीव-भक्षण अनिवार्य ही है। फिर विवेकशील, ज्ञानी एवं सदाचारी मनुष्य पर्याय पाकर तुम क्या रक्षाके बहानेसे अनेक जीवोंका बध करके स्वयं हिंसक बनते हो ? तीसरे-कहां तक तुम इसप्रकार रक्षाकर सकते हो ? एक बिल्लीको मार दोगे, दोको मार दोगे फिर भी बिल्लियोंका अस्तित्व नहीं जा सकता। इसीप्रकार अन्यान्य पशुपक्षियोंकी सर्वत्र अनेक संख्या है। और ऐसा करनेसे तुम अनेकोंकी रक्षा करके एकको मारनेवाले कहां रहे किंतु अनेकोंके मारनेवाले ठहर गये। इसलिये अनेकोंकी रक्षाके लिए एककी हिंसा करनेका महानीच तथा तीव्र पापबंधका कारण दुर्विचार बुद्धिमान पुरुषोंको करना सर्वथा अनुचित एवं त्याज्य है। यह बात आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है कि जो हिंसा करता है, दूसरेको कष्ट पहुंचाता है वही पापका भागीदार होता है। विवेकी पुरुषोंको उचित है कि अपनी शक्तिके अनुसार हरएक जीवकी रक्षाकरें, अपने द्वारा किसी प्राणीको कष्ट नहीं होने देवें और उनके द्वारा जो रक्षा आवश्यक है उसकेलिये वे प्रतिहिंसा के भाव न करें; किंतु वस्तुस्वरूप विचारकर समताभाव धारण करें। संसारमें ऐसा कोई शासन हो ही नहीं सकता है जो समस्त जीवोंके परिणामोंको अहिंसक बना डाले, जिनकी उत्पत्ति स्वभावतः क्रूरपर्यायमें होती है उनके भावोंको अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। इसी जगत्-स्वरूपके विचारसे परमदिगम्बर श्री मुनिमहाराज त्रस-स्थावर की हिंसा के बचावकेलिये देखदेखकर गमन करते हैं, पीछी कंमडलु शास्त्रजीको देखकर उठाते वा रखते हैं, हर प्रकारसे अपने शरीर द्वारा जीववध नहीं होने देते। वे संसार के जीवोंको उपदेश करते हैं। कि हिंसा करना पाप है परंतु उन्हें हिंसा करते हुए देखकर भी सामर्थ्यपूर्वक रोकनेकेलिये कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्यत नहीं हो सकते, कारण वे जगत्से परम उदासीन स्वयं आत्मरसास्वादनमें निमग्न हैं। सामर्थ्यपूर्वक दूसरोंको रोकना तो दूर रहा, वे किसीको उपदेशके सिवा आदेश नहीं भी कर सकते, यह बात उनके परमश्रेणीके वीतरागमुनिपदके विरुद्ध है। वे इसप्रकार दूसरोंके निमित्तसे कहांतक पररक्षण कर सकते हैं और उनके निमित्तसे अपने परिणामोंको सकषाय एवं साकुल बना सकते हैं? इसलिये वे ऐसे अवसरोंपर उपसर्ग समझकर मौनसे रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे वहींतक पररक्षण करते हैं जहांतक कि उनके आत्मसाधनमें किसीप्रकार न्यूनता नहीं आती। इंद्रिय और कषायमात्रको जीतनेवाले उन मुनियोंकी प्रवृत्ति केवल आत्महितसाधनकी ओर ही प्रमुखतासे झुकी रहती है, वीतराग परणतिमें उनके कभी कोई विकार नहीं आता। ऐसे वीतरागी जीवमात्र के ऊपर दयाभाव धारण करनेवाले श्रीऋषीश्वर ही कर्मबंधन काटकर मोक्ष लक्ष्मी का वरण करते हैं। इसलिये उसी उच्चादर्शके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको वहींतक परोपकार एवं पररक्षण करना उचित है जहांतक कि आत्मस्वरूपका घात न हो। यदि जीवकी रक्षाके निमित्तसे आत्मा परमदयालु स्वभावसे च्युत हो जाय अथवा उसे हिंसामें प्रवृत्त होना पड़े तो वह पररक्षण नहीं किंतु स्वात्मध्वंसन है। ऐसा समझकर सन्मार्गसे गमन करना ही बुद्धिमत्ता है।

और भी

बहुसत्त्वघातिनोमी जीवंत उपार्जयंति गुरुपापं।
इत्यनुकंपां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥८४॥

अन्वयार्थ—(अमी) ये (बहुसत्त्वघातिनः) बहुत जीवोंकी हिंसा करनेवाले हिंसक जीव (जीवंत) जीते हुए (गुरुपापं) बहुत पापको (उपार्जयंति) इकट्ठा करते हैं (इति) इस प्रकार (अनुकंपां) दयाको (कृत्वा) करके (हिंस्राः) हिंसा करनेवाले (शरीरिणः) शरीरधारी–जीव (न हिंसनीयाः) नहीं मारने चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ - कुछ लोगोंका यह भी विचार है कि ये बहुतसे प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले संसारमें जितने दिन अधिक जीते रहेंगे उतना ही अधिक पापबंध करते रहेंगे, इसलिये ये विचारे बड़े भारी पापबंधसे बच जावें इसकेलिये उन्हें अभी मार देना अच्छा है। इसप्रकार जीवोंके मारने में जो दया समझते हैं वे भारी भूल करते हैं। दया जीवोंकी रक्षामें है, न कि जीवोंकी हिंसामें, जिन जीवोंको मारा जायगा उनके प्राण अवश्य पीड़े जायेंगे और फिर उससे दया न पलकर जीवहिंसाजनित पापबंध होगा। दूसरी बात यह भी है कि जिन बहुत प्राणियोंको मारने वालों पर दया भाव धारण करके तुम उन्हें पापसे बचानेके लिए मारते हो सो ऐसा करनेसे बहुत प्राणियोंके मारने वाले तुम ही दयाके पात्र बन गये क्योंकि संसारमें असंख्य जीव एक दूसरे के हिंस्रक हैं, सभी पर दया करके सबोंको तुम मारोगे इसलिये बहुत प्राणियों के मारने वाले तुम ही दयाके पात्र ठहर गये ! इसलिये यह सिद्धांत कि 'हिंस्रक अनेक जीवोंका बध करते हैं उन्हें मार देना चाहिये' सर्वथा भूलभरा है, कारण यह दयाका स्वरूप ही नहीं है। किसी प्राणीको कष्ट न पहुंचाने के परिणामको ही दया कहते हैं। किसी जीवके मरनेमें महान् कष्ट होता है इसलिये दयालुके स्थानमें क्रूरपरिणामी हिंसक बनना उचित नहीं है। जिस जीवके जैसे भाव हैं उनके अनुसार वह पुण्य पापका बंध करता है, तुम क्यों व्यर्थ ही खोटी समझसे पापबंध के भागीदार बनते हो ?

दुःखी भी नहीं मारने चाहिये

बहुदुःखाः संज्ञपिता प्रयांति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिं।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोपि हंतव्याः ॥८५॥

अन्वयार्थ - (तु) और (बहुदुःखाः) बहुत दुःखसे सताये हुए प्राणी (संज्ञपिता) हुए (अचिरेण) जल्दी (दुःखविच्छित्तिं) दुःख नाशको (प्रयांति) पा जांयगे (इति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसप्रकार (वासनाकृपाणीं) विचाररूपी तलवारको (आदाय) लेकर (दुखिनः अपि) दुःखी जीव भी (न हंतव्याः) नहीं मारने चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंकी ऐसी भी खोटी समझ है कि जिन जीवोंको अधिक दुःख हो रहा है उन्हें अभी मार देना चाहिये जिससे कि वे तुरंत ही दुखोंसे छूट जांय। जितने दिन संसारमें ये जीते रहेंगे उतने दिन ही दुःख बने रहेंगे, अभी मार देनेसे तुरंत दुःखों से छूट जांयगे। इसप्रकार के विपरीत विचार रखनेवाले वस्तुस्वरूप एवं कर्मसिद्धांतसे सर्वथा अपरिचित हैं। उन्हें इस बातका तनिक भी पता नहीं है कि दुःख उन्हें क्यों हो रहा है और वह कब छूट सकता है? वास्तवमें वे विचार करेंगे तो उन्हें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि दुःख जीवोंको उनके ही दुष्कर्मका फल है। जिन जीवोंने जैसे जैसे खोटे कर्म किये हैं उन्हीं के अनुसार उनके अशुभ कर्मों का बंध हुआ है, वे ही कर्म उदयमें आकर उन्हें दुःख पहुंचाते हैं। जबतक वे कर्म उदयमें आते रहेंगे तबतक जीवको दुःख पहुंचाते रहेंगे, चाहे जीव बर्तमान पर्यायमें हो, चाहे मरकर दूसरी पर्यायमें चला जाय, कहीं भी क्यों न हो, कर्मों का फल उसे भोगना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्थामें उन्हें दुःखसे छुड़ानेके लिये उनको मार डालनेकी बात व्यर्थ है। प्रत्युत उसे मारनेसे उसके और भी परिणाम पीडे जांयगे इसलिये और भी वह पापबंध करेगा। इसके सिवा मारनेवाला महान् पापका बंध करके स्वयं दुःखभाजन बनेगा। इसलिये उपर्युक्त खोटी समझको छोड़ देना चाहिये। कर्मों के ऊपर किसीका शासन नहीं चल सकता। बड़े बड़े चक्रवर्ती, इंद्र तीर्थंकर सरीखे महाशक्तिधारी एवं महापुण्याधिकारी पुरुषोंको भी कर्मों ने फलकाल तक नहीं छोड़ा है फिर किसीको दुःखसे छुड़ानेके विचारसे स्वयं दुःख पहुंचानेवाला बन जाय यह महामूर्खता किसीको नहीं करना चाहिये।

सुखी भी नहीं मारने चाहिये

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवंति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमंडलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[सुखावाप्तिः] सुखकी प्राप्ति [कृच्छ्रेण 'भवति'] बड़ी कठिनतासे होती है, इसलिये [सुखिनः] सुखी जीव [हताः] मारे हुए [सुखिन एव] सुखी ही [भवंति] होते हैं [इति] इसप्रकार [तर्कमंडलाग्रः] विचाररूपी तलवार [सुखिनां घाताय] सुखी पुरुषोंके घातके लिये [न आदेयः] नहीं पकड़ना चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंकी ऐसी भी कुबुद्धि है कि संसारमें सुख जीवोंको बड़ी कठिनतासे मिलता है इसलिए सुखी जीवोंको सुखसहित अवस्थामें ही मार डालना चाहिये; जिससे कि वे मरकर दूसरी पर्यायमें भी सुखी बने रहेंगे। ऐसी मिथ्या एवं युक्तिशून्य समझ रखनेवालोंको समझ लेना चाहिये कि सुख दुःखका मिलना शुभ अशुभ कर्मों के अधीन है वह जीने या मरनेमें नहीं धरा है। जहां कहीं भी जीव रहे, कर्माधीन उसे दुःख सुख मिलेगा। यह बात मिथ्या है कि मरकर सुखी जीव सुखमें ही रहेगा, संभव है कि इस पर्यायमें उसे सुख रहा है, मरकर वह नरक या तिर्यंच-गतिमें चला जाय फिर विचारा महान् कष्टको भोगेगा। दूसरे— सबसे बड़ा कष्ट तो मरनेमें ही है, जब कि वह बिना आयु पूर्ण हुए मध्यमें हठात् मारा जा रहा है तो यह ही उसके लिये वज्र समान कष्ट है। इसलिये इसप्रकारकी कुबुद्धि धारण कर मनुष्योंको दयाके स्थानमें जीवघात कर हिंसाजनित पापके भागी नहीं बनना चाहिये।

स्वगुरुका शिरच्छेद करना भी पाप है

[1]उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥८७॥

अन्वयार्थ—[भूयसः] बहुतसे [अभ्यासात्] अभ्याससे [उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य] सुगतिका कारणभूत समाधिके सारतत्त्वको प्राप्त करनेवाले [स्वगुरोः] अपने गुरुका [शिरः] शिर [सुधर्मं अभिलषिता] श्रेष्ठ धर्मके चाहनेवाले [शिष्येण] शिष्यके द्वारा [न कर्तनीयं] नहीं काटना चाहिये।

विशेषार्थ—यह भी महामूर्खता है कि गुरुका भला हो इस बुद्धिसे समाधि

१. छपी हुई प्रतियोंमें 'उपलब्धि' पाठ है, हमारी समझमें उपलब्ध ठीक प्रतीत होता है।—टीकाकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानमें बैठे हुए गुरुका शिर काट देना। समाधिमें बैठा हुआ यदि मार दिया जायगा तो वह इस शुभ कार्यसे अवश्य ही सुगतिको चला जायगा, ऐसी बुद्धि रखकर गुरुके लिये कृतज्ञता प्रगट करनेवाला एवं उसकी भलाई चाहनेवाला शिष्य यदि गुरुका प्राणहरण करता है तो उसकी बराबर कोई अज्ञानी नहीं हैं। ध्यानके द्वारा शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध करनेवाले गुरुको प्राणदंड देकर उसके परिणामोंको कलुषित बनाकर बिना कारण उसे पापबंध कराता है और स्वयं भी गुरुकी गुरुतम (बड़ीभारी) हिंसा करके पापबंध करता है। सच तो यह है कि बिना विवेकके मनुष्य उसीप्रकार उपकारके बदले अपकार कर डालता है जिसप्रकार कि सोते हुये राजाकी रक्षामें नियुक्त मूर्ख पुरुष राजाकी नाकपर बैठी हुई मक्खीको उड़ता न देखकर राजाकी भलाईके लिये तलवारसे उसकी नाक काट डालता है। इसीप्रकार अनेक जीव संसारमें अपनी अज्ञानतासे पुण्यके बदले पाप कमा रहे हैं, कुमार्गको सुमार्ग समझ रहे हैं।

खारपटिकोंका मत

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानां ॥८८॥

अन्वयार्थ—[धनलवपिपासितानां] धनके प्यासे [विनेयविश्वासनाय] शिष्योंको विश्वास दिलानेके लिए [झटिति घटचटकमोक्षं] शीघ्र ही घटके फूटनेसे उड़ने वाली चिड़ियाके समान मोक्षको [दर्शयतां] दिखानेवाले [खारपटिकानां] धूर्त-ढोंगी-गेरुआ आदि वस्त्र पहनकर झूंठाभेष धारण करनेवाले पुरुषोंका मत [नैव श्रद्धेयं] नहीं मानना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस प्रकार घड़ेमें बैठी हुई चिड़िया घड़ेके फोड़ देनेसे तत्काल उड़ जाती है उसीप्रकार जीवको मार देनेसे तुरंत ही उसकी मोक्ष हो जाती है। इसप्रकार झूंठी झूंठी बातें कहकर अपने अनुयायियोंको झूठा विश्वास दिलानेवाले बनावटी भेष धारणकर संसार को ठगते फिरते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे लोग पहले बनारस आदि वैष्णवोंके तीर्थोंमें अधिक पाये जाते थे। जहां कोई तीर्थ भक्त वहां पहुंचा, झट उन्होंने अपने चुंगलमें उसे फंसाया। वे उसे "काश्यां मरणान्मुक्तिः" काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है, यह सिद्धांत समझाकर करौंत (आरे)के नीचे उसका सिररख देते थे, सब धन उसकालेकर उसे खुशी खुशी परलोक पहुंचा देते थे। ऐसे परलोक पहुंचानेवाले अनेक स्थान आजकल बंद करा दिये गये हैं। अब ऐसी पृथा खुलेरूपमें कहीं देखनेमें नहीं पाई जाती। ऐसे धूर्तलोग केवल धनके लोभसे मनुष्योंके मारनेमें कुछ भी संकोच नहीं करते थे और इन लोगोंके विश्वासमें आया हुआ भक्त मनुष्य भी खुशी से प्राण देनेमें जीवनका महत्व समझता था। समझदार पुरुषोंको ऐसे हिंसामय मायाचार पूर्ण अधर्मसे बचना चाहिये।

भूखेको भी मांसदान देना पाप है

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायांतं।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥ ८९॥

अन्वयार्थ—(च) और (अशनाय) भोजनके लिये (पुरस्तात्) सामने (आयांतं) आते हुए (परं) किसी (क्षामकुक्षिं) भूखे जीवको (दृष्ट्वा) देखकर (निजमांसदानरभसात्) अपना मांस देकर (आत्मा अपि) अपनी भी (न आलभनीयः) हिंसा नहीं करनी चाहिए।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि जो मांसभक्षी जीव हैं उसको भूखा देखकर अपना मांसतक दे देना चाहिये इसीके निषेधार्थ आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि कोई भूखा सामने आकर अपने खानेके लिये मांसकी याचना करे तो उसे अपने शरीरका मांस देकर अपने आत्मा को नहीं ठगना चाहिये कारण दयाका लक्षण वही है जिसमें निज परके परिणामोंकी रक्षा हो। वह भूखा भी दयापात्र नहीं कहा जा सकता जो अनंतजीवोंका पिंडस्वरूप मांस जैसी घृणितवस्तु खानेके लिए तैयार है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और न वह दयालु ही कहा जा सकता है जो कि निज शरीरका मांस देकर अपने परिणामोंको कलुषित बनाता है और दूसरेके आत्माको पापमय प्रवृत्तिमें लगाता है इसलिये इसप्रकार किसी भूखेको भी मांसादि अभक्ष्य-पदार्थ कभी नहीं देना चाहिये और न किसीप्रकार धर्मके निमित्त आत्म-घातमें प्रवृत्त होना चाहिए, आत्मघातके बराबर कोई दूसरा पाप नहीं है।

जिनमतसेवी कभी हिंसा नहीं करते

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(नयभंगविशारदान्) वस्तुधर्मोंकी अपेक्षाको अच्छीतरह जाननेवाले (गुरून्) जैनगुरुओंकी (उपास्य) उपासना—पूजा करके (विदितजिनमतरहस्यः) जिनमतके रहस्यको समझनेवाला अतएव (विशुद्धमतिः) निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाला (अहिंसां श्रयन्) अहिंसातत्त्वपर आरूढ़ रहनेवाला (को नाम) कौन पुरुष (मोहं विशति) मोहको प्राप्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं होता।

विशेषार्थ—जिसने जैन गुरुओंके पास रहकर अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्रोंद्वारा जिनमतको अच्छी तरह समझ लिया है वह नियमसे निर्मल बुद्धिवाला बन जाता है और अहिंसातत्त्वपर अच्छीतरह आरूढ़ हो जाता है। वह पुरुष ऊपर बताये हुए हिंसामय कुकृत्योंमें कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता। हिंसामें धर्म अथवा दया बतानेवाले पुरुषोंका प्रभाव उस अहिंसातत्त्वसेवीकी आत्मापर तनिक भी नही पड़ सकता।

(इसप्रकार ४८ श्लोकोंमें अहिंसातत्त्वनिरूपण समाप्त हुआ)

असत्यका लक्षण

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः संति चत्वारः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (किं अपि) कुछ भी (प्रमादयोगात्) प्रमादके योगसे (इदं) यह (असत् अभिधानं) असत्य कथन (विधीयते) कहा जाता है (तत्) वह (अनृतं) असत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(विज्ञेयं) जानना चाहिये (तद्भेदाः अपि) उस असत्यके भेद भी (चत्वारः) चार (संति) हैं।

विशेषार्थ—जो वचन प्रमादपूर्वक अर्थात् सकषायभावोंसे कुछका कुछ कहा जाता है वही झूंठके नामसे प्रसिद्ध है। इस श्लोकमें दिये गये 'प्रमादयोगात्' पदसे यह बात सिद्ध होती है कि केवल कुछका कुछ कहना झूठमें शामिल नहीं है किंतु सकषायपरिणामोंसे अन्यथा कहना झूठमें शामिल है। जहांपर परिणामोंमें किसी प्रकारका सकषायभाव अथवा अन्य विकारभाव नहीं है वहां यदि कोई बात अन्यथा भी कही जाय तो झूठ नहीं समझा जाता। परन्तु जहां सदभिप्राय नहीं है वहां यदि अन्यथा बोला जाता है तो वह झूठ है। सिद्धांतकारोंने झूठका लक्षण यह भी कहा है कि जो वाक्य दूसरे जीवोंको पीड़ा देनेवाला हो वह सब झूठ है। इस लक्षणसे जो बात सत्य भी हो और उससे दूसरे जीवोंको कष्ट पहुंचता हो एवं कष्ट पहुंचानेका लक्ष्य रखकर ही प्रयोग करनेवाले ने उसका प्रयोग किया हो तो वह सत्यबात भी झूठमें शामिल है। इसी-प्रकारसे जो बात झूठ भी है परन्तु बिना किसी छलके दूसरोंके हितका ध्यान रखकर सदभिप्रायसे कही गयी है तो वह भी सत्यमें शामिल है। इसीबातको असत्यवचनके चार भेदोंसे प्रगट किया गया है।

एक प्रकारका असत्य वचन

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(स्वक्षेत्रकालभावैः) अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे (सदपि) विद्यमान भी (वस्तु) वस्तु (यस्मिन्) जिस वचनमें (निषिद्धयते) निषिद्ध की जाती है (तत्) वह (प्रथमं) पहला (असत्यं) असत्य है। (यथा) जैसे (अत्र) यहांपर (देवदत्तः-नास्ति) देवदत्त नहीं है।

विशेषार्थ—जगत्में समस्त पदार्थ अपने स्वरूपसे सत्ता रखते हैं, परस्व-रूपकी अपेक्षासे कोई पदार्थ अपनी सत्ता नहीं रखता। यह एक मानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई बात है कि जिसका जो स्वरूप होगा उसी स्वरूपसे वह होगा, परस्वरूपसे पर होगा । इसीका नाम स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव है । प्रत्येक वस्तुका द्रव्य क्षेत्र काल भाव जुदा जुदा है । यदि एक हो तो सब वस्तुओंमें कोई भेद न रहे, वे सब एक हो जांय ।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव क्या पदार्थ है ? इसका संक्षिप्त खुलासा इसप्रकार है । जिन प्रदेश अथवा परमाणुओंका पिंड वह वस्तु है वे प्रदेश अथवा परमाणुपिंड ही उस वस्तुका द्रव्य है । खंडकल्पनाकी अपेक्षा जितने आकाशप्रदेशोंको वस्तुके प्रदेशोंने घेर लिया है वे वस्तुप्रदेश ही वस्तुके निजक्षेत्र हैं । उन वस्तुप्रदेशोंमें होनेवाला कालकृत प्रतिक्षण परिणमन है वही उस वस्तुका काल है और उस वस्तुमें रहनेवाले जो गुणधर्म हैं वे ही उस वस्तुके भाव हैं । इन चारोंपर विचार करनेसे इस बातका स्पष्टीकरण हो जाता है कि वस्तुका जो कुछ स्व-स्वरूप है वह उसीका गुण, पर्याय और प्रदेशपिंड है, उससे भिन्न वस्तुका स्व-स्वरूप कुछ नहीं है । इसलिये प्रत्येक वस्तु निजधर्म और निजप्रदेशपिंडसे सत्ता रखती है । इस श्लोकमें 'स्व' पदसे द्रव्यका ग्रहण किया गया है । जो वस्तु अपने स्वरूपसे उपस्थित भी है फिर किसीके पूछनेपर कह देना कि वह नहीं है तो यह झूठ वचन है । जैसे देवदत्त घरमें मौजूद है परन्तु किसीने बाहरसे पूछा कि देवदत्त है ? उत्तरमें घरसे कोई जबाब दे देवे कि वह यहांपर नहीं है तो यह असत्य वचन है । इसमें उपस्थित वस्तुका अपलाप किया गया है ।

दूसरे प्रकारका असत्य

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः ॥९३॥

अन्वयार्थ—[यत्र] जिस वचनमें [असत् अपि वस्तुरूपं] अविद्यमान भी वस्तुस्वरूप **तैः परक्षेत्रकालभावैः**] उन भिन्नक्षेत्र भिन्नकाल भिन्नभावोंद्वारा [उद्भाव्यते] कहा जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[तत् द्वितीयं अनृतं] वह दूसरे प्रकारका झूठ है [यथा अस्मिन् घटः अस्ति] जिसप्रकार इस जगह घट है।

विशेषार्थ—जहांपर जो वस्तु नहीं है वहांपर उसे बतलाना यह दूसरा असत्यका भेद है। जिस जगह घड़ा नहीं रक्खा है किसीके यह पूछनेपर कि इस जगह घड़ा है या नहीं? यह उत्तर देना कि इस जगह घड़ा रक्खा है। यह दूसरे प्रकारका झूठ है।

तीसरे प्रकारका झूठ

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥९४॥

अन्वयार्थ—[यस्मिन्] जिस वचनमें [स्वरूपात् वस्तु सत् अपि] अपने स्वरूपसे वस्तु उपस्थित है तो भी [पररूपेण अभिधीयते] परस्वरूपसे कहा जाता है [इदं तृतीयं अनृत विज्ञेयं] यह झूठका तीसरा भेद समझना चाहिये [यथा गौ अश्वः इति] जिसप्रकार गौको घोड़ा कह देना।

विशेषार्थ- प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे ही अपनी सत्ता रखती है, पर-स्वरूपसे वह अपनी सत्ता नहीं रखती, फिर भी किसी वस्तुको परस्वरूप से कहना भी झूठ है। जैसे घरमें गौ बैठी हुई है, किसीके पूछनेपर उत्तरमें कहना कि हमारे घरमें घोड़ा बैठा हुआ है। इस वचनमें वस्तुका सद्भाव तो स्वीकार किया गया है परन्तु अन्यका अन्यरूप कहा गया है। गौ सदा अपने गोत्वस्वरूपसे ही कही जा सकती है क्योंकि गोत्व ही उसका निजरूप है, वह घोड़ारूपसे नहीं कही जा सकती। क्योंकि घोड़ा अपने घोटकत्वधर्म से कहा जाता है अर्थात् जो सवारी ले जानेवाला, युद्धमें काम आनेवाले, सींगरहित गदहा आदि पशुओंसे भिन्न घोड़ा संज्ञावाला प्रसिद्ध पशु है, वही घोड़ा कहा जाता है। लोकमें गौ भी प्रसिद्ध है, गौको गौ कहना घोड़ेको घोड़ा कहना यह सत्य वचन है। इस कथनमें वस्तुस्वरूप ज्योंका त्यों कहा गया है परन्तु गौको घोड़ा बतलाना अथवा घोड़ेको गौ बतलाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह असत्य वचन है। जो जिसका स्वरूप नहीं है वह परस्वरूपसे इस वचनमें कहा गया है। यह तीसरे प्रकारका झूठका भेद है।

चौथे प्रकारका असत्य

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

अन्वयार्थ—[यत् वचनरूपं] जो वचनस्वरूप [गर्हितं] निंदनीय [अवद्यसंयुतं] दोष-सहित [अपि अप्रियं] और अप्रिय-कठोर [भवति] होता है [इति] इसप्रकार [इदं] यह [तुरीय] चौथा [अनृतं] झूठ [सामान्येन] सामान्यरीतिसे [त्रेधा] तीन प्रकार [मतं] माना गया है।

विशेषार्थ—जो वचन निंदनीय शब्दोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठमें शामिल है। जो वचन दोष सहित वचनोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठ वचन है। जो वचन कठोर शब्दोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठ में शामिल है। कारण निंदनीय दुष्ट और कठोर वचनोंसे दूसरे पुरुषोंकी आत्मामें दुःख होता है और अपनी आत्मामें भी उनसे क्षोभ पैदा होता है; इसलिए जिन वचनोंसे अपनी और दूसरोंकी आत्माओंको कष्ट पहुंचता हो वे वचन सब झूठमें शामिल किए जाते हैं। यहांपर यह शंका की जा सकती है कि अनेक कठोर वचन ऐसे भी बोले जाते हैं जो सत्यरूप हैं, वे झूठमें कैसे शामिल किए जा सकते हैं? उत्तरमें यह कहना पर्याप्त है कि चाहे सत्य भी हैं परन्तु उन वचनोंसे अपने और परके आत्मामें पीड़ा तो होती है, पीड़ाका होना ही भावोंका वध है, इसलिए कठोरवचन सत्य होनेपर भी झूठमें शामिल हैं। परन्तु इतनी बात यहांपर ध्यानमें रखने की है कि जैन सिद्धांकारोंने सर्वत्र प्रमादसहित वचनोंको ही झूठमें सामिल किया है जिन वचनोंमें प्रमादयोग नहीं है वे झूठमें शामिल नहीं किए जा सकते। जैसे गुरु पढ़ाते समय शिष्य पर पाठ ठीक करनेके लिए सद्बुद्धि से कठोर वचन कहता है अथवा कोई मुनिमहाराज किसी अव्रतीसे पाप छुड़ानेके उद्देश्यसे कठोरवचनोंमें पापोंकी समालोचना करते हों तो वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब कथन झूठमें शामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि गुरु अथवा मुनि-महाराजके वचनोंमें प्रमादयोग नहीं है। सकषाय परिणामोंसे उन्होंने वे वचन नहीं कहे हैं किन्तु उन जीवोंको सन्मार्गपर लानेके लिये ही कहे हैं। इसलिये जिस कठोर वचनमें प्रमादयोग हो वह सत्यवचन भी असत्य में शामिल है और जहां प्रमादयोग नहीं है वह कठोर वचन भी असत्य नहीं कहा जा सकता। अब निंदनीय अवद्यसहित और कठोरवचन कौन कहलाते हैं इसीबातका नीचे लिखे श्लोकों द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता है।

गर्हित वचन

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितं ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—[पैशून्यहासगर्भं] पिशुनपना अर्थात् चुगलखोरी दूसरोंकी झूंठी सांची बुराई करना हंसी सहित वचन बोलना [कर्कशं] क्रोधपूर्ण दूसरेके तिरस्कार करनेवाले वचन बोलना [असमंजसं] कुछका कुछ असंबद्ध बोलना [प्रलपितं च] जिन वचनोंका कोई उपयुक्त अर्थ नहीं है ऐसे निरर्थक एवं निःसार वचनोंका बोलना [अन्यत् अपि यत् उत्सूत्रं] और भी जो वचन भगवत् आज्ञासे विरुद्ध- जिनागमकथित सूत्रोंके आज्ञायोंसे विरुद्ध है [तत्सर्वं] वह सब वचन [गर्हितं] निंद्य [गदितं] कहा गया है।

विशेषार्थ—जो लोग दूसरोंकी झूंठी सांची बुराई किया करते हैं वे सब झूठ बोलनेवाले हैं, कारण झूठी बुराईसे तो दूसरेके परिणामोंमें दुःख पहुंचानेसे उसकी भावहिंसा होती है। परन्तु सांची बुराई करनेसे भी जिसकी बुराई की जाती है उसके परिणाम दुःखी होते हैं, उससे उसके अशुभास्रव होता है, उससे पुनः दुःख होता है। इसीप्रकार बुराई करनेवालेके अशुभास्रव होता है। इसलिये ऐसे बुराईयुक्त वचन असत्यमें शामिल हैं। कभी किसी व्यक्तिकी बुराई नहीं करना चाहिये, जहांपर किसी दोषी पुरुषसे दोष छुड़ानेके परिणाम होते हैं वहां उसकी बुराई करनेके भाव भी नहीं होते किंतु उसे ही एकान्तमें समझाया जाता है। हास्यसहित वचन वहीं बोला जाता है जहांपर किसी पुरुषको चिड़ाना हो या उसकी झूठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बातें प्रकाशमें लाकर उसे नीचा दिखाना हो, ऐसे ही वचन हास्यमिश्रित समझे जाते हैं, इन वचनोंसे भी परात्माका पीडन होनेसे वे असत्य कहे गये हैं। जो लोग दूसरोंको धिक्कार देनेवाले उद्धततापूर्ण क्रोधके आवेगमें आकर अतिभयंकर कठोर वचन बोलते हैं उनके वे वचन भी दुखोत्पादक होनेसे असत्य हैं। जो कुछका कुछ असभ्य एवं असंबद्ध वचन बोलता है वह भी झूठ बोलता है। अन्यथा होनेसे एवं भ्रमोत्पादक होनेसे झूठ है। जो वचन अर्थशून्य है वह प्रलपित कहलाता है ऐसा वचन भी झूठ है, कारण जिसका कोई अर्थ न हो वह भी हरप्रकारसे भ्रमोत्पादक है। और भी जो कुछ सिद्धांतकथनसे विपरीत बोला जाता है, वह सब गर्हित वचन है, निंदनीय है अतएव त्याज्य है।

सावद्य वचन

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तंते ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ [छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] छेदना, भेदना, मारण, खेती, वाणिज्य और चोरी आदिका जो वचन है [तत् सावद्यं] वह दोष सहित वचन है [यस्मात्] क्योंकि [प्राणिवधाद्याः] इन वचनोंसे प्राणियोंका बध आदि हिंसाके कार्य [प्रवर्तंते] होते हैं।

विशेषार्थ—इसके कान पूंछ नाक जीभ आदि छेद डालो, इसकी अंगुली गर्दन आदि काट डालो, इसे मारो, खेती करो अर्थात् इस जमीनको खोद डालो आदि, पशुओंका लेन देन आदि वाणिज्य करो, दूसरेका धन किसी मार्गसे उठा लाओ, उसके घरमें छतपरसे घुस जाओ आदि वचनोंका प्रयोग करना सब झूठ है कारण इन वचनोंसे सिवा प्राणिपीडनके और कुछ हितकारिता नहीं है।

अप्रिय वचन

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयं ॥९८॥

अन्वयार्थ—(अरतिकरं) चित्तमें आकुलता पैदा करनेवाला एवं धैर्यको नष्ट करनेवाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वेषोत्पादक (भीतिकरं) भय उत्पन्न करनेवाला (खेदकरं) चित्तमें खेद–पश्चात्ताप उत्पन्न करनेवाला (वैरशोककलहकरं) शत्रुता उत्पन्न करनेवाला, शोक उत्पन्न करनेवाला, लड़ाई झगड़ा उत्पन्न करनेवाला (यद् अपरं अपि) और जो भी (परस्य) दूसरेको (तापकरं) संताप–कष्ट देनेवाला वचन है (तत् सर्वं) वह समस्त (अप्रियं) अप्रिय–असुहावना–श्रवण-कटु वचन (ज्ञेयं) समझना चाहिये।

विशेषार्थ—ऊपर कहे हुए सभी अप्रियवचन हैं ऐसे वचनोंका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये जो सुनते ही दूसरोंके परिणामोंमें क्षोभ पैदा करनेवाले हों। अनेक अज्ञानी जीव ऐसे ही वचनों द्वारा अपने और दूसरोंके आत्माओंमें निरन्तर अशुभ कर्मबंध करते कराते रहते हैं।

झूठ वचनसे हिंसा होती है

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेपि तस्मान्नियतं हिंसा समवस(त)रति ॥९९॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि) इस समस्त निरूपणमें ही (यत्) क्योंकि (प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं) एक प्रमादयोग ही जिसमें कारण है ऐसा कथन होता है। (तस्मात्) इसलिए (अनृतवचनेपि) झूठ वचनमें भी (हिंसा नियतं) हिंसा नियमसे (समवसरति वा समवतरति) होती है।

विशेषार्थ—आचार्योंने हिंसाका लक्षण यही कहा है कि जहां प्रमाद-योगसे प्राणोंका घात किया जाता है वहीं हिंसा होती है। लक्षणसे जितने भी कार्य प्रमादयोगसे दूसरेके तथा अपने प्राणोंको घात करनेवाले सिद्ध होते हैं वे सब हिंसामें गर्भित हैं। निंद्य, सदोष और अप्रियवचन भी प्रमादयोगसे ही बोला जाता है इसलिये वह वचन भी हिंसामें गर्भित है। अर्थात् इन वचनोंसे जीवके प्राण पीडे जाते हैं। जहां सरल परिणाम होते हैं वहां निंद्य सदोष एवं अप्रियवचन नहीं निकलता। अथवा प्रमाद-योगके बिना यदि वचनोंमें कठोरता भी है तो भी वह वचन अप्रिय कठोर प्रतीत नहीं होता, कषायभावोंसे प्रयुक्त वचन ही झूठ एवं हिंसोत्पादक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमत्तपरिणाममें हिंसा नहीं है

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यं ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ—(सकलवितथवचनानां) समस्त झूठ वचनोंका (प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे) प्रमादयोगको ही कारण बतलानेपर (हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं) त्याज्य बातके विधानका कथन (असत्यं न भवति) असत्य नहीं है।

विशेषार्थ—समस्त झूठवचनोंका कारण प्रमादयोग है, अर्थात् प्रमाद-परिणामोंसे जो वचन कहे जाते हैं वे सब झूठ हैं। जब यह बात है तब कोई ब्रह्मचारी आदि किसीसे व्यसनादि पापोंको छोड़नेके लिए जो जोर देते हैं उनका वचन भले ही उस पापिष्ठ पुरुषको बुरा एवं अप्रिय मालूम पड़ता हो परन्तु कहनेवालेका उद्देश्य उसका भला करनेका है इसलिए कहनेवालेके वचनोंमें प्रमादपरिणाम न होनेसे वे वचन असत्यकोटिमें नहीं शामिल किये जा सकते हैं।

यदि कोई शंका करे कि किसी पापको अथवा अनुपसेव्य अग्राह्यवस्तु को छुड़ाते समय जो वचन कहे जाते हैं वे भी तो अप्रिय एवं कठोर होते हैं वहां हिंसाका दूषण क्यों नहीं लगता और अव्याप्तिदोष क्यों नहीं आता, क्योंकि जितने कठोर अप्रियवचन हों, उन सबमें असत्यता और हिंसोत्पादकता आनी चाहिए, वह त्याग करानेवालेके वचनमें भी आनी चाहिए। इस शंकाका परिहार ही इस श्लोकमें किया गया है कि जहां प्रमादपरिणाम है वहांपर वचनमें दूषण है, जहां प्रमादपरिणाम नहीं है वह वचन निर्दोष है।

व्यर्थका झूठ तो छोड़ो

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं ।
ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चंतु ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (भोगोपभोगसाधनमात्रं) भोग उपभोग सामग्रीके इकट्ठा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेमें कारणमात्र (सावद्यं) सदोष वचनको (भोक्तुं अक्षमाः) छोड़नेके लिये असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (शेषं समस्तं अपि अनृतं) बाकीके समस्त झूठको (नित्यं एव मुंचंतु) सदा ही छोड़ देवें ।

विशेषार्थ—भोजन पान गंध माला आदि भोग्य सामग्री कहलाती है अर्थात् जो एक बार भोग कर फिर भोगनेमें नहीं आवे उसे भोग्य कहते हैं । वस्त्र वर्तन मकान भूषण हाथी घोड़ा सेवक आदि चेतन अचेतन उपभोग्य सामग्री कहलाती है अर्थात् जिसे बार बार भोगा जा सके वह उपभोग्य है । इन भोग उपभोगके साधनोंमें नियमसे हिंसा होती है । कारण जितना भी आरम्भ है वह सब हिंसामूलक है, बिना हिंसाके आरंभ होता ही नहीं । इसीलिये सप्रयत्न एवं हिंसासे बचनेके लिए सचेष्ट एवं सावधान रहनेवाला गृहस्थ भी स्थावर हिंसासे विरक्त नहीं हो सकता, आरंभी आदि त्रसहिंसा भी उससे होती रहती हैं, घरमें रहकर वह अपने भोग उपभोग के कलापोंसे छूट नहीं सकता इसलिये उतने गृहस्थके लिये आवश्यक भोग उपभोग साधनोंमें काम आनेवाले प्रमादयुक्त वचनोंको छोड़कर बाकी बिना प्रयोजन व्यर्थका प्रयोगमें आनेवाला झूठवचन—कठोर अप्रिय सावद्य वचन तो छोड़ देना चाहिये । ग्रंथकार श्री आचार्यमहाराज कहते हैं कि ऐसी वचन हिंसाको तो प्रतिदिन छोड़ो उससे तो बचनेके लिये सदा चेष्टा करते रहो ।

चोरीका लक्षण ।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रयत्नयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा बधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—[यत्] जो [प्रमत्तयोगात्] प्रमादके योगसे [अवितीर्णस्य] विना दिये हुए [परिग्रहस्य] परिग्रहका [ग्रहणं] ग्रहण करना है [तत्] वह [स्तेयं] चोरी [प्रत्येयं] जानना चाहिये [सा एव च] और वही (बधस्य हेतुत्वात्) हिंसाका कारण होनेसे (हिंसा) हिंसा है ।

विशेषार्थ—बिना दिये हुये किसीके धन धान्य आदि परिग्रहको प्रमाद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक—कषायभावोंसे अर्थात् दूसरेका द्रव्य हड़प लेनेके भावोंसे ले लेना चोरी कहलाती है। वह चोरी भी हिंसा ही है, कारण जिप्रसकार हिंसामें प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण किया जाता है उसीप्रकार चोरीमे भी प्राणोंका अपहरण किया जाता है। प्राणोंका भेद दो कोटिमें बांटा गया है—एक भावप्राण दूसरा द्रव्यप्राण। आत्मामें दुःख होना भावप्राणों का घात है और शरीरके अंग उपांगोंका घात द्रव्यप्राणोंका घात है, इसके सिवा धन धान्य आदि वाह्यपरिग्रह भी वाह्यप्राण कहलाते हैं। इनके चुराये जानेसे संसारी मोही जीवके प्राणोंमें तीव्र आघात होता है। यहांतक कि बहुतसे मनुष्य प्राणोंकी परवा नहीं करते किंतु धनकी रक्षामेंसर्वस्व नष्ट करनेके लिये तैयार रहते है ऐसी अवस्थामें द्रव्यके चोरी चले जानेसे उनकी आत्मामें बहुत ही दुःख होता है। इसलिये चोरी करनेवाला अपने प्राणोंका तो घात करता ही है क्योंकि आत्माका तो स्वभाव शुद्ध अचौर्य-भाव है उसका घात होकर चौर्यभाव विभाव—विकारीभावका संचार होता है। साथ ही वह जिसका द्रव्य चुराता है उसके प्राणोंका भी घात करता है इसलिये चोरी करना भी हिंसा है।

धनादि वाह्यप्राण हैं

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसा।
[1]हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥१०३॥

अन्वयार्थ—[ये एते अर्था नाम] जितने भी धन धान्य आदि पदार्थ हैं [एते पुसां बहिश्चरा प्राणाः] ये पुरुषोंके वाह्यप्राण हैं। [यः जनः] जो पुरुष [यस्य अर्थान् हरति] जिसके धन धान्य आदि पदार्थोंको हरण करता है [सः] वह [तस्य प्राणान् हरति] उसको प्राणोंका नाश करता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष जिस पुरुषका रुपया पैसा गोधन सुवर्ण वर्तन आदि द्रव्य चुराता है वह उसके अंतरंग प्राणोंका भी घात करता है, क्योंकि धनादि सम्पत्तिके चले जानेसे मोहवश उसके आत्मामें तीव्रतम कष्ट होता है।

१ "अपहरति यस्तदर्थान् स तु तत्प्राणान् समाहरति" यह पाठ पं० गिरिधरमिश्रकृत संस्कृतटीकाके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा और चोरीमें अव्याप्ति नहीं है

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—[हिंसायाः] हिंसाकी [च] और [स्तेयस्य] चोरीकी [न अव्याप्तिः] अव्याप्ति नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य] दूसरोंके द्वारा स्वीकार की गई द्रव्यके [ग्रहणे] ग्रहण करनेमें [प्रमत्तयोगः] प्रमादयोग [सुघट एव 'तस्मात्'] अच्छी तरह घटता है इसलिये [सा 'अस्त्येव'] हिंसा वहां होती ही है।

विशेषार्थ—लक्षण अपने लक्ष्यके एकदेशमें यदि न रहे तो उस लक्षणको अव्याप्ति दोषयुक्त लक्षण कहते हैं ऐसा लक्षण ठीक नहीं समझा जाता, यहाँपर यह विचार करना है कि चोरीको हिंसा बतलाया है सो क्या चोरीमें हिंसाका लक्षण घटता है या नहीं ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि हिंसा और चोरीमें अव्याप्ति नहीं है जहां चोरी है वहां हिंसा अवश्य है। क्योंकि हिंसाका लक्षण प्रमादयोग बतलाया गया है वह प्रमादयोग चोरीमें घटित होता ही है। जो द्रव्य दूसरेका है उसके लेनेमें प्रमाद परिणाम–सरागभाव है। बिना हड़प लेनेके अभिप्रायके कोई किसीका द्रव्य नहीं चुरा सकता, जहां चुरा लेनेका भाव है वहां बुरा अभिप्राय है। प्रमाद परिणाम ही हिंसाका लक्षण है। इसलिये चोरी और हिंसामें अव्याप्ति नहीं है ।

अतिव्याप्ति भी नहीं है

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—[प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्] प्रमादयोगरूप एक कारणका विरोध होनेसे [अपि] और [कर्मानुग्रहणे] कर्मके ग्रहण करनेमें [नीरागाणां] वीतराग मुनियोंके [अविद्यमानत्वात्] प्रमादयोगका अभाव होनेसे [तयोः] उन चोरी और हिंसामें [अतिव्याप्तिश्च न] अतिव्याप्ति भी नहीं है।

मूलका है, अर्थमें कोई भेद नहीं है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—यदि कोई यह कहे कि जो वीतराग मुनियोंके कर्मोंका ग्रहण होता है वहां भी चोरीका लक्षण घटित होता है, बिना दिये हुए द्रव्यका ग्रहण करना चोरी है, कर्म भी बिना दिये हुए ही ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहां चोरी का लक्षण चला जाता है परंतु वीतराग मुनि चोरीसे रहित हैं इसलिये वे अलक्ष्य हैं, अलक्ष्यमें लक्षण जाना ही अतिव्याप्ति है। इसके उत्तर में कहते हैं कि वीतराग मुनियोंमें चोरीका लक्षण जाता ही नहीं है कारण कि चोरीका लक्षण वहींपर जाता है जहाँपर किसी वस्तुका दान अदान अथवा देन लेनका व्यौहार होता है अर्थात् जो वस्तु दी जा सकती हो या ली जाती हो या ली सकती हो, वही चोरीके कार्य में सम्हाली जा सकती है। जो वस्तु न दी जा सके और न ली जा सके। जो मनुष्यकी ग्रहणशक्ति एवं आंखोंके भी अगोचर है उसमें लेने देनेकी योग्यताही नहीं है, कर्म अत्यन्त सूक्ष्मनेत्रेंद्रिय अगोचर पुद्गल परमाणु–स्कंध हैं। उनका ग्रहण जीवके मन वचन काययोग और कषाय-भावोंसे सुतरां–अपने आप होता है। इसलिये जीव उन्हें ग्रहण नहीं करता किन्तु उनका ग्रहण विकार भावोंसे स्वयं होता है। दूसरे वे कर्म किसी की वस्तु नहीं है किंतु संसारमें भरी हुई वर्गणाऐं हैं जिसप्रकार वायु सर्वत्र भरी है उसका उपयोग बिना इच्छाके भी प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है उसीप्रकार कर्मोंका उपयोग भी बिना इच्छाके प्रत्येक संसारी को करना पड़ता है जैसे वायुका उपयोग चोरीमें शामिल नहीं है वैसे कर्मोंका उपयोग भी चोरीमें शामिल नहीं है। चोरी वहींपर समझी जाती है जहां किसीका द्रव्य अपहरण किया जाय, कर्म तो किसी का द्रव्य नहीं है। तीसरे जहां इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है वहीं पर चोरी का दोष आता है कर्मके ग्रहण करनेकी किसी जीवकी इच्छा भी नहीं होती, अन्यथा नरकादि गति योग्य निकृष्ट कर्मोंको कोई कभी नहीं ग्रहण करता और न कोई संसार में घूमना पसंद ही करता है इसलिये कर्मग्रहण इच्छासे नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता किंतु स्वयं हो जाता है जिसप्रकार लोहेमें अग्नि रहने से पानीके परमाणु स्वयं लोहे में खिंच आते हैं उसीप्रकार योग और कषायों से कर्म आत्मामें स्वयं खिंच आते हैं। सबसे अन्तिम और मुख्य बात यह है कि चोरी वहीं समझी जाती है जहां प्रमादयोग है, बिना प्रमाद-योग के चोरीका लक्षण ही घटित नहीं होता, वीतराग मुनियोंके निष्कषाय एवं निरीह परम वीतराग होनेसे प्रमादयोग का उनमें नाम भी नहीं है। इसलिये कारणके अभावमें कार्य भी नहीं हो सकता, उनके प्रमादयोगरूप कारणका अभाव होनेसे चोरीरूप कार्य भी नही घटित होता। जहां प्रमादपरिणाम नहीं है वहां हिंसा का लक्षण भी नहीं घटित होता इसलिये चोरी और हिंसा इन दोनों में अतिव्याप्ति भी नहीं है।

चोरी छोड़ने का उपदेश

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यं ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (निपानतोयादिहरणनिवृत्तिं) कूपजल आदिके हरण करने की निवृत्तिको (कर्तुं असमर्थाः) करने के लिये असमर्थ हैं (तैरपि) उन पुरुषों के द्वारा भी (अपरं समस्तं अदत्तं) दूसरा समस्त बिना दिया हुआ द्रव्य (नित्यं) सदा (परित्याज्यं) छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ— स्वामीके बिना पूछे कुएसे जल लेना वास्तवमें चोरीमें सामिल है कारण जो वस्तु दी ली जा सकती है वही चोरीमें शामिल है। यदि कूएका स्वामी अथवा जमीनका स्वामी जल लेनेकी मनाई कर-देवे तो जबरन कोई उस कूएसे जल नहीं ला सकता। क्योंकि कूआ भी जमीनके समानके सम्पत्तिमें शामिल है इसलिये बिना आज्ञाके कूएसे जलग्रहण करना मिट्टी उठा लेना आदि सब बातें भी चोरीमें सामिल हैं, परंतु गृहस्थलोग इन व्यौहारोंके छोड़नेमें असमर्थ हैं दूसरे जल मिट्टी आदिका ग्रहण सब कोई बिना पूंछे करते रहते हैं तीसरे उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेनेसे मालिककी कुछ हानि नहीं होती है, इसलिये स्थूलदृष्टिसे वे बातें व्यवहारमें चोरीमें शामिल नहीं भी की जाती हैं, वास्तवमें वे चोरीमें शामिल हैं ही, इसीलिये श्रीआचार्य महाराज लोकव्यवहार और सिद्धांत दोनोंकी दृष्टि रखकर कहते हैं कि जो ऐसी ऐसी व्यवहारमें आनेवाली बातोंको नहीं छोड़ सकते, वे बाकीके समस्त चोरीरूप पापको—जो कि लोकमें भी चोरीरूपसे प्रसिद्ध समझा जाता है, नियमसे छोड़ दें। सबसे उत्तम मार्ग तो यही है कि परद्रव्यको बिना आज्ञाके ग्रहण ही न किया जाय परंतु जिन द्रव्योंका ग्रहण लोकनिषिद्ध नहीं है उनके सिवा बाकी समस्त परद्रव्यका ग्रहण बिना मालिककी आज्ञाके नहीं करना यह द्वितीय पक्ष है।

मैथुनका लक्षण

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म अवतरति तत्र हिंसा बधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

अन्वयार्थ—[यत् वेदरागयोगात्] पुंवेद और स्त्रीवेदरूप रागपरिणामके संबधसे [यत्] जो [मैथुनं] स्त्री पुरुषोंकी कामचेष्टा होती है [तत्] उसको [अब्रह्म] अब्रह्म [अभिधीयते] कहते हैं। [तत्र सर्वत्र] वहां सब अवस्थाओंमें [बधस्य सद्भावात्] जीवोंका वध होनेसे [हिंसा अवतरति] हिंसा घटित होती है।

विशेषार्थ—वेदकर्म दो प्रकारका है एक नामकर्मका भेद, एक चारित्र-मोहनीयका भेद। जो नामकर्मका भेदरूप वेदकर्म है उसके उदयमें शरीरमें द्रव्यरूप वेदरचना होती है, वह रचनामात्र जीवके भावोंमें विकार नहीं कर सकती किंतु चारित्रमोहनीयके भेदस्वरूप वेदकर्मके उदयमें यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करनेकेलिये प्रवृत्त होता है इसलिये जहांपर वेदकर्म के उदयसे स्त्री पुरुषोंमें अथवा पशु पक्षियोंमें नर-मादाओंमें जहां परस्पर रमण करनेकी वाञ्छापूर्वक कामचेष्टा होती है वहींपर मैथुन कहा जाता है। वही ब्रह्मचर्यका प्रतिकूल दोष है, इसके होनेसे जीवका ब्रह्मचर्यरूप स्वभाव नष्ट हो जाता है इसलिये भाव-हिंसा भी होती है और मैथुनसेवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेसे अनेक जीवोंका, जो कि सूक्ष्मरूपसे योनिस्थानमें रहते हैं उनका वध भी हो जाता है इसलिये द्रव्यहिंसा भी होती है अतः अब्रह्म भी हिंसा ही है, प्रमादभाव वहां है ही।

मैथुनमें हिंसा

हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यंते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—[यद्वत्ः] जिसप्रकार [तिलनाल्यां] तिलनालीमें [तप्तायसि विनिहिते] तपाये हुए लोहेके छोड़नेपर [तिलाः हिंस्यंते] तिल पीडे जाते हैं–भुन जाते हैं [तद्वत्] उसीप्रकार [योनौ] योनिमें [मैथुने] मैथुन करते समय-[बहवो जीवाः] अनेक जीव [हिंस्यंते] मारे जाते हैं।

विशेषार्थ—स्त्रियोंका योनिस्थान–जो कि स्त्रीनामकर्मके उदयसे द्रव्य-चिह्नरूप होता है–अत्यंत मलिन स्थल होता है। वह सदा मलसे आर्द्र ही रहता है, उसमें मलसे उत्पन्न अनेक जीवराशि रहती है, वह सब जीवराशि मैथुनक्रियामें नष्ट हो जाती है। जिसप्रकार तिलोंकी घानीमें यदि अग्निसे संतप्त लोहा छोड़ दिया जाय तो घानीके सभी तिल एक-दम जल जाते हैं, उसीप्रकार मैथुन करनेसे अतिसूक्ष्म असंख्य जीव नियमसे नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा स्त्रियोंके कांख स्तन आदि प्रदेशों में भी जीव रहते हैं, हस्तादि व्यापारसे वे सब भी नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार अनंत जीवराशिकी हिंसा करनेवाले मैथुन दुष्कर्मका अवश्य परित्याग कर देना ही उचित है। मैथुन परिणाम तीव्र रागोदयसे होता है और तीव्र रागका उत्पादक है, अतः सर्वथा मैथुनसेवन छोड़कर ब्रह्म-चर्य व्रत प्रत्येक बुद्धिमानको धारण करना चाहिये।

अनंगरमण निषेध

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥ १०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[यदपि] जो भी [किंचित् मदनोद्रेकात्] कुछ कामके प्रकोपसे [अनंगरमणादि] अनंगक्रीडन आदि [क्रियते] किया जाता है [तत्रापि] वहांपर भी [रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्] रागादिककी उत्पत्ति प्रधान होनेसे [हिंसा भवति] हिंसा होती है।

विशेषार्थ—बिना तीव्र रागोदयके अनंगरमणादि दुष्क्रियायें हो ही नहीं सकतीं, स्त्रीपुरुषकी संभोगक्रियाको छोड़कर बाकी अंगभिन्न उपांगोंके साथ वेदरागकर्मके तीव्रोदयसे क्रिया की जाती है, वह भी रागमूलक होनेसे तीव्र पापबंधका कारण है। इसलिये ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको वह भी सर्वथा परित्याग करने योग्य है।

कुशीलत्यागका उपदेश

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति नहि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यं ॥११०॥

अन्वयार्थ—[ये] जो पुरुष [मोहात्] चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे [निजकलत्रमात्रं] अपनी स्त्रीमात्रको [परिहर्तुं] छोड़नेके लिये [न हि शक्नुवंति] निश्चयसे नहीं समर्थ हैं [तैरपि] उन्हें भी [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं] बाकीकी समस्त स्त्रियोंका सेवन [न कार्यं] नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—सबसे उत्तम पक्ष यही है कि जिन परिणामोंमें वीतरागभाव जागृत रहें उन्हें ही सदा धारण किया जाय, वास्तवमें तो वहींपर आत्माको शांति मिलती है। इसके लिये जैनसिद्धांतका प्रथम उपदेश है कि स्वस्त्री और परस्त्री सबोंका परित्यागकर उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिये। परन्तु सबोंके लिये यह मार्ग नितांत कठिन अथवा असंभव ही है। क्योंकि गृहस्थधर्मका प्रवाह भी तो अनिवार्य मार्ग है। गृहस्थाश्रममें रहनेवाले जो पुरुष स्वदारसंतोषी हैं वे भी एकदेश ब्रह्मचर्यव्रतके धारण करनेवाले हैं। इसलिये वे भी कुशीलत्यागी कहे जाते हैं परन्तु यह पक्ष मध्यम है। कारण स्वस्त्रीसंतोष रहनेपर भी अपनी स्त्रीमात्रमें रागपरिणति तो होती ही है इसलिये उसे भी छोड़नेवाले उत्तमब्रह्मचर्यधारी कहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं, परन्तु जो स्वस्त्रीमात्रको छोड़नेमें असमर्थ हैं, अर्थात् जिनके इतना चारित्रमोहनीय कर्मका मंदोदय अभी नहीं हुआ है, जो अपनी स्त्रीका भी परित्याग करसकें उनके लिये आचार्य उपदेश देते हैं कि वे केवल स्वदारसंतोषी तो नियमसे बन जांय, स्वस्त्रीको छोड़कर बाकी समस्त स्त्रियोंके सेवनका तो उन्हें नियमसे परित्याग करदेना चाहिये। वैसी अवस्थामें वे एकदेश ब्रह्मचर्यके धारी कहे जा सकते हैं अन्यथा जिनके परस्त्रीका त्याग नहीं हैं, वे पशुवत् प्रवृत्ति रखनेवाले, महानीच, चारित्रसे गिरे हुए मनुष्य हैं। ऐसा जीवन रखना पृथ्वीका भारभूत है।

परिग्रहका लक्षण

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अन्वयार्थ—(या) जो (इयं) यह (मूर्छा नाम) मूर्छा है (एषः हि) यह ही (परिग्रहः) परिग्रह (ज्ञातव्यः) जाननी चाहिए (तु) तथा (मोहोदयात्) मोहनीयकर्मके उदयसे (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्व परिणामः) ममतारूप परिणाम (मूर्च्छा) मूर्च्छा कहलाता है।

विशेषार्थ—धनधान्यादि परिग्रहको संसार परिग्रह बतलाता है परन्तु वास्तवमें धनधान्यादि परिग्रह तभी परिग्रह कहा जाता है जब कि उसमें ममत्व-परिणाम हो, बिना ममत्व-परिणाम के किसीका कुछ परिग्रह नहीं कहा जाता। यदि ध्यानमें बैठे हुए मुनिमहाराजके समीप बहुतसा द्रव्य रख दिया जाय तो वह द्रव्य उनका परिग्रह नहीं कहा जा सकता कारण कि उससे उनके परिणामोंमें किसी प्रकार का रंचमात्र भी ममत्व नहीं है। यदि कहा जाय कि मुनिमहाराज के तो उस धनधान्य परिग्रहसे स्वत्व नहीं है जिनका उससे स्वत्वभाव है उनका तो वह परिग्रह कहलाता ही है। इसके उत्तरमें यही समझ लेना ठीक है कि स्वत्व भी उन्हींका कहा जाता है कि जिनका कि उस बाह्यपरिग्रहसे आत्मीयभाव है अर्थात् जो मोहितबुद्धिसे उसे अपना समझ रहे हैं जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने परिग्रहसे स्वत्व छोड़ चुके हैं अथवा दूसरोंको दानकर चुके हैं वह उनका परिग्रह नहीं कहलाता इसलिये यह निर्धारित बात है कि परिग्रह वास्तवमें ममत्व परिणामोंका नाम ही है। उसी ममत्व परिणामसे वाह्य परिग्रह भी उपचार परिग्रह कहलाता है। इसीलिये आचार्यमहाराजने मूर्छाको ही परिग्रह बतलाया है और मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला जो ममत्व परिणाम—यह मेरा है यह तेरा है, इत्यादिरूप है वही परिणाम मूर्छा कहलाता है। यही परिग्रहका यथार्थ लक्षण है। जहां यह लक्षण घटित होता है वहांपर परिग्रहपना आता है, जहां नहीं घटित होता वहां वाह्य परिग्रह रहते हुए भी परिग्रह नहीं कहा जाता। इसलिये मूर्छा ही परिग्रह का निर्दोष लक्षण है।

मूर्छा और परिग्रहकी व्याप्ति

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रंथो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥

अन्वयार्थ—[मूर्छालक्षणकरणात्] परिग्रहका मूर्छा लक्षण करनेसे [परिग्रहत्वस्य] दोनों प्रकार—वहिरंग और अतरंग परिग्रहकी [व्याप्तिः सुघटा] व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है [शेषसंगेभ्यः] बाकीके सब परिग्रहोंसे [विना अपि] रहित भी [किल] निश्चय करके [मूर्छावान्] मूर्छावाला [सग्रंथः] परिग्रहवाला है।

विशेषार्थ—यदि परिग्रहका लक्षण मूर्छा किया जाता है तब तो कोई दोष नहीं आता है, यदि परिग्रहका लक्षण वाह्य पदार्थोंका संबंध आदि अन्य कुछ किया जाता है, तब उसमें व्यभिचार आदि दोष आते हैं। यदि जिसके पास वाह्य कुछ परिग्रहसंबंध है वही परिग्रही समझा जाय तो जिस मनुष्यने जंगलमें रहना स्वीकार कर लिया है, वस्त्र आदि कुछ भी वाह्य परिग्रह जिसने अपने पास नहीं रक्खा है नग्न ही सदा जो रहता है परन्तु घरवालोंसे मोहवासना जिसकी नहीं छूटी है उन्हें वह व्यापारके उपाय एवं धनकी रक्षाके उपाय बतलाता है तथा कभी कभी अपनी सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपत्तिको देख भी जाता है, परन्तु अपने पास कुछ बाह्य परिग्रह नहीं रखता है ऐसा मनुष्य भी, परिग्रहका बाह्य परिग्रह लक्षण करनेसे निष्परिग्रही –परिग्रहरहित ठहर जायेगा तथा जिन मुनीश्वरने अंतरंग बहिरंग सब परिग्रह छोड़ दिया है, केवल आत्मध्यानमें ही जो लीन रहते हैं एवं उसे ही मात्र निज संपत्ति समझते हैं, ऐसे नग्न दिगम्बर ध्यानस्थ मुनि महाराजके ऊपर यदि कोई अनाड़ी कंबल डाल जाय, मुनिमहाराज उसे उपसर्ग समझकर ध्यानमें लीन रहें तो वैसी अवस्थामें बिना अंतरंग ममत्व परिणामके भी बाह्यपरिग्रह लक्षण करनेसे मुनिमहाराज भी परिग्रहवाले ठहर जांयेगे इसलिये परिग्रहका लक्षण मूर्छा करना ही उचित है, उसके होते हुये फिर एक भी दोष नहीं आता है। जहां जहां मूर्छा है वहां वहां परिग्रह है, जहां जहां मूर्छा नहीं है वहां वहां परिग्रह भी नहीं है, बिना ममत्व परिणामके मुनिके शरीरपर पड़ा हुआ कंबल भी उनका परिग्रह नहीं कहा जा सकता, और मोहजनित वासना रखनेवाला जंगलमें विचरनेवाला नग्न मनुष्य बिना बाह्य परिग्रहके भी परिग्रही है इसलिये परिग्रहका लक्षण मूर्छा– ममत्वपरिणाम करना ही सुसंगत है।

बाह्यपरिग्रहमें परिग्रहपना है या नहीं

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं ॥११३॥

अन्वयार्थ—(यदि एवं) यदि इसप्रकार है अर्थात् परिग्रहका लक्षण मूर्छा ही किया जाता है (तदा) उस अवस्थामें (खलु कोपि बहिरंगः परिग्रहो न भवति) निश्चयसे कोई भी बहिरंग परिग्रह. परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंकाके उत्तरमें आचार्य उत्तर देते हैं कि (भवति) बाह्यपरिग्रह भी परिग्रह कहलाता है (यतः) क्योंकि (असौ) यह बाह्यपरिग्रह (नितरां) सदा (मूर्छानिमित्तत्वं) मूर्छाका निमित्तकारण होनेसे अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्वपरिणाम बाह्यपरिग्रहमें होता है इसलिये वह भी मूर्छाके निमित्तपनेको (धत्ते) धारण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई गयी थी कि यदि मूर्छा ही परिग्रहका लक्षण किया जायेगा तो मूर्छा तो आत्माका विकाररूप मोहजनित भाव है, वाह्य धन धान्य रुपया सोना आदि कुछ भी परिग्रह नहीं कहा जायेगा। इस शंकाका आचार्यने इसी श्लोकमें उत्तर भी दे दिया है कि हां! वाह्यपरिग्रह भी परिग्रह कहा जा सकता है क्योंकि वह मूर्छामें निमित्तकारण है, अर्थात् मूर्छारूप परिणाम वाह्यपरिग्रहके निमित्तसे ही होते हैं इसलिये उपचारसे उसे भी परिग्रह कहा जा सकता है। उपचाररूप कहनेका यही प्रयोजन है कि वास्तवमें तो परिग्रह व्यक्तियोंसे संबंध रखता है, बिना किसीका संबंध पाये हुये स्वतंत्र पड़ी हुई वस्तुको परिग्रह नहीं कहा जाता जैसे जंगलमें खड़ा हुआ पहाड़ या खड़े हुये वृक्ष आदि किसीके परिग्रह नहीं कहे जाते। यदि उस जंगलको कोई खरीद ले तो उसी दिनसे वह उसका स्वामी कहलाता है और वह जंगल उसका परिग्रह कहलाता है इसलिये वाह्यपरिग्रह तभी परिग्रह कहलाने योग्य है जबकि उसका किसी व्यक्तिसे संबंध है क्योंकि परिग्रह नाम ग्रहण किये हुये पदार्थका है जो जिसने ग्रहण करलिया है अर्थात् जिसने जिस वस्तु को अपना मान लिया है उसका वही पदार्थ परिग्रह है इसलिये वास्तवमें तो जहां ममत्व परिणाम है वहां ही परिग्रह कहा जाता है, चाहे वाह्यपदार्थ उपस्थति हो या न हो अंतरंगमें पदार्थोंकी लालसा रखनेवाला अथवा वाह्यपदार्थोंको छोड़नेपर भी उनमें ममत्व रखनेवाला परिग्रही है। परंतु उपचारसे वाह्यपदार्थको भी परिग्रह कहा जाता है, उसके दो हेतु हैं, एक तो यह है कि वाह्यपदार्थ मूर्छाभावको उत्पन्न करता है, मूर्छाकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण है इसलिये निमित्तनैमित्तिक संबंध होनेसे निमित्त को भी नैमित्तिकरूप में कह दिया जाता है। दूसरा यह हेतु है कि वाह्यपरिग्रह कहलानेमें मूर्छा कारण पड़ी हुई है, ममत्वरूप परिणाम वाह्यपरिग्रह में होता है, इसलिये मूर्छारूप कारण परिग्रहको वाह्यपरिग्रहरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यपरिग्रहमें उपचार करलेते हैं। इसलिये बाह्यपरिग्रह मूर्छाका दोनोंप्रकार निमित्तपना रखता है उसका कारण भी है और कार्य भी है इसलिये सामान्यरूपसे बाह्यपरिग्रहका भी परिग्रह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

अतिव्याप्ति और उसका परिहार

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेन्नैवं। यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति ॥११४॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (परिग्रहस्य) परिग्रहको (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति (स्यात्) होगी (इति चेत्) यदि ऐसा है तो (एवं न भवेत्) ऐसा नहीं हो सकता (यतः) क्योंकि (अकषायाणां) कषायरहित वीतराग मुनियोंके (कर्मग्रहणे) कर्मके ग्रहण करनेमें (न मूर्छा अस्ति) मूर्छा नहीं है।

विशेषार्थ—यदि ऊपर कहे अनुसार बाह्यपरिग्रहको मूर्छाका निमित्त मानकर परिग्रह समझा जाता है तो परिग्रहकी अतिव्याप्ति होगी अर्थात् जहां परिग्रहका लक्षण नहीं जाना चाहिये वहां भी परिग्रहका लक्षण चला जायेगा, वैसी अवस्थामें अतिव्याप्तिनामक दोष उपस्थित होगा। जिन वीतरागमुनियोंके कर्म ग्रहण होता है, वह भी तो बाह्यपदार्थ है, और वह भी मूर्छाका निमित्त हो सकता है इसलिये वह भी परिग्रह-कोटिमें आ जायेगा, इस दोषके अथवा आशंकाके परिहारके लिये आचार्य कहते हैं कि नहीं, परिग्रहको अतिव्याप्ति नामका दोष कर्मग्रहणमें नहीं आता है, कारण जहां मूर्छानिमित्तता है वहीं परिग्रहका लक्षण जाता है, वीतरागमुनियोंके जो कर्मग्रहण हो रहा है उनके मूर्छानिमित्तता नहीं है इसलिये वहां उसका लक्षण नहीं जाता। जहां मूर्छा उत्पन्न होनेकी शक्यता हो वहां किसी प्रकार लक्षणकी संभावना भी मानी जा सकती है परन्तु जहां उसकी शक्यता भी नहीं है वहां परिग्रहके लक्षणकी सत्ता किसीप्रकार घटित नहीं हो सकती। कर्मग्रहण एक तो नितांत सूक्ष्म पुद्गलवर्गणा है। उसमें ग्रहण और त्यागका व्यौहार भी नहीं हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण वह न देखनेमें आती है और न ली दी जा सकती है। दूसरे उसका ग्रहण बिना इच्छाके सुतरां योगनिमित्तसे होता है, तीसरे वीतरागमुनियोंके मूर्छा भी नहीं है, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें जहां कर्मग्रहण है वहां कषायभावकी सत्ता भी नहीं है वह दशवें गुणस्थानमें ही नष्ट हो चुका और सातवें आठवें नवमें दशमें गुणस्थानोंमें जहां कषायभाव है वह नितांत मंद एवं अप्रत्तमरूप है इसलिये वहां भी मूर्छाका अभाव ही कहना चाहिये। छठे गुणस्थानमें प्रमत्तपरिणाम है परन्तु वहां कर्मोंमें 'ममेदं' यह मेरा है ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, इसलिये कर्मग्रहणमें वीतरागमुनियोंके मूर्छा नहीं है और इसीलिये कर्मग्रहणमें परिग्रहकी अतिव्याप्ति भी नहीं है।

परिग्रहके भेद

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यंतरश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अन्वयार्थ—[सः] वह परिग्रह [अतिसंक्षेपात्] अतिसंक्षेपसे [द्विविधः] दो प्रकारका है [आभ्यंतरश्च बाह्यश्च] आभ्यंतरपरिग्रह और बाह्यपरिग्रह। [प्रथमः पहला आभ्यंतरपरिग्रह [चतुर्दशविधः] चौदह प्रकारका है [द्वितीयस्तु] दूसरा बाह्यपरिग्रह [द्विविधः] भवति] दो प्रकारका है।

विशेषार्थ—यद्यपि परिग्रहमें असंख्यात भेद हैं, संख्यातकोटिमें लेनेसे भी अनेक भेद हैं, परन्तु उन सब भेदोंको गणनामें नहीं लिया जा सकता, इसलिये संभाल करनेके लिये सब भेदोंको यहांपर दो कोटिमें बांटा गया है। एक अंतरंग परिग्रह और एक बाह्य परिग्रह। पहलेके १४ भेद हैं। दूसरेके दो भेद हैं, उन भेदोंको ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं।

अंतरंग परिग्रहके १४ भेद

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतराः ग्रंथाः ॥११६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[मिथ्यात्ववेदरागाः] मिथ्यात्व पुंवेद स्त्रीवेद नपुंसकवेद [तथैव] उसी प्रकार [हास्यादयश्च षड् दोषः] हास्य रति अरति शोक भय जुगप्सा ये छह दोष [चत्वारश्च कषायाः] चार कषाय ये [चतुर्दश अभ्यंतरा ग्रंथाः] चौदह अभ्यंतर परिग्रह कहलाते हैं।

विशेषार्थ—आत्माके कषायरूप वैभाविक भावको अभ्यंतर परिग्रह कहते हैं, अर्थात् 'ममेदंरूप'— यह मेरा है यह तेरा है इस रूप जो आत्माका मोहरूप परिणाम है उसीका नाम अभ्यंतर परिग्रह है, इस परिग्रहमें सभी कषाय भाव और मिथ्यात्व गर्भित हो जाता है, अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ही अंतरंगपरिग्रह है उसीके चौदह भेद हैं। मिथ्यात्वमें सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति अंतर्गत हो जाती है इसलिये मिथ्यात्व कहनेसे समस्त दर्शनमोहनीय हो चुका। चारित्रमोहनीय २४ भेदोंमें बँटा हुआ है वह संक्षेपसे १३ भेदों में आ जाता है, अनंतानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी, और संज्वलन (इन्हींके क्रोध मान माया लाभ ये चार चार भेद करनेसे १६ भेद हो जाते हैं) तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, छह ये भेद और स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद तीन ये इसप्रकार १३ प्रकार चारित्रमोहनीय और १ मिथ्यात्व कुल १४ प्रकारका अभ्यंतर परिग्रह है। जिस पुरुषके बाह्यपरिग्रह कुछ भी न हो, भले ही वह नग्न बनकर जंगलमें रहता हो परन्तु इन १४ मिथ्यात्व और कषायभावोंमेंसे कोई भी जिसके परिग्रह है वह अवश्य परिग्रही है, इस दृष्टिसे दशवें गुणस्थानवर्ती मुनिमहाराज भी कथंचित् परिग्रही कहे जा सकते हैं। परन्तु उनगुणस्थानोंमें कषायोंका उदयमात्र हैं, वहां कषायोद्रेक बुद्धिपूर्वक नहीं है इसलिये कषायोंकी सत्ता मात्रकी अपेक्षासे परिग्रह कहा जाय तो कुछ आपत्ति नही है किंतु कार्यकी अपेक्षा अथवा बुद्धिपूर्वक ममत्वभावकी अपेक्षा वहां परिग्रहका सर्वथा अभाव है, मिथ्यात्वरूप परिग्रह तो चतुर्थ गुणस्थानवर्तीके भी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्यपरिग्रहके भेद

अथ निश्चित्तसचितौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोप्यतिवर्तते हिंसां ॥११७॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनन्तर बाह्यपरिग्रहके भेद बतलाते हैं (बाह्यस्य परिग्रहस्य) बाह्य परिग्रहके (निश्चितसचितौ) अचेतन और सचेतन (द्वौ भेदौ) दो भेद हैं (एषः) यह दोनों प्रकारका (सर्वोपि संगः) सभी परिग्रह (कदापि) कभी भी (हिंसां न अतिवर्तते) हिंसाका अतिवर्तन नहीं करता है।

विशेषार्थ— बाह्य परिग्रहके दो भेद हैं, एक अचेतन, दूसरा सचेतन। रुपया पैसा वर्तन वस्त्र मकान जमीन आदि जो कुछ जड़ संपत्ति है वह अचेतन परिग्रह है, गोधन हाथी घोड़ा बैल दासी दास स्त्री सेना आदि सभी सचेतन परिग्रह हैं। जो जीवधारी परिग्रहको अर्थात् जिन जीवोंसे अपना संबंध है उन्हें अपना मानता है वह उसका सचेतन परिग्रह है और जिन जड़ वस्तुओंको अपना मानता है वे सब उसका अचेतन परिग्रह हैं। इन दोनोंप्रकारके परिग्रहोंमें हिंसा नियमसे होती है। कारण दोनों प्रकारके परिग्रह बिना आरंभके नहीं रह सकते, जो कुछ उनका कार्य अथवा आरंभ है वह हिंसाके नहीं हो सकता। इसलिये हिंसा परिग्रहसे अनिवार्य है। तथा जहां आरंभ नहीं है वहां ममत्व परिणामरूप भावहिंसा ही, इसलिये परिग्रह और हिंसाकी भी व्याप्ति है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा अवश्य है।

परिग्रहकी सत्ता असत्तामें हिंसा अहिंसा

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

विशेषार्थ—[जिनप्रवचनज्ञाः] जिनेन्द्रभगवानके उपदिष्ट आगमको जाननेवाले [आचार्याः] श्री परम गुरु आचार्यमहाराज [उभयपरिग्रहवर्जनं] सचित्त अचित्त इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका छोड़ना [अहिंसा इति सूचयन्ति] अहिंसा है ऐसा सूचित करते हैं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[द्विविधपरिग्रहवहनं] दोनों प्रकारके परिग्रहोंका ग्रहण करना [हिंसा इति सूचयंति'] हिंसा है ऐसा सूचित करते हैं।

विशेषार्थ—परिग्रह बिना आरंभके नहीं रह सकता, और जहां आरंभ है वहां हिंसा अवश्य होती है, इसके सिवा जहां मोहजनित आत्मीयभाव हैं वहां बिना आरंभके ही भावहिंसा है, इसलिये दोनों प्रकारके परिग्रहका ग्रहण करना ही हिंसा है और उनका छोड़ना ही अहिंसा है, ऐसा श्रीआचार्य महाराज बतलाते हैं।

परिग्रहमें हिंसा

हिंसापर्यायत्वातु सिद्धा हिंसांतरंगसंगेषु ।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वं ॥११९॥

अन्वयार्थ—[अंतरंगसंगेषु] अंतरंगपरिग्रहोंमें [हिंसापर्यायत्वात्] हिंसाके पर्याय होनेसे [हिंसा सिद्धा] हिंसा सिद्ध है [बहिरंगेषु तु] बहिरंग परिग्रहोंमें तो [नियतं] नियमसे [मूर्छा एव हिंसात्वं प्रयातु] मूर्छा ही हिंसापनेको सिद्ध करती है।

विशेषार्थ—अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व और कषायभाव हैं वे तो स्वयं हिंसास्वरूप हैं ही, कारण हिंसा उसे ही कहते हैं कि जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका अपहरण हो। जहां कषायभाव है या मिथ्यात्व है वहां आत्माके शुद्ध भावोंका नाश एवं प्रमाद परिणाम हैं इसलिये अंतरंगपरिग्रह तो स्वयं हिंसास्वरूप हैं। बहिरंगपरिग्रह स्वयं हिंसारूप नहीं हैं किंतु उनमें ममत्वपरिणाम होता है इसलिये वे हिंसाजनक हैं, यह भावहिंसाका निरूपण है। बहिरंगपरिग्रहोंसे होनेवाली द्रव्यहिंसाको दृष्टिमें लेनेसे द्रव्यहिंसा भी उनसे नियमित है। इसलिये वास्तवमें हिंसास्वरूप हिंसाका उत्पादक हिंसाका फल हिंसाका कारण परिग्रह ही है। यदि उसका संबंध छोड़ दिया जाय तो फिर न कभी किसी निमित्तसे ममत्वपरिणाम उत्पन्न हों, न किसी प्रकारका आरंभ हो और न आत्मीयपरिणाम ही विकाररूप धारण करें। श्रीमुनिमहाराज दोनों प्रकारके परिग्रह त्यागी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं इसलिए वे त्रस और स्थावर हिंसासे विरक्त रहते हैं तथा अप्रमत्त-परिणामी रहते हैं। जहां परिग्रह और आरंभका एकदेश भी त्याग है वहां शास्त्रकारोंने मनुष्यायुके बंधयोग्य परिणाम बतलाये हैं और जहां बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहां नरक आयुके बंध योग्य परिणाम बतलाये हैं।

मूर्छा विशेषमें हिंसाविशेष

एव न विशेषः स्यादुंदररिपुहरिणशावकादीनां।
नैंव भवति विशेषस्तेषां मूर्छाविशेषेण ॥१२०॥

अन्वयार्थ– [एवं] इसप्रकार अर्थात् यदि बहिरंगपरिग्रहोंमें मूर्छाका उत्पन्न होना ही हिंसा है तो [उंदररिपुहरिणशावकादीनां] बिल्ली और हरिणके बच्चे आदिके विषयमें [न विशेषः स्यात्] कुछ विशेष नहीं होगा। [एवं न] उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा नहीं है [तेषां मूर्छाविशेषेण] उनके मूर्छाविशेषसे [विशेषः भवति] विशेष है।

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई गयी है कि यदि माना जाय कि बाह्यपरिग्रहोंमें ममत्व परिणामोंका होना ही हिंसा है तो फिर ज्यादा हिंसा करनेवाले और कम हिंसा करनेवाले समान पापके भागीदार बन जांयेगे क्योंकि एक बिल्ली जो चूहोंका ध्वंस करती है वह भी चूहे में ममत्वपरिणाम रखती है और एक हरिणका बच्चा जो कि बिना किसी का वध किये केवल घासके तृण खा रहा है वह भी उस घाससे ममत्व-परिणाम रखता है। ममत्वपरिणाम बाह्यपदार्थमें दोनोंके हैं इसलिये दोनों ही समान हिंसाके भागी ठहरेंगे? इस शंकाका उत्तर यह है कि जब ममत्वपरिणाम ही हिंसारूप हैं तो जहां जैसे ममत्वपरिणाम होंगे वहां वैसी ही हिंसा होगी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि चूहेको ग्रहण करते समय बिल्लीके परिणाम और घासको ग्रहण करते समय हरिणके परिणाम समान हैं, दोनोंके ममत्वमें जब अधिकता और हीनता है तो उनकी हिंसामें भी अधिकता और न्यूनता स्वभावसिद्ध है। जहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ममत्वपरिणाम कमती हैं वहां कमती हिंसा है, जहां ममत्वपरिणाम अधिक है वहां अधिक हिंसा है ।

इसीका स्पष्टीकरण

हरिततृणांकुरचारिणि मंदा मृगशावके भवति मूर्छा ।
उंदरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैवजायते तीव्रा ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(हरिततृणांकुरचारिणि) हरे तृणोंके अंकुरोंको चरनेवाले (मृगाशावके) मृगके बच्चेमें (मंदा मूर्छा भवति) मंद मूर्छा होती है (उंदर निकरोन्मथिनि) मूषों (चूहों) के समूहोंको नष्ट करनेवाली (मार्जारे) बिल्लीमें (सा एव तीव्रा जायते) वही मूर्छा तीव्र होती है ।

विशेषार्थ—जहांपर विशेष गृद्धता वा विशेष लालसा होती हैं वहींपर विशेष मूर्छा मानी जाती है । जहां गृद्धता या लालसा कम है वहां मूर्छा भी कम मानी जाती है । एक हरिणका बच्चा शांतिसे जब इच्छा हुई तभी घासके अंकुरे खा लेता है, जब इच्छा नहीं रही उन्हें छोड़कर चुपचाप बैठ जाता है या खड़ा रहता है । उस घासके लेनेमें उसके ममत्व भाव मंद रहते हैं. कारण वह घासका ही ग्राहक है घास सदा इधर उधर रहती ही है । इसलिये उसके परिणामोंमें उसके गृहण करनेकी तीव्र लालसा नहीं होती तथा उसके लेनेमें उसकी आत्मामें संक्लेशभाव भी नहीं होता, परन्तु बिल्ली जब कभी भी चूहोंको पकड़ती है बड़ी लालसाके साथ पकड़ती है, कषायकी तीव्रतासे उसके ऊपर बड़ेजोरसे झपटती है तथा परोक्षमें भी जब तक चूहा नहीं दीखे तबतक भी उसीकी तीव्र वासना लिये हुये रहती है इसलिये उस कार्यमें उसकी तीव्र तो गृद्धता है और संक्लेशपरिणामोंका भी आधिक्य है । क्योंकि बिल्लीके परिणामोंमें तीव्र आकुलता है । इसका कारण भी यह है कि चूहा जंगम जीव है, वह भी अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहता है इसलिये वह बिल्ली के देखनेपर इधर उधर छिपनेकी चेष्टाके साथ महान् भयभीत हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, उसकी मरणसन्मुख अवस्था उसके लिये अति कष्ट देती है जैसे वह छिपनेकी चेष्टा करता है वैसेही दुष्ट जीवभक्षणी बिल्ली उसपर क्रोधपूर्ण दृष्टिसे दौड़ती है, इसलिये यह बात एक स्थूलबुद्धि भी समझ सकता है कि बिल्लीके परिणामोंमें अतितीव्र मूर्छा एवं हिंसा है और हरिणके परिणामोंमें उसकी अपेक्षा नितांतकम है। मूर्छाके आधारपरही हिंसा भी बिल्लीको तीव्र लगती है, हरिणको उसकी अपेक्षा बहुत ही कम लगती है।

दृष्टांतमें दृष्टांत

निर्बाधं संसिद्ध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखंडयोरिव माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(कारणविशेषात्) कारण विशेषसे (कार्यविशेषः) कार्यविशेष (हि) निश्चयसे (निर्बाधं संसिद्धयेत्) निर्बाध रीतिसे सिद्ध होता है (इव) जैसे (औधस्य-खंडयोः माधुर्यप्रीतिभेद एव) [औधस् नाम दूधवाले पशुओंके थनोंके ऊपर दूधसे भरे हुये भाग (ऐनरी) का है उस भागमें दूध पैदा होता है इसलिये औधस्य नाम दूधका है] दूध और खांड दोनोंकी मधुरतामें प्रीतिका जिसप्रकार भेद देखा जाता है।

विशेषार्थ —जैसा कारण होता है उसीप्रकारका उससे कार्य सिद्ध होता है यह बात घट पट आदि सभी पदार्थोंके देखनेसे सप्रमाण प्रसिद्ध है। मिट्टीसे घड़ा बनता है, सूतसे वस्त्र बनता है इसलिये जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। इसलिये जहांपर मूर्छाकी तीव्रता है वहांपर तीव्र हिंसा होती है और जहांपर मूर्छाकी मंदता है वहांपर मंद हिंसा होती है। जिसप्रकार दूधमें भी मधुरता है और खांडमें भी मधुरता है परन्तु मधुरता के कारणोंमें भेद होनेसे उनके कार्योंमें भी भेद हो जाता है, दूधकी मधुरताका कारण दूध है, खांडकी मधुरताका कारण खांड है, इस-लिये दोनोंकी मधुरताके आस्वादन करनेवालेकी रुचिमें भेद हो जाता है। वह दोनोंकी मधुरताका आस्वादन भिन्न भिन्न रूपसे करता एवं समझता है उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचार्यमहाराज इसी दृष्टांतका स्पष्टीकरण करते हैं

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मंदैव मंदमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चय करके (माधुर्यप्रीतिः) मधुरतामें प्रीति (मंदमाधुर्ये दुग्धे) मंद मधुरता रखनेवाले दूधमें (मंदा एव) मंद ही है । (सा एव) वही मधुरतामें प्रीति (उत्कटमाधुर्ये खंडे) अधिक मधुरता रखनेवाली खांडमें (तीव्रा व्यपदिश्यते) तीव्र कही जाती है ।

विशेषार्थ—दूधमें कमती मिठास है इसलिये उसके पीनेसे पीनेवालेको कमती मीठापन मालूम होता है और खांडमें अधिक मिठास है इसलिये उसके खानेवालेको अधिक मीठापन मालूम होता है । यह दोनोंके मीठेपनका भेद दोनोंके कारणोंकी भिन्नतासे ही होता है । इसलिये जहां जैसा कारण होता है वहां वैसा कार्य होता है । इसी भेदसे जीवोंके परिणामोंमें मूर्छाधिक्य एवं मूर्छामांद्य होनेसे क्रमसे हिंसाधिक्य होनेसे परिग्रहाधिक्य एवं हिंसामांद्य होनेसे परिग्रहाल्पकत्व होता है । अब यहांपर यह बतलाया जाता है कि चौदहप्रकारके अंतरंगपरिग्रहसे आत्माकी क्या हानि होती है ?

सम्यग्दर्शनके घातक चोर

तत्त्वार्थाश्रद्धाने नियुक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वं ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वार्थाश्रद्धाने) तत्त्वार्थके अश्रद्धान करनेमें (मिथ्यात्व) मिथ्यादर्शन (प्रथमं एव) पहले ही (नियुक्तं) नियत है (चत्वारः) चार (प्रथमकषायाश्च) प्रथम कषाय भी (सम्यग्दर्शनचौराः) सम्यग्दर्शनके चुरानेवाले हैं ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थाश्रद्धान बतलाया गया है उस तत्त्वार्थश्रद्धानको नष्ट करनेवाला कर्म दर्शनमोहनीय है । दर्शनमोहनीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मके यद्यपि तीन भेद हो जाते हैं। एक सम्यक्त्वप्रकृति, दूसरी सम्यङ्-मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरी मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीनोंमें मिथ्यात्व ही मूल-कर्म है उसीके दोनों उत्तर भेद हैं इसलिये वही प्रधान सम्यग्दर्शनगुणका घात करनेवाला कार्य है। जिससमय आत्मामें मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है उसी समय आत्माका सम्यग्दर्शनगुण सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय आत्मा बिना किसीके उपदेश आदि निमित्तके स्वयंमेव विपरीत बुद्धिवाला बनकर पदार्थोंका उलटा अथवा मिथ्याश्रद्धान करने लग जाता है। यह उसी मिथ्यात्वकर्मके उदयका माहात्म्य है। इस कर्मका उदय प्रथम गुणस्थान अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। जीवका सबसे बड़ा अनिष्ट करनेवाला एवं उसकी सबसे प्रियतम निधि स्वानुभूतिको चुरानेवाला मिथ्यात्व है। उसीप्रकार अनंतानुबंधि क्रोध, अनतानुबंधि मान, अनंतानुबंधि माया और अनंतानुबंधि लोभ, ये प्रथम चार कषाय भी सम्यग्दर्शनगुणके चुरानेवाले—चोर हैं, अर्थात् जिससमय जीवका सम्यग्दर्शन गुण चतुर्थ गुणस्थानमें प्रगट रहता है, वहांपर यदि अनंतानुबंधि-कषायमेंसे किसी एकका उदय हो जाता है तो आत्माका सम्यग्दर्शनगुण तुरन्त नष्ट हो जाता है और वह आत्मा वहांसे गिरकर द्वितीय गुणस्थान-सासादनमें पहुंच जाता है। अनन्तानुबन्धि कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीय कर्मके भेदोंमें गिनाया गया है परन्तु उसमें चारित्रके साथ सम्यग्दर्शनके घात करनेकी भी सामर्थ्य है इसलिये उसे सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें भी शामिल किया गया है इसीलिये सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियां समझी गई हैं। अनंतानुबंधिकषायका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है आगे नहीं। द्वितीयगुणस्थानमें जीवके मिथ्यात्वोन्मुख (मिथ्यात्वके सन्मुख) वैभाविक परिणाम रहते हैं। इस विषयका विशेष विवेचन सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते समय विस्तृत किया जा चुका है इसलिये यहांपर विशेष नहीं लिखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश चारित्रका घात करने वाले कषाय

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचारित्रस्य सम्मुखायाताः ।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्र निरुद्धयंति ॥१२५॥

अन्वयार्थ—[द्वितीयान् च] द्वितीय कषाय–अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायोंको भी [प्रविहाय] छोड देनेसे [देशचारित्रस्य] एकदेशचारित्रके [सम्मुखायाताः 'भवंति'] सम्मुख होते हैं अर्थात् एकदेशचारित्रको धारण करते हैं [हि] क्योंकि [ते कषायाः] वे चारों कषाय [नियतं] नियमरूपसे [देशचरित्रं] एकदेश-चारित्रको [निरुद्धयंति] रोकते हैं ।

विशेषार्थ—प्रत्याख्यान नाम चारित्रका है 'अ' नाम ईषत्का है, आवरण नाम रोकनेका है अर्थात् जो ईषत् (थोड़े–एकदेश) चारित्रको रोक दे वह अप्रत्याख्यानावरण कर्म कहा जाता है । यह कर्म चारित्रमोहनीय का दूसरा भेद है, चौथे गुणस्थानतक इस कर्मका उदय रहता है । इसलिये वहांतक जीव चारित्रकेधारण करनेमें असमर्थ हैं । क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीकषाय एकदेश चारित्रका घात करनेवाला है उसकी जहांतक उदयावलिमें स्थिति रहेगी वहांतक देशचारित्र नहीं धारण किया जा सकता । इसीलिये जीव चतुर्थ गुणस्थानतक अव्रती रहते हैं, वहांतक व्रत धारण करनेकी इच्छा ही जीवोंमें नहीं उत्पन्न होती, यह कुछ कर्मकी अद्वितीय विचित्रता एवं सामर्थ्य है कि जीवोंके परिणामोंमें इसप्रकार मलिमा समा जाती है जिससे कि व्रत धारण करनेकी बुद्धि जागृत ही नहीं होती और यदि सम्यग्ज्ञानियोंकी इच्छा सम्यक्त्वके प्रभावसे होती भी है तो चारित्रमोहनीय यह द्वितीय कषाय उन्हें नियमितरूपसे–प्रतिज्ञातरूपसे व्रत पालने नहीं देता, मोहितबुद्धि उन्हें विमोहित बनाकर व्रतभ्रष्ट बना देता है । इसलिये चौथे गुणस्थानतक नियमितरूपसे जीव व्रतोंके धारण करनेसे सर्वथा असमर्थ हैं । यदि यहां यह कोई शंका करे कि तब तो चतुर्थगुणस्थानतक सभी भ्रष्टाचारी ही रहते हैं, सो ठीक नहीं है । चतुर्थ गुणस्थानमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शनके प्रभावसे आत्मा धर्मकी दृढ़प्रतीतिवश व्रतोंको स्वीकारकर उन्हें पालता है, विषयोंसे प्रवृत्तिको हटाता है, जीवोंकी रक्षामें सावधान भी होता है। इच्छाओंका निरोध भी करता है परन्तु यह सब कार्य उसका स्थाई नहीं रह सकता, वह चारित्रमोहनीयके तीव्र झकोरेसे विशृंखल एवं निर्मर्याद हो जाता है। उस अवस्थामें आत्मा इंद्रियोंको वशंगत करनेमें असमर्थ बन बैठता है, विषयोंकी ओर अनिच्छा होनेपर भी झुक पड़ता है। जीवहिंसासे भी विरत नहीं हो पाता ऐसी दशामें वह नियमित रूपसे व्रतोंको नहीं पाल सकता अतएव वह व्रतोंका अभ्यासी समझा गया है, वह उन्हें नियमितरूपसे नहीं किंतु अभ्यासरूपसे पालता है। इसीलिये पाक्षिक श्रावकको व्रताभ्यासी कहा गया है न कि व्रतधारी—नैष्ठिक। पाक्षिक श्रावक अभ्यासरूपसे किन्हीं व्रतोंको पालनेपर भी प्रतिमारूपसे—नियमित क्रमवृत्तिसे व्रती नहीं कहा जा सकता। यही बात पंचम और चतुर्थगुणस्थानमें अंतर डालती है। जहां द्वितीय कषायका अनुदय हुआ वहीं झट आत्माके परिणाम उस जातिकी निर्मलता धारण कर लेते हैं कि झट व्रतोंके पालन करनेमें आत्माकी निर्बाध प्रवृत्ति बनी रहती है। इसलिये सिद्ध होता है कि कर्मोंका उदय आत्माके गुणोंको प्रगट होने नहीं देता।

शेष परिग्रहोंके परित्यागका उपदेश

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामंतरंगसंगानां।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया॥१२६॥

अन्वयार्थ—[शेषाणां सर्वेषां] बाकीके समस्त [अंतरंगसंगानां] अंतरंगपरिग्रहोंका [निजशक्त्या] अपनी शक्तिके अनुसार [मार्दवशौचादिभावनया] मार्दव शौच आदि भावनाओंके द्वारा [परिहारः कर्तव्यः] त्याग कर देना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रथम तो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायोंको छोड़ना परम आवश्यक है, दूसरे द्वितीय कषायको छोड़ना चाहिये। इतना कर्मोदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हट जानेपर जीव सम्यग्ज्ञानी एवं एकदेश व्रती बनकर सन्मार्गावलंबी हो जाता है यद्यपि केवल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर भी सन्मार्गावलंबी जीव बन जाता है परन्तु वहांपर उस मार्गपर वहपहुंचकर भी परमध्येयकी प्राप्तिमें प्रवृत्त नहीं हो पाता। परमध्येयकी प्राप्तिमें प्रवृत्ति किये बिना मनुष्य पर्यायकी सार्थकता नहीं हो पाती, कारण सम्क्यत्वप्राप्ति तो जीवको चारों ही गतियोंमें हो जाती है परन्तु मनुष्यपर्यायकी सार्थकता बिना चारित्रके नहीं होती इसलिये कमसे कम एकदेश चारित्र धारण करके मनुष्य पर्यायको सफल बनाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, उसी पर्यायको लक्ष्य करके आचार्यका उपदेश है। इसलिये मिथ्यात्व और द्वितीय-कषायके त्यागका आवश्यक उपदेश देकर बाकी कषायोंके त्यागके लिये 'निजशक्त्या' पद उन्होंने दिया है। अर्थात् देशचारित्रको भी प्राप्त करना प्रत्येक गृहस्थका परमकर्तव्य है इसके पश्चात् बाकीके जो अंतरंग परिग्रह हैं—प्रत्याख्यानावरणकषाय, संज्वलनकषाय तथा नवनोकषाय, इनको भी अपनी शक्तिके अनुसार छोड़ना चाहिये। इनके छोड़नेके लिए उपाय भी ग्रंथकारने साथ ही बतला दिया है कि मार्दव शौच आदि भावनाओंको भानेसे वह परिग्रह छोड़े जा सकते हैं। भावनाओंके भानेसे परिणामोंमें दृढ़ता एवं विशेष निर्मलताकी वृद्धि होती है इसलिये भावनायें उन कषायवासनाओंके छुड़ानेमें पूर्ण समर्थ हैं।

बाह्यपरिग्रहके त्यागका उपदेश

बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

अन्वयार्थ—[यस्मात्] जिस [बहिरंगात् अपि संगात्] बाह्य परिग्रह से भी [अनुचितः असंयमः] अनुचित असंयम [प्रभवति] उत्पन्न होता है [तं अचित्तं वा सचित्तं वा] उस अचित्त अथवा सचित्त [अशेषं] समस्त परिग्रह को [परिवर्जयेत्] छोड़ देना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन धान्यादि भी कम करने उचित हैं

योपि न शक्तस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।
सोपि तनूकरणीयः निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं ॥१२८॥

अन्वयार्थ—[यः अपि] जो कोई भी [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि] धन, धान्य, मनुष्य, घर, द्रव्य आदि [त्यक्तुं] छोड़नेकेलिये [न शक्तः] नहीं समर्थ है [सोपि] वह परिग्रह भी (?) [तनूकरणीयः] कम करना चाहिये [यतः] क्योंकि [तत्त्वं निवृत्तिरूपं] तत्त्वस्वरूप निवृत्तिस्वरूप है ।

विशेषार्थ—जिन पदार्थोंसे अधिक ममत्व है, जिन्हें छोड़नेमें यह पुरुष असमर्थ है, उन्हें भी कम करना चाहिये कारण आत्माका निज स्वरूप अन्य सब पदार्थोंसे भिन्न है इसलिये वह सभी प्राप्तकिया जा सकता है जब कि आत्मा जहां तक हो पर पदार्थोंका त्याग करता चला जाय। जितने अंशमें पर पदार्थ घटाया जा सके उतना घटाना चाहिये। जिस अवस्थामें पर पदार्थोंका संबंध आत्मासे नहीं रहता वही आत्मतत्त्वका निज रूप है ।

रात्रिभोजनका परित्याग

रात्रौ भुजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिस कारण (रात्रौ भुजानानां) रात्रिमें भोजन करनेवालोंके (अनिवारिता हिंसा भवति) अनिवार्य हिंसा होती है (तस्मात्) इसलिये (हिंसाविरतः) हिंसासे विरक्त होनेवाले पुरुषोंको (रात्रिभुक्तिः अपि) रात्रि भोजन भी (त्यक्तव्या) छोड़ देना चाहिये ।

विशेषार्थ—भोजन शरीर रक्षाके लिये आवश्यक है, वह करना ही होगा, परन्तु दिनमें भोजन करनेसे मनुष्य जीवहिंसासे बच सकता है क्योंकि दिन में यत्नाचारसे निरीक्षणपूर्वक भोजनका ग्रहण होता है। रात्रिमें नेत्रेंद्रियका तेज कम हो जानेसे यत्नाचारका पलना सुतरां अशक्य है इसलिये रात्रिमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन करनेवाला जीववधसे कदापि नहीं बच सकता। भोजनके चार भेद हैं—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। खाद्यमें रोटी, भात, पूड़ी कचौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थ समझे जाते हैं। स्वाद्यमें स्वाद लेने योग्य पदार्थ जैसे—चूर्ण ताम्बूल सुपारी आदि समझे जाते हैं। लेह्यमें रबड़ी मलाई आदि चाटने योग्य पदार्थ लिये जाते हैं और पेयमें दूध सरबत पानी आदि पीने योग्य पदार्थोंका ग्रहण है। लड्डू बरफी पेड़ा आदि मिठाई भी खाद्यमें गर्भित है। इन चारों प्रकारके भोजनोंको रात्रिमें नहीं ग्रहण करना चाहिये। अनेक पुरुष रात्रिमें अन्न तो नहीं खाते किंतु रबड़ी, दूध, पेड़ा, बरफी आदि बिना अन्नके बने हुये पदार्थ खाते रहते हैं। परन्तु वास्तवमें शास्त्रकारोंने सभीप्रकारके भोजनका निषेध किया है। क्योंकि किसी भी प्रकारके भोजनके भक्षण करनेमें मनुष्य हिंसासे नहीं बच सकता। जो लोग रात्रिमें पेड़ा बरफी रबड़ी दूध आदि खाते हैं उनका खाना शास्त्रदृष्टिसे सर्वथा निषिद्धि है। वास्तवमें विचार किया जाय तो इन बरफी पेड़ा रबड़ी आदि पदार्थोंमें तरलताके कारण अधिक जीवोंका समावेश हो जाता है और वे जीव उन तरल पदार्थों में यहांतक मिल जाते हैं कि उनका दीखना रात्रिमें नेत्रेंद्रियसे नहीं होता। रात्रिमें विचरनेवाले मच्छर आदि जीव प्रायः उन पदार्थोंको सुगंधि पाकर उनके पास जाते हैं और उनपर बैठते ही उन रबड़ी मलाई आदि तरल पदार्थोंमें सन जाते हैं तथा मरकर वहीं रह जाते हैं! इसलिये ऐसे पदार्थों का भक्षण कदापि नहीं करना चाहिये। इन पदार्थों में रात्रिमें ही मच्छरादिक जीव गिरते हैं दिनमें सूर्यका प्रकाश होनेसे वे जीव कोनों में एवं अन्धकारपूर्ण स्थानों पर छिपकर बैठ जाते हैं। इन मिष्ट पदार्थों के पास दिन में वह आते ही नहीं। यदि कदाचित् कोई जीव उड़ता हुआ आता भी है तो वह सूर्य और नेत्रेंद्रियके प्रकाशवश होनेवाले विशेष अवलोकन से हटाया जा सकता है। परंतु रात्रि में उलटे जीवोंका अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमन होता है इसलिये रात्रिमें पेड़ा बरफी रबड़ी मलाई दूध आदि पदार्थों का खाना भी निषिद्ध है। हिंसासे बचने वालोंको ऐसे पदार्थ कभी रात्रि में नहीं भक्षण करना चाहिये। अन्नकी बाढ़ रोककर मीठा खानेवाले यद्यपि शास्त्र के विरुद्ध गमन करते हैं परंतु वे अन्नके त्याग की मर्यादा रखकर बहुभाग अन्नके निमित्तसे होनेवाली आरंभजनित हिंसासे तो बच जाते हैं परंतु उनसे बढ़कर वे हिंसा करनेवाले पुरुष हैं जो यह कहते हुए कि पेड़ा बरफी रबड़ी आदिकी अपेक्षा रोटी चना आदि जो तरल पदार्थ नहीं हैं उनका खाना ठीक है, रात्रिमें रोटी पूड़ी कचौड़ी आदि सभी पदार्थ खाते हैं। रात्रिमें अन्नका पदार्थ खानेवाले क्यों अधिक हिंसक हैं? इसका उत्तर यह है कि जिसने रात्रिमें निर्मर्याद प्रवृत्ति रखकर अन्नतक खाना स्वीकार कर लिया है वह चारों प्रकारके भोजनमें से किसीप्रकारके भोजनका रात्रि में त्याग नहीं कर सकता क्योंकि भोजनों में, पेट भरनेवाला सबसे पुष्ट एवं रुचिर अन्न ही है। यदि वही ग्रहण कर लिया तो उसके संसर्गसे दाल साग दूध आदि का भी ग्रहण बचाया नहीं जा सकता। दूसरे जब रात्रिमें रोटी वगैरहका ग्रहण ही करलिया तब धीरे धीरे ठंडी रोटीसे अरुचि होकर गरम गरम बनवानेकी इच्छाका उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात है। ऐसी अवस्थामें रात्रिमें रोटी बगैरह भोजन करनेवाले रात्रिमें ताजा भोजन अवश्य बनायेंगे, उस समय चूला आदिका पूरा आरंभ त्रस स्थावर हिंसाका पूर्ण विधायक होगा। कारण रात्रिमें इधर उधर बैठे हुये जीव हटाये नहीं जा सकते वे सब मारे जाते हैं। चूलामें बैठी हुई चिउंटी कीड़ा मकोड़ा आदि रात्रि के आरंभसे बचाये नहीं जा सकते. इसलिये अपने कुतर्कबलसे रात्रिमें भोजन करनेवाले त्रस स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाके भोजन हैं। जो अन्नका बचाव रखते हैं वे कुछ मर्यादा रखते हैं, एक बड़े आरंभसे तो बचे रहते हैं परन्तु शास्त्र दृष्टिसे वे भी रात्रिभोजी होनेसे मार्गोल्लंघी हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंतु उस विरुद्धगमन से लाभ उठाकर अपने कुतर्कबलसे अपेक्षाकृत-लाघवका स्वार्थपूर्ण कथन करते हुए जो अन्नादि समस्त पदार्थों का सेवन करते हैं, वे नितांत उच्छृखल हैं ऐसे पुरुष शास्त्रवचनोंके परिपालक कभी नहीं कहे जा सकते।

पाक्षिक श्रावकके लिये जो औषधि और साथ ही मुखशुद्धिके लिये तांबूल इलायची आदिका कथन है उसके प्रमाणमें ग्रंथांतरका यह श्लोक है— "तांबूलमौषधं तोयं मुक्त्वाहारादिकां क्रियां। प्रत्याख्यान प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत्" जबतक रात्रिके आरंभसे प्रातःकाल न हो जाय तबतक तांबूल औषधि जल इनको छोड़कर अन्य समस्त आहारका परित्याग कर देना चाहिये। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जो लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि रात्रिभोजनका त्याग छठी प्रतिमामें होता है, उससे पहले रात्रिभोजनका त्याग नहीं है, वे स्वार्थसिद्धिवश मिथ्या बोलनेके लिये या तो अति साहस करते हैं अथवा वे बिचारे प्रतिमाओं के स्वरूपसे एवं शास्त्राधार से नितांत अनभिज्ञ हैं। वास्तवमें रात्रिभोजन का त्याग तो पहलीप्रतिमामें ही हो जाता है, पाक्षिकश्रावक भी रात्रिभोजन का त्यागी है केवल औषधि जल एवं मुख सुगन्धित करनेके लिए तांबूल सुपारी वह ले सकता है, इतर खाद्य लेह्य पेय स्वाद्य पदार्थों का रात्रिमें उसके भी त्याग बतलाया गया है, फिर दर्शनप्रतिमामें सभी वस्तुओंका त्याग हो जाता है। व्रतप्रतिमामें तो सम्पूर्ण व्रतोंका निरतिचार पालन है ऐसी अवस्थामें पांचवीं प्रतिमा तक रात्रिभोजनका विधान बतलाना मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। रात्रिभोजनत्याग जो छठी प्रतिमाका नाम रक्खा गया है उसका प्रयोजन नव भंगोंके त्यागकी पूर्णतासे है अर्थात् वहांपर वह रात्रिभोजन करनेवालेकी अनुमोदना भी नहीं कर सकता, एवं रात्रिभोजन अच्छा है अथवा कर लेना चाहिये इस बात को वह मनमें भी नहीं ला सकता। क्योंकि छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना इन नव भंगोंसे किया जाता है ।

रात्रिभोज को हिंसा क्यों लगती है ?

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसां ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(अनिवृत्तिः) भोजनका त्याग नहीं करना (रागाद्युदयपरत्वात्) रागादिके उदयके परतंत्र होनेसे अर्थात् रागाधिक्य होनेसे (हिंसां न अतिवर्तते) हिंसाको नहीं बचा सकता है । (हि) तब (रात्रिंदिवं आहरतः) रात्रिदिन खानेवालेको (हिंसा कथं न संभवति) हिंसा क्यों नहीं लगेगी ? अर्थात् उसे अवश्य हिंसा लगती है ।

विशेषार्थ—हिंसा नाम आत्मपरिणामोंके विघातका है । आत्मपरिणामों का विघात रागद्वेषरूप कषायवृत्तिसे होता है इसलिये जिन प्रवृत्तियोंके करनेसे रागकी वृद्धि हो वे सब हिंसाजनक हैं जब कि विवेकपूर्वक किये गये दिवा भोजनमें भी रागाधीन प्रवृत्ति होनेसे हिंसा होती है तब रात्रि-भोजनमें तो जीवरक्षणका विवेक बन ही नहीं सकता । वहां तो तीव्रराग के उदयसे ही प्रवृत्ति होना संभव है इसलिये तीव्र हिंसा अवश्यंभाविनी है और फिर जो रातदिनका विवेक न कर चाहे जब खानेवाला है उसकी वैसी प्रवृत्ति तो सिवा तीव्रागके नहीं हो सकती । इसलिये तीव्ररागके उदयमें तीव्र हिंसाका होना अनिवार्य है ।

शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

अन्वयार्थ—[यदि एवं] यदि ऐसा है कि दिनरात भोजन करनेसे हिंसा होती है [तर्हि] तो [दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः] दिनमें भोजनका परिहार करना योग्य है [तु] और [निशायां भोक्तव्यं] रात्रिमें भोजन करना चाहिये [इत्थं] ऐसा करनेसे अर्थात् दिनमें भोजनका त्याग और रात्रिमें भोजन करनेसे [हिंसा नित्यं न भवति] हिंसा सदैव नहीं होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—शंकाकारका कहना है कि जब रात्रिदिन खानेवालेको तीव्र-रागी कहकर रात्रिभोजनका त्याग बतलाया गया है तब दिनमें ही भोजन करनेका त्याग क्यों न किया जाय ? कारण दिनरातमेंसे एक समयमें भोजन छोड़ना पड़ता है एक समयमें उसका ग्रहण करना भी अनिवार्य है। जब उसका ग्रहण होगा तभी राग होगा जब उसका त्याग होगा तभी रागकी कमी होगी इसलिये रात्रिके चारपहरमें तो भोजन ग्रहण किया जाय और दिनके चारपहरमें उसका त्याग कर दिया जाय क्योंकि चारपहर कहीं छोड़ देना चाहिये। ऐसा करनेसे जो रातदिन भोजन करनेसे सदैव हिंसा हुआ करती है वह नहीं हो सकेगी ?

उत्तर

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(नैवं) इसप्रकार कुतर्क नहीं करना चाहिये (हि) क्योंकि (वासरभुक्तेः) दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रिमें भोजन करनेपर (रागः अधिक भवति) राग अधिक होता है (अन्नकवलस्य भुक्तेः) अन्नके ग्रासके खानेकी अपेक्षा (मांसकवलस्य भुक्तो इव) मांसके ग्रासके खानेमें जैसे अधिक राग होता है।

विशेषार्थ—शंकाकारने जो ऊपर रातदिनमें भोजनमें समान दोष बतलाकर रात्रिभोजनका विधान और दिवा भोजनका निषेध बतलाया था उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार विपरीतमार्गका अनुसरण करना ठीक नहीं है, यह बात हेतुपूर्वक सिद्ध है कि दिनकी अपेक्षा रात्रिभोजनमें अधिक राग है। जिसप्रकार अन्नकी अपेक्षा मांसके खानेमें अधिक राग है। यह बात हम पहले कह चुके हैं कि जो विशेष पापरूप कार्य हैं उनके सेवन करनेमें तीव्रराग होता है कारण जो पदार्थ निषिद्ध है फिर उसमें प्रवृत्तिका होना बिना किसी विशेष बलवती प्रेरणाके नहीं हो सकता। इसलिये पापिष्ठ एवं निषिद्ध पदार्थों में प्रवृत्ति देखकर यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुमान सहज हो जाता है कि वैसी घृणित प्रवृत्तिमें तीव्ररागकी प्रेरणा है। बिना तीव्ररागके उदय हुये निषिद्ध पदार्थमें समझदार पुरुष प्रवृत्ति करेगा ही क्यों ? तथा जो पदार्थ विशेष हिंसाका उत्पादक है एवं हिंसामय ही जिसका स्वरूप है उसका सेवन महान् पापवर्धक है, ऐसे पदार्थों के सेवनका ही दयालु महर्षियोंने निषेध किया है। मांस साक्षात् जीवका कलेवर है और निरंतर अनंत जीवोंकी उत्पत्ति उसमें सदैव होती रहती है, ऐसे महा घृणित जीवपिंडका भक्षण करना महा पापवर्धक हिंसाका कारण है इसीलिये उसका सबसे प्रथम सर्वथा त्याग बतलाया गया है। जैन-शास्त्रकारोंने बिना मांसका त्याग किये जैनधर्म धारणकी ही अशक्यता बतला दी है। इसीलिये अष्ट मूलगुणधारी जैनमात्रके लिये उसका परित्याग आवश्यक है। फिर भी जो सर्वथा निषिद्ध—मांसके सेवन करनेमें तत्पर हो जाते है उन्हें सिवा तीव्ररागीके और क्या कहा जा सकता है। निषिद्ध पदार्थोंमें तीव्रमोही आत्मा ही प्रवृत्त होता है अन्न सात्विक पदार्थ है, मांस महा विकृत है उसके स्पर्शमात्रसे मनुष्य हिंसाका भाजन बन जाता है। इसलिये जिसप्रकार अन्नके भोजनमें विशेष राग नहीं है किंतु मांस के खानेमें तीव्रराग है इसलिये अन्नभोजीको हिंसा नहीं लगती और मांसभोजीको तीव्र हिंसा लगती है उसीप्रकार दिवाभोजी और रात्रिभोजी दोनोंमें रात्रिभोजीको अधिक रागी होनेसे तीव्रहिंसा लगती है। कारण कि भोजनका ग्रहण करना अनिवार्य होनेपर भी दिवाभोजी निरीक्षणादि प्रयत्नसे जीवरक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ है प्रकाश अवलोकन आदि उसे साधन मिले हुए हैं परंतु रात्रिभोजी प्रयत्न करनेपर भी जीवरक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ है। रात्रिमें उसे प्रकाश अवलोकन आदिका मिलना भी कार्यकारी नहीं है। रात्रिके प्रकाशमें जीवसंचारका ही आधिक्य है इसलिये रात्रिभोजी किसीप्रकार हिंसासे मुक्त नहीं हो सकता। तथा जो रात्रिभोजी हैं उनके जीवरक्षाके भाव भी नहीं उत्पन्न होते, यदि वास्तवमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके जीवरक्षाके भाव होते तो क्यों नहीं वे रात्रिभोजन छोड़ते ? हर समय तो कोई खाता नहीं रहता और न हर समय कोई खा ही सकता है ऐसी अवस्थामें जीवरक्षाका भाव रखनेवालोंको भोजन करनेके लिये दिन तो मिला हुआ है। फिर भी जो दिनका भोजन छोड़कर रात्रिमें ही भोजन करनेमें सुख समझते हैं वे जीवरक्षाके भावसे सर्वथा दूर हैं और तीव्ररागी होनेसे पूर्ण हिंसक हैं।

रात्रिभोजनमें अनिवार्य जीवहिंसा

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां।
अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनां ॥१३३॥

अन्वयार्थ—[आर्कालोकेन विना] सूर्यके प्रकाशके विना रात्रिके अंधकारमें [भुंजानः] भोजन करनेवाला [प्रदीपे बोधिते अपि] दीपकके जला लेनेपर भी [भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनां] भोजनमें प्रीतिवश गिरनेवाले सूक्ष्म जन्तुओंकी [हिंसां] हिंसाको [कथं] कैसे [परिहरेत्] बचा सकता है ? अर्थात् नहीं बचा सकता।

विशेषार्थ—रात्रिमें भोजन करनेवाले लोग जीवहिंसासे किसी प्रकार बच नहीं सकते, कारण कि रात्रिमें सूर्यका प्रकाश तो रहता ही नहीं है। बिना सूर्यके प्रकाशके नेत्रइंद्रिय पदार्थोंको ठीक ठीक देखनेमें असमर्थ है। इसलिये अंधकारमें बैठकर भोजन करनेवाले पुरुष भोजनकी थालीमें आए हुए प्राणियोंको कैसे देख सकते हैं ? सूक्ष्म जन्तु तो दूर रहे, बड़े बड़े जीव भी अंधेरेमें नहीं दीख सकते और रात्रिमें बहुतसे छोटे छोटे मच्छर सरीखे जीव जो दिनमें—सूर्यके प्रकाशमें चलते फिरते नहीं किंतु कूड़े कचरेवाले स्थानोंमें कोनोंमें छिपे बैठे रहते हैं वे रात्रिमें निकलते है और भोजनकी सुगन्धि पाकर वहां उड़ उड़ कर पहुंचते हैं तथा भोजनको स्पर्श करते ही द्रवीभूत वस्तुओंपर—दाल, घी, दूध छाछ, रबड़ी साग आदिपर गिरकर मरजाते हैं ऐसे सूक्ष्म जन्तुओंको अंधेरेमें भोजन करनेवाला पुरुष क्या कभी देख सकता है ? कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं देख सकता। यदि वह दीपक सामने रखकर उसके प्रकाशमें भोजन करने बैठता है तो भी उसके प्रकाशमें नेत्रेंद्रियके विषयी पतंगे आदि आ आकर भोजनपर पड़ते हैं। यदि दीपक दूर रक्खा जाता है तो फिर थाली पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता वैसी अवस्थामें अंधेरा हो जाता है फिर भी दीखना कठिन है। प्रकाश पासमें रक्खा जाता है तो दीपकके और प्रकाशमें बड़ेबड़े जीव आ आकर गिरते हैं उनसे सर्वथा बचना नहीं हो सकता इसलिये रात्रिमें भोजन करनेवाला जीवहिंसा ही केवल नहीं करता है किंतु अनेक त्रसजीवोंको साक्षात् भक्षण कर जाता है। जो चिउंटी कीड़ा वगैरह थालीमें रेंगती हुई चढ़ जाती हैं वह भी दृष्टिगत नहीं पड़तीं रात्रि का प्रकाश कितना ही तेजस्वी क्यों न हो उसमें नेत्रेंद्रिय उतना स्पष्ट और यथाभावको नहीं देख सकती जितना कि सूर्यके प्रकाशमें देख सकती है। ऐसी दशामें रात्रिभोजीके पेटमें यदि मकरी चली जाय तो भोजन करनेवालेको कुष्ठरोग हो जाता है। यदि दूध वगैरहमें पड़ी हुई मक्खी चली जाय तो वमन (उल्टी) हो जाती है। यदि शिरका अथवा कपड़ेका जुआं थालीमें गिरकर पेटमें चला जाय तो जलोदर हो जाता है। मुद्गिका खा जानेसे मेदाको हानि पहुंचती है। बिच्छू खा जानेसे तालू में रोग हो जाता है। कांटा वा लकड़ी खा जानेसे गलेमें रोग हो जाता है। भोजनमें बाल (केश) खा लिया जाय तो स्वरभंग एवं गलेमें पीड़ा हो जाती है। ये सम्पूर्णदोष रात्रिमें भोजन करनेवालोंको लगते हैं, कारण दिनमें इन सब जन्तुओंको नेत्रइंद्रियसे सूर्यप्रकाशमें अच्छी तरह देखा जाता है रात्रिमें उनका दीखना अशक्य है। लड्डू आदि पदार्थोंमें भी जो जीव कदाचित् मिल जाते हैं तो उन्हें भी रात्रिमें नहीं देखा जा सकता। फिर रात्रिमें भोजन तैयार करनेमें छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है। जहांपर गरम या ठंडा पानी फेंका जाता है वहांतक जीव रात्रिमें नहीं दीखते, वे सब मर जाते हैं। इसलिये रात्रिमें भोजन करनेवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकशून्य हैं, ऐसे पुरुष नियमसे मरकर दुर्गतिके पात्र बनते हैं। इसलिये प्रत्येक विचारशील दयालु पुरुषको रात्रिभोजन त्यागदेना ही परम आवश्यक है।

रात्रिभोजनत्यागी ही अहिंसापालक है

किंवा बहुप्रलपितैरिति सिद्ध यो मनोवचनकायः।
परिहरति रात्रिभुक्ति सततमहिसां स पालयति ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(बहुप्रलपितैः) बहुतसा कहनेसे (किं वा) क्या फायदा है (इति) इसप्रकार ऊपरके समस्त विवेचनसे (सिद्धं) यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि (यः मनोवचनकायैः) जो मन वचन कायसे (रात्रिभुक्ति परिहरति) रात्रिभोजनका त्याग करता है (सः) वह (सततं अहिंसां पालयति) वह निरन्तर अहिंसाव्रतको पालता है।

विशेषार्थ—अधिक कहना व्यर्थ है जो मन वचन कायसे रात्रिभोजनका त्याग करदेता है वही अहिंसाव्रतका निरंतर पालनेवाला है। हरएक वस्तु का त्याग नवभंगीसे होता है। जो जितने भंगोंसे वस्तुका त्याग करता है वह उतने ही अंशोंका त्यागी कहलाता है। कोई मन वचन काय तीनोंसे त्याग करता है, कोई मनसे त्याग नहीं कर सकता, वचनसे और कायसे करता है। कोई स्वयं करता है, कोई दूसरोंसे भी कराता है, और कोई त्याग नहीं करनेवालेकी प्रशंसा भी नहीं करता, इसप्रकार हरएक वस्तुके त्यागके नौ भंग हैं, उनमें पूर्णत्यागी वही कहा जाता है जो त्याज्य वस्तु का नव भंगोंसे ही त्याग करता है।

रत्नत्रयसेवी मोक्ष पाते हैं

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतंते प्रयांति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(ये स्वहितकामाः) जो अपने हितके चाहनेवाले पुरुष (इति अत्र त्रितयात्मनि मोक्षस्य मार्गे) इसप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्षके मार्गमें (अनुपरतं प्रयतंते) निरंतर प्रयत्न करते हैं (ते अचिरेण) वे शीघ्र ही (मुक्तिं प्रयांति) मोक्षको प्राप्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– अपने हितकी चाहना रखनेवाले जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस त्रितयस्वरूप मोक्षमार्गका निरंतर सेवन करते हैं वे बहुत जल्दी ही मोक्षको प्राप्त करते हैं। रत्नत्रय पालन करने का फल मोक्षप्राप्ति है और वही संसारदुःखका विच्छेद है, संसारदुःखोंका विच्छेद–नाश ही जीवोंका हित है। इसलिये मोक्षमार्गका सेवन करना ही प्रत्येक शरीरधारीका परम कर्तव्य है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके पश्चात् पंचअणुव्रतरूप देशचारित्र का वर्णन किया गया ।

सप्त शील पालनेकी आवश्यकता

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयंति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अन्वयार्थ—[इव नगराणि परिधयः] जिसप्रकार नगरोंकी रक्षा परकोट करते हैं उसीप्रकार [किल] निश्चयसे [व्रतानि शीलानि पालयंति] व्रतोंकी रक्षा शील करते हैं [तस्मात्] इसलिये [व्रतपालनाय] अहिंसा आदि पंचमव्रतोंके पालनकरनेके लिये अर्थात् उनकी रक्षा करनेके लिये [शीलानि अपि पालनीयानि] शील भी पालन करने चाहिये।

विशेषार्थ—पहले समयमें जबकि अपने देशके ही राजा होते थे प्रत्येक नगरकी रक्षाके लिये परकोट बना दिये जाते थे, अर्थात् शहरके चारों ओर बहुत ऊंची मोटी दीवाल खड़ी कर दी जाती थी और चारों दिशाओंमें चार दरवाजे एवं छोटी खिड़कियां रख दी जाती थीं जो कि रात्रिमें बंद कर दी जाती थीं, उनसे परराष्ट्र एवं चोर आदिसे प्रजाकी रक्षा सुगमता से की जाती थी। शास्त्रोंमें इसप्रकार की नगररचनाका वर्णन प्रायः सर्वत्र मिलता है। आजकल भी जैपुर, भरतपुर, कोटा, झालरापाटन आदि पुरातन रजवाड़ोंमें परकोट देखे जाते हैं। तो जिसप्रकार नगरोंकी रक्षा के लिये परकोटका होना आवश्यक है, बिना परकोटके परराष्ट्रसे नगरकी रक्षाका होना अशक्य है उसीप्रकार अहिंसादि अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तशीलोंके पालनेकी भी नितांत आवश्यकता है, विना शीलोंके पालन किये व्रतोंका पालन निर्विघ्न एवं निर्दोष रीतिसे नहीं बन सकता। सात शीलोंमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत लिये गये हैं। उनमें दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इन्हीं सातोंको शीलव्रत कहते हैं। अर्थात् पांचों अणुव्रतोंकी हरप्रकारसे रक्षा करना ही इनका स्वभाव है इसलिये इनका नाम शीलव्रत है। जिससमय आत्मा दिशा आदिकी मर्यादा करलेता है, विना प्रयोजनके हिंसाके कारणोंमें नहीं प्रवृत्त होता है, सामायिक आदि द्वारा मनको पवित्र बना लेता है, भोग उपभोगादिकोंका परिणाम कर तृष्णाको घटा डालता है उस समय उसकी प्रवृत्ति सुतरां ऐसी बन जाती है कि हिंसा झूठ आदि पाप उस आत्मासे बनता ही नहीं। प्रत्युत अहिंसा सत्य आदि व्रतोंमें दृढ़ता हो जाती है। इसलिये व्रतोंका पालन करनेवालोंको शीलोंका पालन करना परमावश्यक है। अब उन्हींका विवेचन किया जाता है।

दिग्व्रतका स्वरूप

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य[1]।
सकलाऽसंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णं ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः) सुप्रसिद्ध संकेत स्थानों द्वारा (सर्वतः अपि) समस्त दिशाओंमें ही (मर्यादां प्रविधाय) मर्यादा करके (प्राच्यादिभ्यः) पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंसे (अविचलिता विरतिः कर्तव्या) दृढ़रूप कभी विचलित नहीं होनेवाली विरक्ति लेना चाहिये। (इति) इसप्रकार (यः) जो नियमितदिग्भागे) नियत दिशाओंके विभागोंमें (प्रवर्तते) प्रवर्तन करता है (तस्य) उस पुरुषके (ततः बहिः) उस मर्यादित

१. किन्हीं २ प्रतियोंमें 'तस्याः' यह भी पाठ है परंतु उसके माननेपर 'ततः' पद व्यर्थ पड़ता है इसलिये 'तस्य' यही पाठ शुद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रमें बाहर (सकलासंयमविरहात्) सम्पूर्ण असंयमका अभाव होनेसे (पूर्ण अहिंसाव्रतं भवति) पूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रतमें दिशाओंका परिमाण कर लिया जाता है कि पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे आदि दशों दिशाओंमें अमुक क्षेत्र, अमुक नगर, अमुक ग्राम, अमुक नदी, अमुक पर्वत, अमुक जंगल तक हम जा सकते हैं। इस नियत क्षेत्रसे आगे अपने किसी भी स्वार्थसाधनके लिये आगे नहीं जायेंगे। कोई भी निजी प्रयोजन कभी क्यों न हो, दिग्व्रती नियतक्षेत्रसे आगे नहीं जायेगा और न पत्रव्यवहारादि कारणकलापोंद्वारा बाह्यक्षेत्रसे संबंध ही रक्खेगा। इसलिये मर्यादितक्षेत्रसे बाहर उस दिग्व्रतीके न कभी त्रसहिंसा ही हो सकती है और न स्थावरहिंसा ही हो सकती है, ऐसी अवस्थामें उसके मर्यादितक्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें महाव्रत पल जाते हैं। इसलिये दिग्व्रतीको एक अंशमें उपचारसे महाव्रती कहा जाता है। यहांपर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब मर्यादाके बाहर त्रसहिंसा स्थावरहिंसा दोनों प्रकारकी हिंसाका दिग्व्रती के सर्वथा परित्याग है तो फिर वह उपचारसे महाव्रती क्यों मुख्यरूपसे महाव्रती क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उसे मुख्य महाव्रती इसलिये नहीं कहा जा सकता कि वह अभी वास्तवमें तो देशव्रती है, महाव्रतका विरोधी प्रत्याख्यानावरण कषाय अभी उसके उदयमें आ रहा है कि सकलसंयमका विघातक है। इसलिये मर्यादितक्षेत्रके बाहरकी अपेक्षा भी उसे मुख्यतासे महाव्रती नहीं कहा जा सकता। तीसरे महाव्रत नग्न दिगम्बर अवस्थामें होता है। दिग्व्रती गृहस्थके वह बाह्यनिमित्त भी अभी नहीं है। मर्यादाके भीतर तो वह हिंसासे बच ही नहीं सकता, कारण आरंभ आदि कारणोंसे स्थावरहिंसा व विरोधिनी त्रसहिंसा भी उससे हो जाती है। इसलिये उसे मुख्यतासे महाव्रती किसी अवस्थामें नहीं कहा जा सकता। परंतु मर्यादाके बाहर वह सब प्रकारका सर्वथा संबंध छोड़ देता है इसलिये उस क्षेत्रमें उससे त्रस स्थावर दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारकी हिंसाका परित्याग हो जाता है ऐसी अवस्थामें उसे उपचारसे महाव्रती कहना असंगत नहीं है। क्योंकि महाव्रतमें भी त्रस स्थावर दोनों हिंसाओंका परित्याग है, वह दिग्व्रतीके कुछ अंशोंमें हो जाता है इसलिये उपचरित महाव्रती उसे कह दिया जाता है। जो स्थान सदा रहनेवाले होते हैं और प्रसिद्ध होते हैं उन्हीं स्थानोंको वह अपनी मर्यादा का चिह्न बना लेता है। ऐसे चिह्न हरएक दिशामें प्रसिद्ध प्रसिद्ध चीजोंके बना लिये जाते हैं, जैसे दक्षिणमें जानेवाला यह चिह्न बना सकता है कि मैं दक्षिण दिशामें बम्बई नगरसे आगे कभी नहीं जाऊंगा और न उससे आगेके स्थानादि किसी वस्तुसे किसी प्रकारका संबंध ही रक्खूंगा। इसी-प्रकार किसी दिशामें प्रसिद्ध पर्वत, किसीमें नदी, किसीमें जंगल, किसीमें योजनों (कोशों) का परिमाण आदिसे प्रत्येक दिशामें नियमितरूप दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली जाती है और वह सदाके लिये की जाती है।

देशव्रतका स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनां।[1]
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमण देशात् ॥१३९॥
इति विरतौ बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विपुलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अन्वयार्थ—[चतत्रापि] और उस दिग्व्रतमें भी [ग्रामापणभवनपाटकादीनां] ग्राम बाजार भवन–घर पाटक–ग्रामका कुछ हिस्सा आदि स्थानोंकी [परिमाणं] मर्यादाको [नियत-कालं प्रविधाय] किसी समयविशेष पर्यंत धारण करके [देशात् विरमणं करणीयं] देशसे विरक्ति कर लेना चाहिये। [इति बहुदेशात् विरतौ] इसप्रकार बहुदेशसे विरक्ति हो जानेपर [तदुत्थं हिंसाविशेषपरिहारात्] उस बहुदेशमें होनेवाली हिंसाविशेषका परित्याग हो जानेसे [तत्कालं विमलमतिः] उस समयतक वह निर्मलबुद्धिका धारी–देशव्रती [विशेषेण] विशेष-रूपसे [अहिंसां श्रयति] अहिंसाको पालता है।

विशेषार्थ—जो मर्यादा दिग्व्रतमें ली जाती है, देशव्रतमें उसके भीतर ली जाती है, जैसे दिग्व्रतमें दक्षिणमें जानेकी मर्यादा किसीने बंबई तक

१–किसी किसी प्रतिमें 'वाटिकादीनां' यह भी पाठ है, वहां उसका अर्थ 'बगीचा आदि' करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ली थी अब देशव्रतमें वह उस बंबईसे भी कुछ कालके लिये कमक्षेत्र रख-लेता है, जैसे दो महीना या एक महीनाके लिये मैं मनवाड़ या भुसावलसे आगे नहीं जाऊंगा और न कोई संबंध उससे आगे उतने काल तक रक्खूंगा। इसीप्रकार जो जो मर्यादायें दिग्व्रतमें ली जाती हैं, देशव्रतमें उनसे भी अधिक घटाई जाती है, इतना विशेष है कि यह घटना किसी समयविशेषके लिये ही होती है, जिसप्रकार कि मैं एक घंटा अपने बगीचेसे बाहर नहीं निकलूंगा, एक दिन अमुक गलीसे बाहर नहीं बढ़ूंगा, एक सप्ताह आधे गांवतक ही अपना प्रयोजन रक्खूंगा, एक महीना या एक वर्षमें बारह कोशसे (तीन योजन) आगे किसी दिशामें नहीं जाऊंगा। इसप्रकार जो थोड़े थोड़े समयके लिए प्रतिदिन या महीना या वर्ष दिनमें जो मर्यादा किसी किसी क्षेत्र विशेष तकके लिये कर ली जाती है उसे देशव्रत कहते हैं। दिग्व्रतमें और देशव्रतमें इतना भेद है कि दिग्व्रत एक बार किया जाता है और वह सदाके लिये-जीवनपर्यंत नियत हो जाता है, उसमें काल बढ़ नहीं सकता है और न क्षेत्र ही बढ़ सकता है परंतु देशव्रत प्रतिदिन किया जाता है, उसकी मर्यादा दिग्व्रतमें नियत क्षेत्रकालके भीतर ही की जाती है और एक दिन कम तो दूसरे दिन अधिक भी की जा सकती है भावार्थ–दिग्व्रत व्यापक होता है देशव्रत व्याप्य होता है, अर्थात् दिग्व्रतकी मर्यादाका क्षेत्र विशाल होता है, देशव्रतकी मर्यादाका क्षेत्र उसके भीतर ही होता है बाहर नहीं।

इस देशव्रतके पालनेसे अहिंसाव्रतका पालन अच्छी तरह विशेषता से होता है कारण दिग्व्रतमें जितनी मर्यादा की जाती है उसके भीतर तो दिग्व्रती त्रसस्थावर हिंसाका आरंभादिक करता ही रहता है परंतु देशव्रत में उस दिग्व्रतके भीतर भी नियतकाल तक मर्यादा लेकर देशव्रती हिंसा से बच जाता है। इसलिये वह उस कालमें निर्मलबुद्धिका धारी अर्थात् विशुद्धपरिणामवाला बनजाता है, तथा विशेषतासे अहिंसाव्रतका पालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है क्योंकि मर्यादित क्षेत्रके बाहर कषाय उत्पन्न होनेका भी निमित्त नहीं रहता। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को इसप्रकारके व्रत धारण करके रात दिनके हिंसाजनित पापोंसे बचना चाहिये।

अपध्यान—अनर्थदण्ड व्रतका स्वरूप

पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अन्वयार्थ—[पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः] पापोंकी ऋद्धिस्वरूप अर्थात् अधिक पाप फलको देनेवाले अपना जय दूसरोंका पराजय संग्राम परदारगमन और चोरी आदि ये सभी [कदाचन अपि] कभी भी [न चिन्त्याः] नहीं चिंतवन करने चाहिये [यस्मात्] क्योंकि [केवलं पापफलं भवति] इनके चिंतवन करनेसे केवल पाप ही फल मिलता है।

विशेषार्थ—बिना प्रयोजन जो हिंसा तथा कषायवर्धक कार्य किया जाता है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं अर्थात् जिस कार्यसे अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न होता हो ऐसा राग द्वेष एवं हिंसा करानेवाला कार्य जो किया जाता है वह अनर्थदण्ड कहा जाता है। उस कार्यसे जो पापका संचय होता है वह बिना प्रयोजन जीवके लिये दण्ड है इसप्रकार अनर्थ—बिना प्रयोजन दण्ड मूर्ख ही भोगता है, बुद्धिमान नहीं। वह ऐसे अनर्थदण्ड का त्याग कर देता है। जो ऐसे बिना प्रयोजन राग द्वेष एवं हिंसाके करनेवाले कार्यों का त्याग कर देना है वही अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है। पापोत्पादक क्रियाओंका त्याग कर देना ही व्रत है। जो बिना प्रयोजन खोटा चिंतवन किया जाता है वह अपध्यान कहलाता है, अर्थात् अशुभास्रवको पैदा करनेवाले बुरे चिंतवनको अपध्यान कहते हैं। यह अनर्थदण्ड इसलिये है कि दूसरेका भला बुरा तो उसके शुभ अशुभ कर्मोदयके अधीन है, किसीके चिंतवनसे कुछ आता जाता नहीं। जैसे किसीकी जय और किसीकी पराजय—हारकी चिंता करना, दृष्टांतके लिए दो पहलवानोंको ले लेना चाहिए, उन्हें लड़ते हुये देखकर अपना उनसे कोई सम्बन्ध न होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी यह चिंतवन करना कि इनमें अमुककी विजय हो और अमुककी हार हो तो ठीक है। अरे ! जिसका जो होगा सो होगा, तुम बिना मतलब क्यों रागद्वेष बढ़ाकर कर्मबन्ध बांध रहे हो। इसीप्रकार युद्ध की चिंता करना, अमुक राष्ट्रोंमें अथवा अमुक दोनों भाइयोंमें युद्ध छिड़ जाय तो अच्छा हो यह चिंता करना भी अनर्थदण्ड है। किसीकी स्त्रीको देखकर यह चिंतवन करना कि मैं इसके पास जाता तो अच्छा होता, यह विचार भी बिना प्रयोजन राग बढ़ानेवाला है। किसीकी कोई वस्तु देखकर यह विचार करना कि इसकी वह चीज चोरी चली जाय तो ठीक हो। क्यों भाई ! किसीकी चीज चोरी चली जायगी तो तेरे घरमें क्या आवेगा या उसकी वस्तु चोरीमें चली जानेसे तुझे क्या इष्टकी प्राप्ति होगी। इसके सिवा किसीके लिये मारेजानेकी बात चिंतवन करना, किसीके बांधे जानेकी चिंता करना, किसीके सर्वस्वहरणकी चिंता करना कि उसका सब धन कैसे नष्ट हो इत्यादि अनेक बुरे विचार मनमें लाना अपध्यान–खोटाध्यान कहलाता है इसप्रकारके दुर्विचारोंको छोड़देना ही उचित है क्योंकि इनके चिंतवनसे केवल पापरूप ही फल मिलता है और यही अपध्यान–अनर्थदंडत्याग व्रत कहलाता है।

पापोपदेश-अनर्थदण्डव्रत

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसां ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यं ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसां) विद्या–ज्ञान, वाणिज्य–व्यापार, मषी स्याही, कृषि खेती, सेवा–चाकरी, शिल्प–कलाकौशल इन छह प्रकारके उद्योगों द्वारा आजीविका करनेवाले पुरुषोंके लिये (पापोपदेशानं) पापरूप उपदेशका दान (कदाचित् अपि) कभी भी (नैव वक्तव्यं) नहीं कहना चाहिये।

विशेषार्थ—जो पुरुष विद्याद्वारा आजीविका करते हैं, मंत्र, तंत्र, यंत्र-द्वारा आजीविका करते हैं, ज्ञानको बेचकर द्रव्य पैदा करते हैं, विद्या पढ़ाते समय उपकारबुद्धि न रखकर जो उससे द्रव्य कमाना ही लक्ष्य रखते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सब विद्याव्यवसायी हैं, इसप्रकारका विद्याव्यवसाय कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। शंका की जा सकती है कि जो आजकल पाठशालाओं में अध्यापक छात्रोंको पढ़ाते हैं वे सब क्या विद्याव्यवसायी हैं? उत्तर– वे द्रव्य ठहराकर उसीको आजीविकाका साधन समझकर पढ़ाते हैं इस दृष्टिसे कोई उन्हें भले ही उस कोटिमें सम्हाल कर लेवे परन्तु वास्तवमें जो उपकारबुद्धिसे छात्रोंको उनके कल्याणके लिये एवं समाज एवं धर्मकी रक्षाकी दृष्टिसे धर्मपूर्णज्ञानका उपदेश देते हैं, उसीका अध्ययन कराते हैं, उस कार्यसे अवकाश न पाकर निर्वाहार्थ द्रव्यका ग्रहण करते हैं इसलिये वे अध्यापक विद्याव्यवसायी नहीं हैं, यदि उन्हें विद्याव्यवसायी समझ लिया जाय तो फिर गुरुशिष्यसंबंध उनका नहीं रह सकता है, कारण विद्याको यदि बेचना ही लक्ष्य हो तो वहां देनेवाला भी अपने लिए गुरुत्वबुद्धिका अनुभव नहीं कर सकता और लेनेवाला छात्र भी उस देनेवालेकी शिष्यता स्वीकार नहीं कर सकता, परंतु ऐसा देखा नहीं जाता है, बड़े बड़े राजपुत्र भी गुरुओंके निर्वाहार्थ उन्हें द्रव्य देकर भी उनके चरणोंमें शिर धरते हैं, उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं तथा मनमें भी उनका परम उपकार समझते हुए उनकी शिष्यता स्वीकार करते हैं, इसलिए कहना चाहिये कि आजकल पाठशाला आदिका अध्यापन भी निरपेक्षदृष्टिसे धर्मलाभार्थ छात्रोंको पढ़ा देना और उनकी दी हुई भेंटको सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेना उसी प्राच्यमार्गका कुछ परिवर्तित रूप है, देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोंके परिणामोंमें पूर्ण सन्तोषकी मात्रा न रहने से केवल सुविधा रखनेके लिए द्रव्य निर्वाहार्थ मिलते हुए भी उसे ठहरा लिया जाता है। वास्तवमें तो दिनभर पाठक छात्रोंको पढ़ाता है, इसलिये अन्य किसी व्यापारद्वारा द्रव्य कमानेका उसे अवकाश ही नहीं मिल पाता, ऐसी अवस्थामें पढ़नेवाले उसकी गृहकार्य चलानेकी चिंताको नियतरूपसे कुछ द्रव्य देकर दूर करते रहते हैं, वैसी अवस्थामें उनका पठन पाठन सदा निर्विघ्नरूपसे चला जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यासे आजीविका वहां कही जाती है जहां कि उसका खर्च करना माप तौलमें ग्रहण किया जाता है, जैसे कोई हारमोनियम सिखलानेका व्यवसाय करता है, उसने नियत कर दिया है कि इतना ज्ञान करानेपर इतने रुपये लूंगा और इतना ज्ञान करानेपर इतने रुपये लूंगा, सामान्यरूपसे स्वरोंका ज्ञान करानेपर १०) रुपये, एक चौतालाका स्वर सिखानेपर २०) और हरएक स्वर निकालना सीख जानेपर१००) रुपये लूंगा उसमें भी५) पेशगी लूंगा। इसप्रकारकी जहां ज्ञान करानेकी माप तौल ठहरा दी जाती है, जिसकी इच्छा आती है वह उतना सीख जाता है और उतने ही ज्ञानके नियत रुपये देकर चला जाता है, साथ ही सिखानेवाला ही सीखनेवालेको उच्चासन देता है गुरु शिष्य भाव नहीं रहता प्रत्युत सिखानेवाला अपने गुणकी प्रशंसा करता है कि मैं अच्छी तरह सिखा दूंगा इसलिये मेरे ही पास सीखो, बस ऐसे ही उदाहरण विद्याव्यवसायके हैं, परंतु पाठशालाओंमें ज्ञान बढ़ानेका कोई नियमित मूल्य नहीं है और न पढ़ानेवालेकी आत्मामें द्रव्य ग्रहण करनेपर भी कुछ अवनति है, प्रत्युत वह छात्रोंको दंड भी देता है फिर भी उसकी गुरुताका महत्त्व उन (छात्रों) की दृष्टिमें भरा रहता है। हां! आजकल जो एक दो घंटेकी समयनियति और पुस्तकोंकी नियतिसे प्रत्येक बुलानेवालेके घरपर जाकर जो अंग्रेजी आदि लौकिक विद्यायें ट्यूशनके नामसे पढ़ा दी जाती हैं, यह मार्ग उत्तम मार्ग नहीं कहा जा सकता, कारण पाठशालायें तो गुरु आश्रमके स्थानापन्न हैं इसलिये वहां पढ़ने की इच्छा रखनेवाले स्वयं आते हैं परंतु ट्यूशनोंमें स्वयं अध्यापक छात्रों के घरोंपर जाता है, ऐसी अवस्थामें पाठकोंका न तो उन बालकोंके हृदयमें महत्त्व ही रहता है और न गुरुओंकी आत्मामें ही निजका समुन्नत महत्त्व रह सकता है। यहां पर अन्य आजीविकाका समय और व्यवसाय रहते हुए भी घंटे दो घंटे पढ़ाकर उस मार्ग से भी आजीविका करनेका लक्ष्य है परंतु पाठशालाओं एवं विद्यालयोंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पठनपाठनरूप उपकारवृत्ति के सिवा अन्य आजीविका करनेका समय ही नहीं है, दिनभर पढ़ाना ही मुख्य है ऐसी अवस्थामें निर्वाहार्थ द्रव्य ग्रहण करना दूषितकोटि नहीं है। जिसप्रकार कि छात्रवृत्ति पाकर विद्या पढ़नेवाला छात्र पढ़ना ही मुख्य लक्ष्य रखकर निर्वाहार्थ द्रव्य लेकर भी विद्याव्यवसायी नहीं कहा जाता उसी प्रकार पढ़ाना ही मुख्य लक्ष्य रखनेवाला पाठक भी विद्याव्यवसायी नहीं कहा जा सकता। हां! यदि कोई दूसरा आजीविकाका मार्ग हो तो फिर जिन्हें घंटा दो घंटा छात्रोंको पढ़ाकर इनका उपकार करना है उन्हें तो बिना कुछ लिये केवल उपकारदृष्टिसे ही पढाना योग्य है, और वही प्रशंसनीय मार्ग है।

जो लोग मंत्र तंत्र यंत्रोंद्वारा व्यवसाय करते फिरते हैं वे भी विद्याव्यवसायी हैं।

वाणिज्य व्यवसाय वहां कहा जाता है जहांपर कि वस्तुओंका खरीदना और बेचना होता है अर्थात् स्वल्पमूल्यमें कोई वस्तु खरीदी जाय अधिक मूल्यमें बेचदी जाय अथवा बाजारभाव गिरनेपर अधिक मूल्यमें खरीदी हुई वस्तु भी स्वल्पमूल्यमें बेचकर उसके बदलेमें दूसरी वस्तु खरीदकर लाभ उठाया जाय इसप्रकार का क्रयविक्रय—खरीदना बेचना जो करते हैं वे वाणिज्य व्यवसायी हैं, उन्हींको वणिक्वृत्ति करनेवाले—वैश्य कहते हैं। वैश्योंका प्रधान कार्य इसीप्रकार लेन देन रूप व्यापार करने का है। इस वाणिज्यके भी उत्तम मध्यम जघन्य एवं अधम आदि भेद हैं। जो स्याहीके द्वारा आजीविका की जाती है वह मषीवृत्ति है—जैसे मुनीमी करना, दफ्तरोंमें क्लर्की करना आदि। कृषि नाम खेतीका है जहांपर खेती के द्वारा आजीविका की जाती है वह कृषिवृत्ति है। सेवा करना—किसीका वेतन लेकर टहल चाकरी करना सेवावृत्ति कही जाती है। मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, अविरतसम्यग्दृष्टि आदि धार्मिक पुरुषों की धर्मभक्ति वश बिना कुछ निजी प्रयोजन रखते हुए जो सेवा की जाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वह सेवावृत्ति नहीं कही जाती, उसे वैयावृत्य कहते हैं। इस वैयावृत्ति की अपार महिमा है, इस प्रकारकी सेवा करनेवालोंकी आत्मा तो अत्यन्त गौरवशाली एवं समुन्नत होती है। सेवावृत्ति आजीविकासे संबंध रखती है। जैसे--कि नाई धोबी आदि करते हैं। नानातरहकी कारीगरीसे आजीविका चलाना शिल्पवृत्ति है जैसे सुनार लुहार आदि करते हैं।

इसप्रकार विद्या, वाणिज्य, मषी, कृषि, सेवा और शिल्प, इन मार्गों के द्वारा जो आजीविका करनेवाले पुरुष हैं उन्हें कभी भी पापबंधका उपदेश नहीं देना चाहिये। क्योंकि ये समस्त बातें सुतरां आरंभजनित हिंसाके करानेवाली हैं, फिर उनके विषयमें अधिक आरंभ एवं अधिक हिंसाका बढ़ानेवाला निकृष्ट उपदेश देना जैसे कि--इस मंत्रसे अमुक व्यक्तिको दुःख पहुंच सकता है और तुम्हें अर्थलाभ हो सकता है, इस मंत्रसे अमुकको रोगग्रसित बना दो फिर तुम्हीं उसका इलाज करके अर्थ-लाभ कर सकते हो, इस देशमें पशु कमती हैं दूसरे देशोंसे लाकर यहां बिक्री करो अधिक लाभ होगा, वधिक लोगोंको यह उपदेश देना कि तुम अमुकदेशसे पशु ले आओ, वहां थोड़े मूल्यमें मिलेंगे। किसीसे कहना कि यहां नौकर नौकरानी अधिक पाये जाते हैं इन्हें यहांसे थोड़ा द्रव्य देकर ले लो और परदेशमें जहां जरूरत है--दक्षिण, अफ्रीका आदि कुलीपृथा रखनेवाले स्थानोंमें बहुत द्रव्य लेकर पहुंचा दो। किसानोंसे कहना कि तुम पृथ्वीको खूब खोदो, वहांकी पृथ्वी उपजाऊ है, आसपासके वृक्ष उखाड़ दो, घास आदि व्यर्थकी वनस्पतिओंको जला डालो इत्यादि प्रकार से हिंसाको बढ़ानेवाले आरंभका उपदेश पापोपदेश नामा अनर्थदंड है। उसका त्याग कर देना पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

पापचर्या अनर्थदंडव्रत

भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनांबुसेचनादीनि ।
निःकारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—(भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनांबुसेचनादीनि) पृथ्वीको खोदना, वृक्षोंको उखाड़ना, घास आदिको खूंदना या नष्ट भ्रष्ट करना, जलको फैंकना, इन कार्योंको (च) और (दलफलकुसुमोच्चयान् अपि) पत्ते, फल, फूल इनके ढेरोंको भी (निःकारणं न कुर्यात्) बिना कारण नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—बहुतसे पुरुष प्रमादमें बैठे बैठे सुस्तीमें आकर वृक्षोंको उनकी डालियोंको उखाड़ देते हैं, पृथ्वीको खोदते रहते हैं, बगीचामें बैठे हैं वहांकी घासको ही तोड़ रहे हैं, किसी नदी या तालके किनारे बैठकर बिना कारण पानीको ही इधर उधर फेंक रहे हैं, कहीं रास्तेमें चलते हुये वृक्षोंके पत्ते, फल फूलोंको तोड़ तोड़कर इकट्ठे ढेर लगा रहे हैं, ये समस्त कार्य बिना प्रयोजन किये जांय तो सिवा जीववध होनेके क्या लाभ हो सकता है ? वृक्षादि–पुष्पादिके उखाड़नेसे, पृथ्वीके खोदनेसे, पानीके फैलानेसे स्थावरहिंसा होनेके सिवा उनके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंका भी घात होता है, इसलिये ऐसे प्रमादाचरणरूप अनर्थदंडको कभी नहीं करना चाहिये। व्यर्थ ही वनस्पति आदिके आरंभ नहीं करनेका नाम ही प्रमादचर्या–अनर्थदंडत्यागव्रत है।

हिंसादान–अनर्थदण्डव्रत

असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनां ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनां) असि-तलवार, धेनु-छुरी, विष-जहर, हुताशन-अग्नि, लांगल–हल, करवाल–खड्ग, कार्मुक–धनुष, आदि शब्दसे कुंत क्रकच मुद्गर पाश–जंजीर कांटा कुश दंडा रस्सा पींजरा कठैरा आदि वस्तुयें (हिंसायाः उपकरणानां) हिंसाके उपकरण-सामग्री हैं इनका (वितरणं) दूसरोंको देना (यत्नात् परिहरेत्) प्रयत्नपूर्वक बंद कर देना चाहिये।

विशेषार्थ—बहुतसे पुरुष तलवार आदि वस्तुओंको दूसरोंको देते फिरते हैं, बहुतसे पशुओंको मारने बांधनेवाली चीजें–पींजरा कठैरा आदि बांटते हैं अथवा मंगेनू दे देते हैं ये सब चीजें सिवा दूसरे जीवोंको कष्ट पहुंचानेके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और किसी काममें नहीं आ सकतीं, इसलिए इन मारने बांधनेवाले हिंसाके उपकरण–हिंसाकी सामग्रीको दूसरोंको दे देनेसे व्यर्थ ही उनसे की जानेवाली हिंसाका भागीदार बनना पड़ता है। बहुतसे लोग ऐसे देखे जाते हैं जो चूहोंको पकड़नेवाले पींजरोंको घर घर पहुंचाते हैं, बहुतसे मक्खियां मच्छर जूआं बिच्छू बर्र आदि विषैले जीवोंके मारनेवाले विषैले पदार्थोंका प्रयोग बतलानेके साथ स्वयं अपने पाससे वे चीजें दे देते हैं। बहुतसे किन्हीं जीवोंको ध्वंस करनेके लिये अपने यहांसे अग्नि दे देते हैं। इत्यादिरूपसे जो प्रवर्तन करते हैं वह सब हिंसादान नामा अनर्थदंड है इसलिये ऐसे बिना प्रयोजनके हिंसादानका त्याग करना हिंसादान-अनर्थदंडत्यागव्रत है। साक्षात् जीवोंकी जान लेनेवाले इन प्रयोगोंसे जहांतक हो प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिये।

दुःश्रुति—अनर्थदंडव्रत

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानां।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(रागादिवर्धनानां) रागादिको बढ़ानेवाली (अबोधबहुलानां) अज्ञानसे भरी हुई (दुष्ट कथानां) दुष्ट कथाओंका (श्रवणार्जनशिक्षणादीनि) सुनना सुनाना पढ़ना पढ़ाना आदि (कदाचन) कभी भी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—दुःश्रुति नाम खोटी खोटी बातोंके सुनने सुनानेका नाम है अर्थात् जिन बातोंके सुननेसे रागद्वेषकी वृद्धि होती हो जैसे शृंगाररसके बढ़ानेवाली कथायें, युद्धकी बातें, भोजनकी कथायें, राजाओंकी बातें, देशकी बातें, जिन बातोंके सुनने सुनानेसे बिना प्रयोजन रागद्वेष बढ़ता हो, उपन्यासादि झूठे किस्से कहानियोंका पढ़नापढ़ाना, झूठे शास्त्रोंका सुनना सुनाना दूसरोंको उनकी शिक्षा देना आदि सब दुष्ट कथायें कहलाती हैं, इन कथाओंसे पुण्यास्रव नहीं होता किंतु पापास्रवकी वृद्धि होती है। कथायें और जीवन-चरित्र वे ही सुनने चाहिये जिनसे अपने जीवनमें कुछ शांति मिलती हो एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याण हो, यदि कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे इन कथाओंसे किसीको कोई शिक्षा भी मिल जाय तो भी ये दुष्टकथायें बहुलतासे संसारमें अज्ञानको ही बढ़ानेवाली हैं—जैसे नाटक देखनेवालोंमें किसी किसी पुरुषको शिक्षा भी मिल जाती है अर्थात् उसके फलाफलपर वह अपनी प्रवृत्तिको तदनुरूप बना डालता है परंतु बहुलतासे उन नाटकोंसे कुशिक्षा-कामादि विकारी भावोंकी ही उत्पत्ति होती है। इसलिये नाटकादिको देखना बहुभाग में अज्ञानका ही वर्धक है। इसीप्रकार दुष्टकथाओंका सुनना सुनाना भी अज्ञानका ही वर्धक है इसलिये उनका छोड़ना ही हितकारी है। उनके छोड़नेको ही दुःश्रुति-अनर्थदंड त्यागव्रत कहा जाता है।

द्यूत—अनर्थदंड त्यागव्रत

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात् परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतं ॥१४६॥

अन्वयार्थ – [सर्वानर्थप्रथमं] संपूर्ण अनर्थोंमें पहला [शौचस्य मथनं] संतोषवृत्तिका नष्ट करनेवाला [मायायाः सद्म] मायाका घर [चौर्यासत्यास्पदं] चोरी और झूठका स्थान ऐसा [द्यूतं] जूआ खेलना [दूरात् परिहरणीयं] दूरसे ही छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ—जुआ खेलना भी अनर्थदंड है, कारण इसके खेलनेसे भी बिना प्रयोजन पापबंध होता है जिसप्रकार गाड़ीमें जुआ (जो बैलोंके कंधेपर रक्खा जाता है) सबसे आगे रहता है उसीप्रकार यह जुआ खेल भी समस्त अनर्थों में पहला अनर्थ समझा जाता है। जुआ खेलनेवाला किसी अनर्थसे बच नहीं सकता क्योंकि जो अन्यायका पैसा आता है उससे अन्यायके कार्य ही किये जाते हैं। पहले तो जुआरियोंकी संगति महा नीच होती है, वह मनुष्यसे चाहे जैसा अनर्थ करानेपर उतारू रहती है, जुआ खेलनेमें यदि हार होती है तो जुआरी अपने घरकी सब चीजोंको स्त्रीके गहने आदि भी यहांतक कि घरको भी बेच देता है, फिर भी पूर्ति नहीं होती है तो चोरी करता है, पकड़ा जानेपर अनेक झूठसे काम लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, यदि जुआमें द्रव्य अधिक कमा लेता है तो दुःसंगतिके प्रभाव और अन्यायी बुद्धि हो जानेके कारण वह वेश्या आदिके यहां जाता है, वहां शराब आदि अभक्ष्यवस्तुको भी पीताखाता है। इत्यादि जितने भी संसार में अनर्थ हैं जुआरीसे कुछ भी नहीं बचते, इसलिये जुयेको सब अनर्थों का सरदार बताया गया है। जुआ खेलना महा असंतोष पैदा करना है, इस कार्यसे इतनी लोभवृत्ति हो जाती है कि वह उसे किसी हालतमें छोड़ नहीं सकता, चाहे हार हो, चाहे जीत हो, उसमें तृष्णावश फंसा ही रहता है इसलिये जुएसे संतोषभाव तो आत्मासे सर्वथा विदा हो जाता है। वैसी अवस्थामें आत्मा मलिनताका घर बन जाता है। संसारमें मायाचार बहुत बुरा है परन्तु जुआ खेलनेवाला पक्का मायाचारी होता है, उसके बिना उसका काम ही नहीं चलता, इसप्रकार समस्त पापकर्मों का मूलभूत जो जुआ है इसे दूरसे ही छोड़ना चाहिये, जुएवालोंके कभी पास भी नहीं जाना चाहिये, इस जुएको सर्वथा छोड़ना—द्यूत—अनर्थदण्ड-त्याग व्रत है।

अनर्थदण्डत्यागी अहिंसाव्रती है

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदंडं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्वयार्थ—[यः] जो पुरुष [एवं विधं] इसप्रकार [अपरमपि] दूसरे भी [अनर्थदंडं ज्ञात्वा] अनर्थदंडोंको जानकर उन्हें [मुंचति] छोड़ देता है [तस्य] उस पुरुषका [अहिंसाव्रत] अहिंसाव्रत [अनिशं] निरन्तर [अनवद्यं] निर्दोष [विजयं] विजयको [लभते] प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष ऊपर कहेहुए अनर्थदंडोंको छोड़ देता है तथा दूसरे और भी जो अनर्थदण्ड समझे जाते हैं उन्हें समझकर छोड़ देता है उसीका अहिंसाव्रत निरंतर निर्दोष पलता है। जो अनर्थदण्डका त्यागी नहीं है उस पुरुषसे कभी भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसाव्रतका नहीं पलना हिंसामें प्रवृत्ति रखना है उससे आत्माको पापों का घर बनाना है, उसका परिणाम दुर्गतिको प्राप्त होना है इसलिए सुगति एवं आत्मीय पवित्रता चाहनेवालोंको अनर्थदण्डत्यागी बनना परमावश्यक है।

इसप्रकार ऊपर तीन गुणव्रतोंका निरूपण किया गया, अब चार शिक्षाव्रतोंका निरूपण किया जाता है।

सामायिकका स्वरूप

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यं ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(निखिलद्रव्येषु) समस्त सोना चांदी और तृणादिक तथा शत्रु मित्र महल श्मशान आदि द्रव्योंमें (रागद्वेषत्यागात्) रागद्वेषका त्याग कर देनेसे (साम्यं अवलंब्य) समताभाव धारण करके (तत्त्वोपलब्धिमूलं) तत्त्वप्राप्तिका मूलकारणभूत (सामायिकं बहुशः कार्यं) सामायिक अधिकरूपमें करना चाहिये।

विशेषार्थ—सम् उपसर्ग पूर्वक गति (जाना) अर्थवाली इण् धातुसे समय बनता है, समका अर्थ एकीभाव है, अयका अर्थ गमन है, जो एकीभावरूपसे गमन किया जाय उसे समय कहते हैं, उसका जो भाव है उसे सामायिक कहते हैं। अर्थात् जो आत्माको समस्त मनवचनकायकी इतर वृतियोंसे रोककर निश्चित एक ध्येयकी ओर लगा दिया जाता है वही सामायिक कहलाता है। सामायिक करनेवाला पुरुष हरप्रकारसे मन को वशमें कर लेता है, वचनको वशमें कर लेता है, कायको वशमें कर लेता है और कषायोंको सर्वथा दूर कर देता है, उसके रागद्वेषरूप परिणामोंका अभाव होकर शांति एवं समताभावकी जागृति हो जाती है इसीलिये सामायिकमें बैठा हुआ ध्यानी आत्मा शत्रु मित्रको समानदृष्टिसे समझता है। न तो शत्रुपर क्रोध करता है और न मित्रपर प्रेम करता है। महल और मसान तथा तृण और कांचन इन सबोंके विषयमें भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका यही भाव है। सामायिकमें परिणामोंकी वीतरागभावोंकी वृत्ति-विशुद्धवृत्ति यहांतक बढ़ जाती है कि सामायिक करनेवाला पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंको क्रमसे अथवा एक-एकरूपसे जुदा जुदा त्याग नहीं करता है किंतु समस्त पापोंको सर्वथा एक-रूपमें ही छोड़ देता है इसलिये उसके समस्त व्रत सुतरां पल जाते हैं। सामायिकमें बैठा हुआ पुरुष त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा दोनोंका त्यागी है, कारण कि एक स्थानपर बैठकर ध्यानमें निमग्न रहनेवाले सामायिक-स्थिति पुरुषके द्वारा सर्वथा निष्कषाय परिणाम होनेसे एवं सब प्रकारका आरंभ छूट जानेसे किसीप्रकार किसी जीवको बाधा नहीं पहुंच सकती है। इसप्रकार सामायिक समस्त द्रव्योंमें समताभाव कराता है इसका फल तत्त्वज्ञान है, सामायिक करनेसे आत्मा विशुद्ध होता है, वही विशुद्धता ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयमें प्रधान हेतु है, ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय होनेपर बिना उपदेशादि सामग्री मिले भी आत्मामें तत्त्वज्ञानकी सुतरां जागृति हो जाती है। बढ़ते बढ़ते सामायिकद्वारा ही आत्मा केवल-ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है जिसमें कि अनन्त लोक एवं अलोकका ज्ञान समुद्रमें जलबुद्बुदके समान होता है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका मूलकारण सामायिक है। इसप्रकार सर्वोपरि उपादेय—सामायिक प्रत्येक आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। कर्मों की निर्जराके लिये सामायिक ही एक सर्वप्रधान कार्य है।

सामायिककी दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि जो समयकी मर्यादा लिये हुए हो उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक बिना परिणामोंको एकाग्र बनाये नहीं हो सकता। और एकाग्रता प्रतिसमय साध्य नहीं है इसलिये सामायिकका काल नियत है, उस नियतकालमें परिणामोंको एकाग्रवृत्ति बनाकर सामायिक करना चाहिये। उसकालका विभाग इसप्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकका समय

रजनीदिनयोरंते तदवश्यं भावनीयमविचलितं।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद् गुणाय कृतं॥१४९॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह सामायिक (रजनीदिनयोः अंते) रात और दिनके अंत समयमें—संध्या समयमें (अविचलितं) निश्चितरूपसे (अवश्यं भावनीयं) अवश्य ही करना चाहिये। (पुनः इतरत्र समये कृतं) फिर दूसरे समयमें किया हुआ (तत्) वह सामायिक (न दोषाय) दोष पैदा करनेवाला नहीं होता है किंतु (गुणाय कृतं) गुण पैदा करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—सामायिक बिना निर्विकल्पक परिणामोंके नहीं हो सकता, जिस समय किसी बातकी भी चिंता रहती है उस समय सामायिक अच्छी तरह नहीं होता है इसलिये उसकेलिये रातदिनके अंतका समय निराकुलताका समय है। रातदिनका अंत एक तो प्रातःकाल होता है और एक सूर्यास्त होनेके पश्चात् सायंकाल होता है, दोनों समयोंको संध्या समय कहते हैं, संध्या नाम मिले हुये समयका है, प्रातःकाल रात्रि और दिनका मिला हुआ समय है, सायंकाल भी दोनोंका मिला हुआ समय है। इसीलिये दोनों समयोंका नाम संध्या समय है। इन संध्या समयोंमें सामायिकका निश्चित समय है, इनमें तो अवश्य ही करना चाहिये, कारण इन समयोंमें परिणामों अन्यान्य कार्योंके करनेकी आकुलता नहीं होती है। प्रातःकाल व्यापार आदि कार्योंका समय नहीं है, दूसरे उस समय आत्माके परिणाम स्वयं निर्मल होते हैं इसलिये उस समय चित्तपूर्वक सामायिक करनेका समय है। सायंकाल भी ऐसा ही समय है, वहां भी व्यापारादि कार्य किये जा चुकते हैं। यदि इन समयोंके अतिरिक्त दूसरे समयोंमें भी सामायिक किया जाय तो भी वह दोषोत्पादक न होकर गुणकारीही होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि सामायिक करनेवाले पुरुषके स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारकी हिंसाका त्याग हो जाता है, ऐसी अवस्थामें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह जिस समय भी किया जायेगा निर्मलता ही करेगा, उससे हानि तो कभी हो ही नहीं सकती है परंतु यदि दूसरे समयमें सामायिक करनेका अवकाश नहीं मिल सके तो सुबह साम इन दो संध्या समयोंमें तो अवश्य निश्चित रूपसे करना चाहिये। सामायिकप्रतिमामें तो नियम से तीनबार सामायिक करनेका विधान है। दिनका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध इन दोनोंके मिलनेसे दोपहर भी संध्यासमय कहा जाता है। इसलिये सामायिक प्रतिमावालेको प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीनों समयोंमें सामायिक करना अनिवार्य नियत है।

सामायिकमें महाव्रत

सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेपि चारित्रमोहस्य ॥१५०॥

अन्वयार्थ - (एषां) इन (सामायिकं श्रितानां) सामायिक करनेवाले पुरुषोंके (समस्त-सावद्योगपरिहारात्) सम्पूर्ण पापयोगोंका त्याग हो जाता है इसलिये (चारित्रमोहस्य उदयेपि) चारित्रमोहनीयकर्मके उदय होनेपर भी (महाव्रतं भवति) महाव्रत हो जाता है।

विशेषार्थ—यह बात निश्चित है कि बिना नग्न दिगम्बर–मुनिलिंग-धारण किये प्रत्याख्यानावरणी कषायका अभाव नहीं हो सकता है इस-लिये गृहस्थके उसका सदा उदय ही रहता है और यह भी नियम है कि प्रत्याख्यानावरणी कषाय महाव्रतका घात करता है, उसके उदयमें महाव्रत हो नहीं सकता इसलिये गृहस्थपर्यायमें महाव्रत पाले नहीं जा सकते हैं परन्तु कोई गृहस्थ जिस समय सामायिक कररहा है उससमय उसके त्रस स्थावर दोनोंप्रकारकी हिंसाका सर्वथा त्याग हो जाता है तथा मन वचन कायरूप योगोंकी अशुभ एवं शुभ दोनोंसे निवृत्त होकर आत्मा की वीत-राग परिणतिकी ओर होजाती है ऐसी अवस्थामें सामायिक करतेहुये गृहस्थके भीउस समय महाव्रत हो जाता है। क्योंकि मुनियोंके जो महाव्रत होता है उसका कारणभी यही है कि उनके त्रस स्थावरहिंसाका त्यागएवं सावद्ययोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की निवृत्ति हो जाती है और सामायिकमें बैठे हुये गृहस्थके भी दोनों बातें हैं इसलिये सामायिक करते समय वह भी महाव्रती है परन्तु गृहस्थ के जो सामायिकदशामें महाव्रत है वह मुख्यतासे नहीं कहा जा सकता किंतु उपचारसे है, कारण कि अंतरंगमें महाव्रतको रोकनेवाली कषायका उसके उदय हो रहा है। मुनियोंके उसका अभाव है इसलिये एवंभूतनय से—सामायिक करता हुआ गृहस्थ महाव्रततुल्य व्रतवाला होनेसे उपचरित महाव्रती है।

प्रोषधोपवास का वर्णन

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुं ।
पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योवश्यमुपवासः ॥१५१॥

अन्वयार्थ—[प्रतिदिनं आरोपितं] प्रतिदिन किये जानेवाले [सामायिकसंस्कारं] सामायिकरूप संस्कारका [स्थिरीकर्तुं] स्थिर रखनेके लिये [द्वयोः अपि पक्षार्धयोः] दोनों ही पक्षोंके आधे आधे समयमें अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीमें [उपवासः अवश्य कर्तव्यः] उपवास अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास एक माससें चार वार किया जाता है, एक महीनेमें दो पक्ष होते हैं, प्रत्येक पक्षके अर्ध अर्ध भागमें अष्टमी चतुर्दशी तिथियां आती हैं, इसलिये एकमहीनेमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी आती हैं, इन चारों दिनोंमें प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये। इसके करनेसे आरम्भजनित हिंसाका त्याग एवं परिणामोंमें निराकुलता तथा विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है, उससे प्रतिदिन किये जानेवाले सामायिकके संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। इसलिये जो सामायिक शिक्षाव्रत धारण करनेवाले गृहस्थ हैं उन्हें उसकी दृढ़ताके लिये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

प्रोषधोपवास करनेकी विधि

मुक्तसमस्तारंभः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥ १५२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[प्रोषधदिनपूर्ववासरस्य अर्धे] जो उपवास करनेका दिन है उस के पहले दिनके उत्तरार्धमें [मुक्तसमस्तारम्भः] समस्त आरम्भोंका त्याग करते हुये [देहादौ ममत्वे अपहाय] अपने शरीर आदि बाह्यपदार्थोंमें ममत्वभाव छोड़कर [उपवासं गृह्णीयात्] उपवास धारण करे।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास उसे कहते हैं कि जो पर्वके दिनोंमें धारण किया जाता है। प्रोषध नाम पर्वका है उसमें जो उपवास धारण किया जाय वह प्रोषधोपवास कहा जाता है। अथवा दूसरी तरहसे यह भी व्युत्पत्तिसिद्ध शब्दार्थ है कि चारों प्रकारके आहारका त्याग करनेका नाम उपवास है। प्रोषध नाम एक बार भोजन करनेका है और जो एक बार भोजन करके उपवास धारण करे वह प्रोषधोपवास कहलाता है, यहां पर यह अर्थ होता है कि जो प्रोषधपूर्वक उपवास है वह प्रोषधोपवास है। जब अष्टमी चतुर्दशी को उपवास धारण किया जाता है तो सप्तमी एवं त्रयोदशीको एकबार भोजन किया जाता है। इसलिये प्रोषधपूर्वक उपवास होनेसे प्रोषधोपवास कहा जाता है। अथवा प्रोषधोपवास धारण करके दूसरे दिन दोपहर पश्चात् आरम्भ किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। किसी प्रकारसे विवेचन क्यों न किया जाय फलितार्थ सबोंका एक ही है। उसी विधानक्रमको ग्रंथाकार बतलाते हैं कि उपवास करनेके प्रथम दिन अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके पहले दिन—सप्तमी और त्रयोदशीको एकबार भोजन करके सबप्रकार सांसारिक आरम्भ छोड़ देना चाहिये, साथ ही शरीर, कुटुम्बीजन और भोगोपभोगयोग्य समस्त पदार्थों से ममत्व छोड़कर उसी समयसे उपवास धारण कर लेना चाहिये। उपवासका अर्थ यही है कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकारके आहारका परित्याग कर देना, अर्थात् जल औषधि आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

उपवासमें कर्तव्यविधि

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीयं।
सर्वेंद्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ—[विविक्तिवसतिं] एकांत स्थानका [श्रित्वा] आश्रय करके [समस्त-सावद्ययोगं अपनीय] समस्त पाप—पंच हिंसादि पापयोगोंको दूर करके [सर्वेंद्रियार्थविरतः] सर्व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ [कायमनोवचनगुप्तिभिः] कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्तिको धारण करके [तिष्ठेत्] ठहरे।

विशेषार्थ—सप्तमी और त्रयोदशीके दोपहर पीछे ही किसी एकांत स्थानमें या चैत्यालयमें प्रौषधोपवास करनेवाला बैठ जाय और सम्पूर्ण पापोंका त्याग कर दे, तथा समस्त इंद्रियोंके विषयोंको छोड़ दे और मनको, वचनको, कायको वशमें कर ले, तीनों योगोंको किसीप्रकार चलायमान नहीं होने दे।

और क्या करे ?

धर्मध्यानशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसांध्यविधिः।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानाशक्तः) धर्मध्यानमें तल्लीन हो (वासरं अतिवाह्य) उस दिनको बितावे (विहितसांध्यविधिः) पीछे सायंकालमें संध्याको जो कुछ विधि है उसे पूरा करे, पश्चात् (स्वाध्यायजितनिद्रः) स्वाध्यायसे निद्रापर विजय पाकर (शुचि-संस्तरे) पवित्र आसन पर (त्रियामां गमयेत्) रात्रि बितावे।

विशेषार्थ—सप्तमी और त्रयोदशीका आधा दिन धर्मध्यानमें ही बितावे और किसी सांसारिक बातका प्रसंग भी नहीं आने दे क्योंकि उसप्रकारके प्रसंगसे अशुभास्रव होगा, परिणामोंमें मलिनता एवं कषायभावोंकी उत्पत्ति होगी इसलिये केवल धर्मध्यान ही करता रहे, धर्मका स्वरूप विचार करे, आत्मा अथवा अर्हंतका स्वरूप विचार करे, कर्मोंके विपाकका विचार करे कि ये कर्म किसप्रकार आत्माको दुःखी एवं भ्रमणशील बना रहे हैं इनका छुटकारा किसप्रकार जल्दी होगा इन कर्मोंसे जीवोंका किस प्रकार अपाय—अनर्थ हो रहा है, लोककी रचना किसप्रकार है, जीव कहां कहां रहते हैं इस संसारमें जीवके उद्धारका कारण एक जिनेन्द्रकी आज्ञा ही है। यदि जिनेन्द्रकी आज्ञापर जीव चलने लग जांय तो फिर उनके कल्याणमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई बाधा कभी नहीं आ सकती, इत्यादिरूपसे धर्मस्वरूप वस्तुस्वरूप आदि धर्मध्यान करनेमें ही दिन बिताना चाहिये, पश्चात् सायंकाल होने पर संध्याकी विधि करना चाहिये उस समय सामायिक प्रतिक्रमण बंदना आदि कार्य करना चाहिये, किए हुए दुष्कर्मों की आलोचना करना चाहिये। पश्चात् रात्रिको कुशासन चटाई आदि पवित्र आसन पर बैठकर स्वाध्याय से निद्राको वश करते हुए बिताना चाहिये। भूमिको अच्छी तरह देखकर जीव हों तो उन्हें कोमल वस्तुसे हटाकर निर्जीवस्थानपर शीतलपट्टी चटाई कुशासन आदि तृणका बना हुआ आसन बिछाना चाहिये। उस रात्रिको सोनेमें बिताना ठीक नहीं है, कारण सोनेसे प्रमाद की वृद्धि होती है, स्वप्नादि विकारोंसे चित्तमें मलिनता आती है इसलिये चित्तको शुद्ध एवं निःप्रमाद परिणाम रखनेके लिये उस रात्रिको स्वाध्याय एवं धर्मचिंतना आदि सम्यग्ज्ञानवर्धक कार्योंमें बिताकर निद्राको जीतना चाहिये।

पश्चात् कर्तव्यविधि

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पं।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अन्वयार्थ—[ततः] रात्रि बितानेके पश्चात् [प्रातः प्रोत्थाय] प्रातःकाल उठकरके [तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा] उस कालसंबंधी समस्त क्रियाकांडको करके [यथोक्तं] शास्त्रोक्त विधिके अनुसार [प्रसुकैः द्रव्यैः] प्रासुक द्रव्योंसे [जिनपूजां निर्वर्तयेत्] जिनेंद्रभगवानकी पूजा करें।

विशेषार्थ—इसप्रकार रात्रि बिताकर प्रातःकाल सामायिक प्रतिक्रमण बंदना आदि उस समयकी संध्याविधि–क्रियाकांड करे, पीछे शास्त्रविहित मार्गके अनुसार प्रासुक–द्रव्योंसे जिनपूजन करे।

इस प्रकार उपर्युक्त रीतिके अनुसार प्रोषधोपवास करनेवाला पर्वके दिन–अष्टमी और चतुर्दशीके दिन जिनेंद्रपूजन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर कितनेसमय क्या करे ?

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१६६॥

अन्वयार्थ—[ततः] दो पहर तक अर्थात् सामायिकसे पहले पहले तक जिन पूजन करनेके पश्चात् [उक्तेन विधिना] ऊपर कही हुई विधिके अनुसार [दिवसं नीत्वा] दिनको बिताकर [च द्वितीयरात्रिं] और द्वितीयरात्रिको बिताकर [प्रयत्नात्] प्रयत्नपूर्वक-सावधानीसे तृतीयदिवसस्य अर्धं च] तीसरे दिनके पूर्वार्ध भागको भी[अतिवाहयेत्] बितावै।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास करनेवाला अष्टमी चतुर्दशीके दिन प्रातःकाल से सामायिकके पीछे से लेकर मध्यान्हके सामायिकसे पहले पहले पूजन करे, पूजन जल्दी समाप्त करले तो स्वाध्याय करे। पश्चात् मध्यान्हका सामायिक करै, पीछे स्वाध्याय अथवा धर्मचर्चाके सुनने सुनानेमें समय बितावे सायंकाल होनेपर फिर सामायिक प्रतिक्रमण आदि संध्याविधि करे, पश्चात् देखभाल कर जीवोंकी बाधा बचाकर पवित्र आसनपर बैठकर रात्रिको शास्त्रपठन, जिनेंद्रगुणचिंतवन आदि द्वारा निद्रापर विजय करे, उसके बाद नवमी या पंद्रसके प्रातःकाल उठकर वही संध्याविधि-सामायिक प्रतिक्रमण बंदना आदि नित्य कर्तव्य करे, पश्चात् जिनेन्द्रपूजन एवं स्वाध्याय करके उस दिनका पूर्वार्द्ध बितावै पश्चात् भोजनादि आरंभ करे।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाव्रती है

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

अन्वयार्थ—[इति] इसप्रकार—ऊपर कही हुई विधिके अनुसार [यः परिमुक्तसकलसावद्यः] जो संपूर्ण पापारंभोंको छोड़कर प्रोषधोपवास करनेवाला गृहस्थ [षोडश यामान् गमयति] सोलह पहर बिताता है [तस्य] उस श्रावकके [तदानीं [उससमय [पूर्ण अहिंसाव्रतं नियतं भवति] पूर्ण अहिंसाव्रत निश्चयसे होता है।

विशेषार्थ—जैसी विधि ऊपर बताई गई है उसीके अनुसार जो समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंच पापोंको छोड़कर तीनों योगोंको वशमें रखकर ध्यान, पूजन, स्वाध्याय, धर्मचर्चा आदि धर्मक्रियाओंमें सोलह पहर किसीप्रकारके सांसारिक आरंभके किये बिना देता है वही प्रोषधोपवास करनेवाला पूर्ण अहिंसाव्रती कहलाता है। सोलहपहर इसप्रकार हो जाते हैं कि—सप्तमीको एकाशन (एकबार भोजन) करके दोपहरके पश्चात् प्रोषधोपवास आरंभ किया जाता है, इसलिये सप्तमीके आधे दिनके दो पहर, सप्तमीकी पूरी रात्रिके चार पहर, अष्टमीके पूरे दिनके चार पहर, अष्टमीकी पूरी रात्रि के चार पहर और नवमीके पहले आधेदिन (पूर्वार्ध) के दोपहरतक प्रोषधोपवासकी विधि पूर्ण होती है इसलिये सोलह पहर समय धर्मध्यान में बिताया जाता है। सोलहपहरका ही उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहा जाता है। मध्यम बारह पहरका होता है तथा आठ पहरका जघन्य प्रोषधोपवास होता है। अष्टमीके पूरे दिनके चारपहर और अष्टमीकी रात्रिके चारपहर इसप्रकार आठपहर जघन्यप्रोषधोपवास पाला जाता है। पर्वके दिन जो प्रोषधोपवास करनेमें असमर्थ है उसे अनुपवास धारण करना चाहिये। जल ग्रहण करनेके सिवा बाकी सबप्रकारके भोजनका त्याग कर देनेका नाम ही अनुपवास है। अर्थात् पर्वके दिन केवल जल लेना बाकी कुछ नहीं लेना इसीका नाम अनुपवास है। जो अनुपवास करनेमें भी असमर्थ है उसे विकाररहित सात्विक रूखा हलका भोजन कर लेना चाहिये। विकारी भोजन चार प्रकार है, गोरस—दूध, दही, घी, इक्षुरस—खांड, गुड़ आदि मिष्टपदार्थ, फलरस—दाख, आम्र आदिसे निकाला हुआ रस, और धान्यरस—तेल, मांड़ आदि पदार्थ, ये चार प्रकारके विकारी कहलाते हैं, अर्थात् इनका भोजन इन्द्रिय और मन में स्वाद तृष्णा पैदा करता है इसलिये इनको छोड़कर हलका रूखा भात वगैरहका भोजन कर लेना चाहिये। इस प्रकार उपवास, अनुपवास, एकाशन निर्विकार भोजन आदि शक्तिके अनुसार जितना व्रतरूपसे ग्रहण किया जायगा उतना ही वह पुण्यबंध एवं आत्मविशुद्धिका कारण होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंतु जितना कुछ भी व्रत विधान किया जाता है वह केवल धर्मबुद्धि से ही किया जाता है तभी व्रत कहलाता है। जहां धर्मबुद्धि नहीं है वहां उसे व्रत नहीं कहते, जैसे बहुतसे पुरुष आजकल पेटमें गड़बड़ होनेसे दो चार दिनके लिये भोजन छोड़ देते हैं, जो उपवासचिकित्सा-विधिसे अपने शरीर को निरोग रखना चाहते हैं वे कई उपवास कर डालते हैं, परंतु वे सब उपवास कहने योग्य नहीं हैं किंतु उन्हें लंघन कहना चाहिये। उपवास धर्मबुद्धिसे किया जाता है, लंघन में धर्मबुद्धि नहीं है किंतु शरीर रक्षा एवं शरीरशुद्धि ही प्रधान है। इसलिये ऐसे भोजन छोड़ने वाले व्रती नहीं हैं किंतु अव्रती एवं आरंभी हैं क्योंकि जहांपर शास्त्रोक्त रीति से, धर्मबुधिसे भोजनादि आरंभोंका त्याग किया जाता है वहींपर धर्म-व्रत है, अन्यथा नहीं।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाव्रती क्यों ?

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषां।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोपि हिंसायाः॥१५८॥

अन्वयार्थ—(अमीषां) त्रसहिंसाके त्यागी पुरुषोंके (भोगोपभोगहेतोः) भोग उपभोगके कारणसे ही (स्थावरहिंसा भवेत् किल) स्थावर हिंसा होती है ऐसा निश्चय है (भोगोपभोग-विरहात्) भोग उपभोगका त्याग कर देनेसे (हिंसायाः लेशः अपि न भवति) हिंसाका लेश भी नहीं होता है।

विशेषार्थ—अहिंसादि अणुव्रत पालनेवाले संकल्पी त्रसहिंसाके तो त्यागी होते ही हैं, स्थावर हिंसाका उनके त्याग नहीं होता, इसका कारण यह है कि वे भोग उपभोग सामग्रीका सेवन करते हैं उसीसे अनिवार्य स्थावर हिंसा उनसे होती है, हिंसाका कारण आरम्भ है। भोगोपभोग पदार्थोंके सेवनमें नियमसे आरम्भ है इसलिये हिंसा है। परंतु भोग उपभोग वस्तुओंका परिमाण करनेसे स्थावर हिंसा भी छूट जाती है वैसी अवस्थामें त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा दोनोंप्रकारकी हिंसा का त्याग होनेसे हिंसाका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेशमात्र भी नहीं होती, प्रोषधोपवास धारण करनेवाला पुरुष भोग उपभोग आदि सबप्रकारका आरंभ सेवन छोड़ देता है। केवल धर्मारंभ ही करता है, वैसी अवस्थामें भोग उपभोगसेवनमूलक स्थावरहिंसा भी उसके नहीं होती, त्रसहिंसाका तो वह अणुव्रती होनेसे स्वयं त्यागी होता ही है ।

प्रोषधोपवास करनेवालेके और पाप भी नहीं हैं

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयं ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः संगो नांगेप्यमूर्च्छस्य- ॥१५९॥

अन्वयार्थ – [वाग्गुप्तेः] वचनगुप्ति पालनेके कारण [अनृतं नास्ति] झूठ वचन नहीं है [समस्तादानविरहतः] समस्त द्रव्य लेनेका त्याग करनेसे [न स्तेयं] चोरी नहीं है [मैथुनमुचः] मैथुन छोड़ देनेके कारण [न अब्रह्म] ब्रह्मचर्य भंग नहीं है [अंगे अपि अमूर्च्छस्य] शरीरमें भी ममत्वभाव छोड़ देनेसे [संगो न] परिग्रह नहीं है ।

विशेषार्थ—**प्रोषधोपवास पालनेवाले पुरुषके शास्त्रस्वाध्याय आदिमें वचनों की प्रवृत्ति होनेसे मिथ्या वचन नहीं निकलते। सब प्रकारके आदान (परपदार्थग्रहण) का त्याग होनेसे चोरी तो संभव ही नहीं है। वह स्वस्त्रीसंगका भी त्याग कर देता है इसलिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पल जाता है और अपने शरीरमें भी ममता नहीं रखता इसलिए उसके पर पदार्थों में ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रह भी नहीं रहता इसप्रकार यथाविधि प्रोषधोपवास पालनेवालेके पांच पापोंमेंसे एक भी पाप नहीं लगता।**

प्रोषधोपवासी उपचरित महाव्रती है

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चारित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानं ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(इत्थं) इसप्रकार (अशेषितहिंसः) समस्त हिंसाको छोड़नेवाला (सः) वह प्रोषधोपवास करनेवाला (उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति) उपचारसे महाव्रतीपनेको प्राप्त होता है। (तु) परंतु (चारित्रमोहे उदयति) चारित्रमोहनीयकर्मके उदय होनेसे (संयमस्थानं न लभते) संयमस्थानको नहीं पाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जब प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष भोगोपभोगका त्याग करनेसे स्थावर हिंसासे बच जाता है, त्रसहिंसाका वह त्यागी होता ही है, वचनगुप्ति आदि पालनेसे अन्य चार पापोंका त्यागी भी है इसप्रकार समस्त प्रकारकी हिंसाका त्यागी होनेसे वह महाव्रती तुल्य है अर्थात् वास्तवमें तो महाव्रती नहीं कहा जा सकता किंतु उपचारसे वह महाव्रती कहा जाता है। मुख्यतासे महाव्रती क्यों नहीं कहा जाता इसका उत्तर यह है कि उसके प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय हो रहा है वह सकलसंयम—महाव्रतका घातक है इसलिए वह मुख्यतासे सकलसंयमी नहीं कहा जा सकता परन्तु त्रसस्थवार हिंसाका त्यागी होनेसे उपचरित महाव्रती कहा जाता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तितमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

अन्वयार्थ—[विरताविरतस्य] कुछ अंशोंमें विरत कुछ अंशोंमें अविरत अर्थात् देशव्रती—पंचमगुणस्थानवर्ती पुरुषके [भोगोपभोगामूला] भोग और उपभोगोंके कारणसे होनेवाली [हिंसा 'भवति'] हिंसा होती है। [अन्यतः न] और किसी निमित्तसे नहीं होती [वस्तुतत्त्वं अधिगम्य] वस्तुस्वरूपको जान करके [स्वशक्ति अपि] अपनी शक्तिके अनुसार[तौ अपि] वे दोनों भोगउपभोग भी [त्याज्यौ] छोड़ देने चाहिये।

विशेषार्थ—देशव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग होता ही है क्योंकि परिग्रह, परिमाणव्रतमें वह परिग्रहका परिमाण कर लेता है इसलिये उससे होनेवाली हिंसा फिर नहीं होती, परन्तु भोग उपभोगकी जो सामग्री रक्खी है उससे तो हिंसा उसके होती है इसलिये उसे भी हिंसाका मूलकारण समझकर यथाशक्ति छोड़ देना चाहिये क्योंकि परिग्रहपरिमाणव्रतवाले देशव्रतीके हिंसाके कारण भोग उपभोगमें आनेवाले पदार्थ ही बाकी रहते हैं और कारणोंको तो वह पहलेसे ही छोड़ देता है इसलिये जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोग्य और उपभोग्य पदार्थ परिग्रहपरिमाणव्रतमें वह रख चुका है उनका भी यथाशक्ति त्याग कर देना उचित है अर्थात् अत्यावश्यक ही रखना चाहिये। जो कुछ भी अधिक प्रतीत होते हैं उन सबको छोड़ देना ठीक है क्योंकि आत्माका स्वरूप निवृत्तिस्वरूप है और उस मार्गकी सिद्धि संयमसे हो सकती है बिना भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंके छोड़े संयमका पलना अशक्य है इसलिये जहांतक अपनी सामर्थ्य हो वहांतक उन्हें छोड़ देना ही ठीक है।

भोग पदार्थों में वे पदार्थ समझे जाते हैं जो एकबार भोग लेनेपर फिर भोग करनेमें नहीं आते। जैसे–रोटी दाल भात दूध घी चूर्ण पुष्प तैल आदि जितनी खानेकी और सूंघने एवं शरीरमें लेप करनेकी चीजें हैं वे सब भोग्य वस्तुयें हैं। तथा जो एक बार भोगमें आने के पश्चात् फिर भी वे ही भोगनेमें आवें ऐसी वस्तुयें उपभोग्य वस्तुयें कही जाती हैं। जैसे–वस्त्र, वर्तन, मकान, हाथी, घोड़ा, स्त्री, दास, दासी, सोना, चांदी, खेत, सवारी आदि। ये समस्त वस्तुयें एकबार काम में आनेपर छोड़ नहीं दी जातीं किंतु बार बार काममें आती हैं, इन समस्त वस्तुओं की भोगोपभोगका परिमाण करनेवाला बहुत कुछ घटा देता है। केवल अनिवार्य काममें आने लायक ही रखता है।

अनन्तकायत्यागका उपदेश

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनंतान्यतस्ततोऽवश्यं ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनंतकायानां ॥१६२॥

अन्वयार्थ—[यतः एकं अपि प्रजिघांसुः] क्योंकि एक भी अनंतकायसे भरे हुये पिंडको जो नष्ट करनेकी इच्छा करता है वह [अनंतान् निहंति] अनंत जीवोंको मार डालता है [ततः] इसलिये [अशेषाणां अनंतकायानां] समस्त अनंतकायवाले पदार्थोंका [अवश्यं परिहरणं करणीयं] अवश्य त्याग करना चाहिये।

विशेषार्थ—वनस्पतिके दो भेद हैं–एक साधारणवनस्पति, दूसरी प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पति। प्रत्येकवनस्पतिके भी दो भेद हैं—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक, दूसरी अप्रनिष्ठित प्रत्येक। साधारणवनस्पति उसेकहते हैं जिसके समानभंग हो जांय अर्थात् जबतक बनस्पति बिलकुल कोमल रहती है उसे तोड़नेपर ही जहांसे तोड़ा जाय वहींपर समान दो टुकड़े हो जांय तो समझना चाहिये कि वह साधारण है। यदि वह प्रत्येक होगी तो समान टुकड़े नहीं होंगे किंतु जहां तोड़ी जायगी वहींपरसे आगे तक फट जायगी अर्थात् उतनी कोमलता उसमें नहीं होगी। दूसरे जिन पत्तोंमें जबतक रेखायें—नशाजाल नहीं निकला है तबतक साधारण हैं जैसे पानके पत्तेमें जबतक रेखायें प्रगट नहीं होती हैं तबतक वह साधारण है और जब रेखायें प्रगट हो जाती हैं तब वह प्रत्येक हो जाता है। जितना कन्दमूल है वह भी सब साधारण है, जिस वृक्षकी त्वचामें—छालमें बहुत मोटापन एवं पूरा हरापन जबतक है तबतक वह त्वचा—छाल साधारण है, पीछे कुछ पतली होनेपर प्रत्येक हो जाती है। यही बात श्री गोम्मटसारमें कही गई है—

मूले कंदे छल्ली, पवालसालकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता विसमे सदि होंति पत्तेया॥

अर्थात् मूलकंद, कंदमूल, छाल, पत्ता, छोटी छोटी टहनी, पुष्प, फल, बीज इन सबमें समान भंग होनेपर—अनंतनिगोदराशि—साधारण वनस्पति समझी जाती है और विषमता होनेपर—तोड़नेपर कुछ तिड़कनेपर प्रत्येक-वनस्पति समझी जाती है।

साधारण वनस्पतिका लक्षण यही है कि जिस एक शरीरके समान रूपसे अनंत जीव स्वामी हों, एकके मरनेपर सभी अनंते मरजांय और एक श्वासोच्छ्वास लेनेपर अनंतोंका श्वासोच्छ्वास हो जाय। जैसा कि श्रीगोम्मटसारमें सिद्धांतचक्रवर्ती श्रीनेमिचंद्राचार्यने बतलाया है—

जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ एक्कं चंकमणं तत्थ णंताणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जहांपर एक जीवका मरण होता है, वहां अनन्त जीवोंका मरण हो जाता है और जहां एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनन्त जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये—

साहारणमाहारो साहारणमाणगहणं च ।
साहारणं सरीरं साहारणलक्खणं भणियं ॥

अर्थात् जिनका एक ही तो आहार हो, एकसाथ ही श्वासोच्छ्वास होता हो, एक ही सबोंका शरीर हो, वे सब साधारण वनस्पतिकायके जीव कहलाते हैं। एक साधारण वनस्पतिके (निगोदियाके) शरीरमें अनंतानंत जीवराशिका प्रमाण बतलाते हैं कि—

एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो सिद्धा ।
सिद्धेण अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

एक निगोदियाके शरीरमें जितनी जीवद्रव्य राशि है वह आजतक अनादि संसारसे अनंतानंत सिद्ध (मुक्त) हुये हैं उन सबोंसे अनंतगुणी है अथवा आजतक जितना काल बीत चुका है उसके जितने समय हैं उनके बराबर है।

प्रत्येक उसे कहते हैं कि जिस एक शरीरका एक जीव मूल स्वामी हो। उसके दो भेद हैं—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक। सप्रतिष्ठितप्रत्येक उसे कहते है कि जिस शरीरका एक स्वामी हो परन्तु उसके आश्रित अनंत निगोद रहते हों। उन अनंत जीवोंके जीने मरनेसे उस शरीरके प्रधानस्वामीसे—जिसका वह शरीर कहलाता है, कोई संबंध नहीं है। तथा जिस शरीरका एक मूल स्वामी हो बाकी उसके आश्रित अनंत निगोदराशि नहीं रहती हो वह अप्रतिष्ठितप्रत्येक कहलाता है। यह अवस्था वनस्पतिकी तब होती है जब कि वह परिपक्व दशामें परिणत होने लगती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसप्रकार जीवराशिका स्वरूप समझ करके भोग उपभोग परिमाण वाले पुरुषको अनन्तजीवोंकी रक्षाके लिये ऐसी वनस्पति नहीं खानी चाहिये जिसमें अनन्त जीवोंका ध्वंस होता हो। जिन पदार्थों के सेवन करने से थोड़ा तो जीभका स्वाद होता हो अनंत जीवराशिका नाश होता हो ऐसे पदार्थ कदापि सेवन नहीं करने चाहिये। उनका त्याग कर देना ही उचित है।

मक्खन (लोनी) का त्याग

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानां ।
यद्वापि पिंडशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अन्वयार्थ— (प्रभूतजीवानां योनिस्थानं) अनेक जीवोंकी उत्पत्ति होनेका योनिस्थान ऐसा (नवनीतं च त्याज्यं) लौनी-मक्खन भी छोड़ देना चाहिये। (यद्वा पिंडशुद्धौ अपि) अथवा कुछ काल तक पिंडशुद्धि रहने पर भी अर्थात् उस पदार्थमें जीवराशि नहीं उत्पन्न होने पर भी (किंचित् विरुद्धं अभिधीयते) कुछ विरुद्धता प्रगट की जाती है तो भी वह त्याज्य है।

विशेषार्थ— जो दही विलोनेपर लौनी निकलती है, उसीका नाम मक्खन है। वह मक्खन अभक्ष्य कहा गया है, कारण दो मुहूर्तके पश्चात् तो उसमें अनेक संमूर्छन जीवराशि पड़ जाती है इसलिये दो मुहूर्त—चार घड़ीके पीछे तो वह अनेक जीवाराशिका पिण्ड हो जानेसे भक्ष्य ही नहीं रहता है, परंतु जब तक वह शुद्ध भी है अर्थात् दो मुहूर्तके भीतर भी वह भक्षण करने योग्य नहीं है, कारण उसकी आकृति अच्छी नहीं है, उसे देखनेसे अन्य घृणितपदार्थकी स्मृति हो जाती है इसलिये निर्जीव अवस्थामें वह भी अभक्ष्य है। अनेक ऐसे पदार्थ हैं कि जिनमें दोष भी नहीं है अर्थात् जिनमें जीवराशि नहीं भी है तो भी जो आकृतिसे खराब हैं जिन्हें देखने से परिणामोंमें कुछ विकारभाव होता है वैसे पदार्थ भी अभक्ष्य त्याज्य हैं। मक्खनमें दो मुहूर्त पीछे अनेक जीवराशि पड़जाती है इसके लिये सागारधर्मामृत में यह प्रमाण है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मधुवन्नवनीतं च मुंचेत्तत्रापि भूरिशः ।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत् संसजंत्यंगिराशयः ॥

अर्थात् शहद (मधु)के समान नवनीत–मक्खन भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि उसमें भी दो मुहूर्तके पीछे निरंतर अनेक जीवराशि उत्पन्न होती रहती है ।

इससे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वही घी शुद्ध एवं खाने योग्य है जो दो मुहूर्तके भीतरकी लौनीका तपाया हुआ है । आजकल यह बहुत बुरी पृथा चल पड़ी है कि बहुत दिनोंतक लौनीका संग्रह करते जाते हैं और फिर इकट्ठा उसे तपाकर घी बनाते हैं परंतु उतने समयमें उस लौनीमें अनन्त निगोदराशि तो पड़ ही जाती है किंतु त्रसजीवोंका संचार भी हो जाता है । इसलिये प्रतिदिन दो मुहूर्तके भीतर ही घी बना लेना चाहिये अन्यथा वह घी भी अभक्ष्य होता जाता है । इसलिये श्रावकों को मर्यादाके भीतर ही लौनीका घी बनाकर खाना चाहिये ।

इसके सिवा जो पदार्थ पिंडरूप से शुद्ध भी है परंतु उनके भक्षणसे अनिष्ट होता है तो ऐसे शरीरको रुग्ण बनानेवाले पदार्थ भी नहीं भक्षण करने चाहिये । जैसे दही शुद्ध है परंतु ज्वराक्रांतको देनेसे ज्वर की वृद्धि एवं सन्निपातकी उत्पत्ति हो जानेकी पूरी संभावना है इसलिये ज्वरमें दहीका देना या खाना निषिद्ध है । इसीप्रकार जो पदार्थ अनिष्ट हों उन सबोंको छोड़ देना चाहिये । जो अनुपसेव्य हैं–सेवन करने योग्य नहीं हैं उन्हें भी अभक्ष्यकोटिमें लिया गया है, वे भी नहीं खाने योग्य हैं । इसप्रकार भोगोपभोगपरिमाणव्रतवाले पुरुषको सभी भोग्य उपभोग्य पदार्थोंकी शुद्धि एवं इष्टानिष्टता आदिका विचार करके उन्हें ग्रहण करना चाहिये । अशुद्ध, अनिष्ट, अनुपसेव्य तथा आवश्यकतासे बाहर शुद्ध भी छोड़ देना चाहिये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविरुद्ध भी त्याज्य है

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ—(निजशक्तिं अवेक्ष्य) अपनी शक्तिको विचार करके (अविरुद्धा अपि भोगाः) अविरुद्ध भोग भी (धीमता) बुद्धिमान पुरुषके द्वारा (त्याज्याः) छोड़ देने चाहिये। (अत्याज्येषु अपि) उनके नहीं छोड़ने पर भी (एकदिवानिशोपभोग्यतया) एक दिन या एक रात्रिकी उपभोगताका नियम करके (सीमा कार्या) सीमा बांध लेनी चाहिये।

विशेषार्थ—जो पदार्थ किसीप्रकार दूषित नहीं हैं एवं जो अपने अनुकूल भी पड़ते हैं, वे भी शक्तिके अनुसार जितने भी छोड़े जा सकें छोड़ देने चाहिये। बुद्धिमान पुरुषका यही कर्तव्य है कि जितना आरंभ घटाया जा सके उतना ही घटा दे और जितने पदार्थ छोड़े नहीं जा सकते, जिनके छोड़नमें असमर्थ है उनके विषयमें भी उसे मर्यादा कर लेना चाहिये, जैसे अमुक वस्तु मैं आज नहीं सेवन करूंगा, अमुक ८ दिन नहीं ग्रहण करूंगा, आज रात्रिको अमुक वस्तुका उपभोग नहीं करूंगा इत्यादि रीतिसे उनकी मर्यादा बांधकर समय समयपर उनसे होनेवाले आरंभसे बचनेका यत्न करते रहना चाहिये

सीमाके भीतर सीमा

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिं।
सीमन्यंतरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थ—[पुनरपि] फिर भी [पूर्वकृतायां] पहले की हुई [सीमनि] सीमाके भीतर [निजां तात्कालिकीं शक्तिं समीक्ष्य] अपनी उस कालकी शक्तिको भलेप्रकार विचार करके [अंतरसीमा] दूसरी सीमा [प्रतिदिवसं] प्रतिदिन [कर्तव्या भवति] कर लेना चाहिये।

विशेषार्थ—जो अवधि—सीमा भोग्य उपभोग्य पदार्थोंके ग्रहण करनेकी पहले की जा चुकी है, फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार उस सीमाके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर दूसरी सीमा करनी चाहिये। जैसे कोई पदार्थ ८ दिनके लिये हालमें सेवनके लिये रक्खा है तो फिर भी उससे तृष्णा घटानेके लिये अपनी शक्ति देखकर यह नियम करे कि मैं उसे दो दिन ही ग्रहण करूंगा इत्यादिरूपसे प्रतिदिन सीमाके भीतर सीमा करते रहना चाहिये, वैसा करनेसे भोगोपभोगपरिमाणव्रत उत्तमरीतिसे फलप्रद होता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतका फल

इति यः परिमितभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (यः) जो पुरुष (परिमितभोगैः संतुष्टः) नियमित किये गये भोगोंसे संतुष्ट होता हुआ (बहुतरान् भोगान्) अधिक भोगोंको (त्यजति) छोड़ देता है (तस्य) उस पुरुषके (बहुतर हिंसाविरहात्) बहुत अधिक हिंसाके छूट जानेसे (विशिष्टा अहिंसा) विशेष अहिंसा (स्यात्) होती है।

विशेषार्थ—जो पुरुष थोड़े भोगोंसे ही संतुष्ट होता हुआ बहुभाग भोग तथा उपभोगको छोड़ देता है वह उनसे होनेवाली समस्त हिंसासे बच जाता है, इस रीतिसे उसके समधिक अहिंसाव्रत होता है। कारण कि जितना आरंभ घटाया जाता है उतनी ही हिंसासे मुक्ति होती जाती है।

अतिथिसंविभागव्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अन्वयार्थ—[दातृगुणवता] दाताके गुण धारण करनेवाले पुरुषको [विधिना] विधिपूर्वक [जातरूपाय अतिथये] जन्मकालके रूपको—नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले अतिथि-साधुके लिए [स्वपरानुग्रहहेतोः] अपने और परके उपकारके निमित्त [द्रव्यविशेषस्य] विशेष शुद्ध एवं विशेष योग्य द्रव्योंका [भागः] विभाग—हिस्सा [अवश्यं कर्तव्यः] अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—दान देनेवाले दाताके सात गुण शास्त्रकारोंने बतलाए हैं जिन्हें कि स्वयं आचार्य आगे बतलायेंगे वे सातों गुण जिस दातामें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं वही दाता प्रशंसनीय एवं विशेष पुण्यका भाजन होता है। दान विधिपूर्वक ही देना चाहिये, विधि किसप्रकार है यह आगेके श्लोकमें स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे। दान पात्रको ही देना चाहिये, अपात्र या कुपात्र को दिया हुआ दान उलटा विपरीतफल—पापफल देता है। दान योग्य शुद्ध उत्तम द्रव्यका देना चाहिये। जो साधारणरूपसे साधारण द्रव्योंका दान दिया जाता है उसमें दान देनेवालेकी उपेक्षा पायी जाती है, जहां विशेष रुचि एवं विशेष भक्ति होती है वहां विशेष पदार्थों की योजना अवश्य की जाती है। दान देते समय किस प्रकारकी भावना रखनी चाहिये, इसके लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि दान देते समय दाताओंको केवल अपने ओर गृहीताके कल्याणकी भावना रखनी चाहिये। दान देनेसे मुझे परम पुण्यबंध होगा, दान देनेका अवसर बड़े ही भाग्यसे मिलता है, इसप्रकार अपने कल्याणकी भावना दाताको रखनी चाहिये और गृहीताका इस द्रव्यसे उपकार हो ऐसी बुद्धि भी उसे रखनी चाहिये। इस स्व-पर अनुग्रहके सिवा उसे और किसी सांसारिक वासनाकी चाहना नहीं रखना चाहिये। जो दाता अपने दानका फल स्वर्गादिगति चाहता है, जो संसारमें प्रतिष्ठा लेना चाहता है, जो गृहीतासे कुछ प्रत्युपकार—बदला लेनेकी वांछा रखता है. जो गृहीता या उसके किसी पूर्वसम्बन्धीको प्रसन्न रखनेकी इच्छा करता है, वह दाता उत्तम दाता कहलानेयोग्य नहीं है और न ऐसा दाता दानके विशेष फलको—विशेष पुण्यको पाता है। इसलिये दान देनेवालेको किसी प्रकारकी स्वार्थवासना नहीं रखकर केवल अपने और परके कल्याणकी ही भावना रखना चाहिये। जिनके कोई तिथि नियत नहीं है वे अतिथि कहे जाते हैं, अर्थात् बिना किसी तिथिके निश्चय किये जब कभी शरीररक्षणार्थ भोजनके लिए श्रावकके घरपर आ जायें वे अतिथि कहलाते हैं ऐसे अतिथि सर्वोत्तमकोटिमें नग्न दिगम्बर मुनि महाराज कहलाते हैं, दूसरी कोटिमें अर्जिका, तीसरी कोटिमें ऐलक, चौथीमें क्षुल्लक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते हैं। ये सभी उद्दिष्ट भोजनके त्यागी हैं, बुलानेपर भी श्रावकके यहां भोजनार्थ नहीं आते हैं किंतु २–४–८ दिन पीछे या कभी कभी प्रतिदिन बिना बुलाये स्वयं श्रावकके दरवाजेपर जाते हैं। ऐसे अतिथियों को दान देनेका अवसर किसी विशेष पुण्यके उदयमें ही श्रावकोंको मिलता है।

दान देनेकी विधि

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

अन्वयार्थ—[संग्रहं] उत्तम पात्रोंका भले प्रकार समीचीनरीतिसे ग्रहण करना, इसीका नामप्रति ग्रहण–पडगाहन भी है [उच्चस्थान] उन्हें ऊंचा आसन देना [पादोदकं] उनके पाद प्रक्षालन करना [अर्चनं] उनकी पूजा करना [च प्रणामं] और प्रणाम करना [वाक्कायमनःशुद्धिः] वचनशुद्धि रखना, कायशुद्धि रखना, मनःशुद्धि रखना [च एषणशुद्धिः] और एषणाशुद्धि रखना अर्थात् भोजनकी शुद्धि रखना [विधिं आहुः] इनको दान देनेकी विधि कहते हैं।

विशेषार्थ—जिस समय अतिथि भोजनके लिये दरवाजेपर आवें उस समय भक्तिवश दान देनेकी इच्छा रखनेवाला श्रावक उनका प्रतिग्रहण करे अर्थात् उनके सन्मुख खड़ा होकर बड़े विनयके साथ यह उच्चारण करे कि 'यहां पधारिये पधारिये स्वामिन्! अन्नजल शुद्ध है' इसप्रकार पडगाहन करे। जब वे आने लगें तब उनके आगे आगे होकर उन्हें घरके भीतर ले आवे, आनेपर उन्हें ऊंचा काष्ठका आसन देवे अर्थात् काठका सिंहासन, कुर्सी, चौकी आदि पवित्र आसनपर उन्हें बिठा देवे। पश्चात् उनके चरणोंका प्रासुक जलसे प्रक्षाल करे, इसीका नाम पादोदक है। पाद–चरणोंके लिये जो जल उसे पादोदक कहते है अथवा पादोंसे लिया हुआ जो जल वह पादोदक कहलाता है, उनके चरणोंका जल–प्रक्षाल पवित्र जल है उसे शरीरमें लगाना चाहिये। प्रक्षाल लेनेके पीछे उनकी अष्टद्रव्यसे पूजन करे, पश्चात् उनकी प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे और मनको शुद्ध रक्खे, वचनको शुद्ध रक्खे, शरीरको शुद्ध रक्खे, अर्थात् मनमें किसीप्रकार मायाचार अथवा अविनयका भाव नहीं रक्खे, वचनमें किसीप्रकारकी कठोरता एवं असत्यता नहीं रक्खे, शरीरमें किसी प्रकारकी बाह्य मलिनता नहीं रक्खे, तथा भोजन शुद्ध तैयार करावै, अर्थात् भोजनमेंकोई पदार्थ अभक्ष्य एवं विकारयुक्त न हो। इसीका नाम आहार-दान देनेकी विधि है, दूसरा इसीका नाम नवधाभक्ति है, अर्थात् नौप्रकार भक्ति विधिपूर्वक संपादित करे। बिना नवधाभक्तिके उत्तम पात्रका आहार अशक्य है। इसलिये विधिपूर्वक ही आहारदान करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है।

दाता के सातगुण

ऐहिकफलानपेक्षा क्षांतिर्निष्कपटतानसूयत्वं ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

अन्वयार्थ—[ऐहिकफलानपेक्षा] इस लोकसम्बन्धी एवं परलोकसम्बन्धी फलकी अपेक्षा नहीं करना [क्षांतिः] क्षमाभाव धारण करना [निष्कपटता] मायाचार नहीं रखना [अनसूयत्वं] ईर्ष्याभाव नहीं रखना [अविषादित्वमुदित्वे] किसी भी कारणसे विषाद—खेद नहीं करना और हो जानेपर इस बातका हर्ष मनाना कि मुझे आज बहुत फायदा हो गया। [निरहंकारित्वं] अहंकार—मान नहीं करना [इति] इसप्रकार [हि] निश्चयसे [दातृ-गुणाः] दातामें गुण होना आवश्यक हैं।

विशेषार्थ—दान देनेवाले दातामें ये सात गुण अवश्य होने चाहिये इन गुणोंके होनेसे दाता विशेषाधिक पुण्यका लाभ करता है, बिना इन गुणोंके दाता निकृष्ट परिणामवाला समझा जाता है। वे सात गुण इसप्रकार हैं—

मुझे लोकमें प्रतिष्ठा मिले, मेरा यश फैल जाय, किसीप्रकारका मेरा कार्य सिद्ध हो जाय, मेरा अहसान हो, इत्यादि इस पर्यायसंबंधी फलकी चाहना न करना चाहिये और परलोकमें मुझे देवोंके सुख मिलें, भोगभूमिमें मैं उत्पन्न हो जाऊं इत्यादि परलोकसंबंधी बांच्छा नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिये किंतु बिना किसीप्रकारकी आकांक्षाके केवल अपने और गृहीताके कल्याणकी सद्बुद्धि रखकर ही दान देना चाहिये ।

पूर्ण क्षमाभाव होना चाहिए, किसी निमित्तसे भी मुनियोंका अंतराय हो जानेसे किसी सामग्रीकी न्यूनता हो जानेसे अथवा बहुत लेनेवाले हैं किस किसको दूं इत्यादि प्रकारसे क्रोध नहीं उत्पन्न होना चाहिये ।

मायाचार नहीं होना चाहिये किसीप्रकारकी अशुद्धि रह जानेपर वचनसे यह कहना कि हां ! सब शुद्ध है वाक्कपटता है । मनमें कोई भाव हो उसे प्रकाशमें दूसरे रूपसे ही दिखा देना यह मनकी कपटता है । मुख्यतासे कपटवृत्ति मनमें ही होती है उसीका प्रयोग वचन व काय द्वारा किया जाता है । माया एक शल्य है, यह दाताके गुणोंका लोप करनेवाली कषाय है इसलिये सरल एवं शुद्ध–विकाररहित परिणाम रखना अत्यावश्यक है ।

किसी दूसरेने मुनियोंको आहारदान दिया हो तो उसे देखकर उस देनेवालेसे ईर्ष्या करना कि इसके यहां क्यों आहार हो गया, अथवा इसने केवल मांढ़का आहार दिया है मैं कल दूध आदि बहुमूल्य पदार्थोंका दान दूंगा फिर इसकी अपेक्षा मुझे अधिक यश मिलेगा इसप्रकार दूसरे दाता से ईर्ष्याभाव धारण करना असूया कहलाती है । वैसा भाव नहीं धारण करना अनुसूया कहलाती है । जब निरपेक्ष शुद्धभावसे स्वपरकल्याणके लिये ही दान देनेका उद्देश्य है तो दूसरेको देते हुए भी हर्षभाव ही धारण करना चाहिये, उसकी प्रशंसा करनी चाहिये कि तू धन्य है और तेरे आज उत्तमपात्र पधारे और तूने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान कराकर अपनेको कृतार्थ करलिया, इसप्रकार अनुसूया ईर्ष्यारहित भाव धारण करना चाहिये ।

किसी अंतरायके हो जानेसे मुनियोंका यदि आहार न हो सके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा अपने यहां उनका आना ही न हो सके तो विषाद—खेद नहीं करना चाहिये। बिना कारण खेद करके पापबंध बांधना मूर्खता है, इसलिये किसी कारणके उपस्थित होनेपर खेद नहीं करना चाहिये।

इस बातका हर्ष भी करना चाहिये कि आज मेरे उत्तमपात्रका आहर हो गया है मुझे अनेक गुणोंका लाभ हो गया, मेरे यहां आज उत्तमपात्रके चरण पधारे हैं मेरा घर आज पवित्र हो चुका और मैं अपने धन्यभाग समझता हूं। इस रीतिसे हर्ष मनाना धर्मका दृढ़ता एवं साधुओंमें भक्तिका परिणाम है। बिना धर्ममें दृढ़ता एवं साधुओंमें भक्तिवश विशेष अनुराग हुये आहारदान देनेपर भी अधिक हर्ष नहीं होता।

दान देनेपर मान नहीं करना चाहिये, यह भाव हृदयमें कभी नहीं लाना चाहिये कि मेरे यहां मुनिमहाराजका अथवा ऐलक महाराज का आहारदान हो गया है दूसरे पड़ोसीके यहां नहीं हुआ है, इसलिये मैं ऊंचा हूं, यह नीचा है। सरल एवं विनयभावोंसे रहना ही दाताका सद्गुण है। ये सात गुण दातामें रहने चाहिये, बिना इन गुणोंके दाता का महत्व नहीं है और न वह विशेष पुण्यका लाभ करता है।

दानमें कौनसा द्रव्य देने योग्य है

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिक न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं ॥१७०॥

अन्वयार्थ—[यत्] जो [रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिको [न कुरुते] नहीं करता है [सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं] सुतप करने में, स्वाध्याय करनेमें जो वृद्धि करनेवाला हो [तत् एव द्रव्य देयं] वही द्रव्य देने योग्य है।

विशेषार्थ—दानमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं देना चाहिये जिससे कि दान ग्रहण करनेवाले तपस्वीके परिणामोंमें किसी प्रकारका रागद्वेष उत्पन्न हो जाय, अथवा संयम पलनेमें कठिनता आ जाय अथवा संयमका घात ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता हो, जैसे उष्णकाल होनेपर भी आहारमें मिरच आदि उष्ण पदार्थ ही साधुओंको दे दिया तो उससे उनके कंठमें अग्नि जलने लगेगी, अथवा ऐसा पदार्थ दे दिया जिससे उन्हें शौच जानेकी बाधा हो जाय इसलिये आहारदान देते समय उन साधुओंकी शरीररक्षाकी हरप्रकारसे सुविधा देखना चाहिये। ऋतुका विचार भी रखना चाहिये, उष्णकालमें शीतलपदार्थ देना चाहिये, शीतकालमें उष्ण देना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि ये साधु महाराज कितने दिनसे उपवास धारण करनेवाले हैं, यदि उन्हें अधिक दिन निराहारसे बीत गए हैं तो उन्हें कोई तरल पदार्थ देना चाहिये जिससे उनके गलेमें कवलके निगलनेसे दर्द न हो, जिस पदार्थसे बाधा पहुंचनेका भय न हो, जिससे शरीरमें कोई पीड़ा न खड़ी हो जाय, ऐसा ही पदार्थ देना चाहिये। जो पदार्थ तप करनेमें एवं स्वाध्याय करनेमें सहायता देनेवाला हो वही देना चाहिये जैसे बादाम, सरबत, दूध, घी, छाछ, इक्षुरस, भात इलायची आदि पदार्थ देने चाहिये, जो सात्विक हों, मादक न हों, शिरमें ठंडक रखनेवाले हों, शरीरमें शांति पहुंचानेवाले हों, किसीप्रकारका विकार नहीं लानेवाले हों तथा जिनके सेवनसे उनका चित्त तप और स्वाध्यायमें विशेष-कालतक उपयुक्त बना रहे अर्थात् बिना किसी विघ्न बाधाके उन कार्यों में प्रवृत्ति बनी रहे, उन्हीं वस्तुओंका दान देना विवेकशील श्रावकका परम कर्त्तव्य है। कारण आहारदान शरीररक्षाके लिए है और शरीरका ठीक रहना धर्मसाधनकी सहायता है। शरीरमें बाधा पहुंचनेसे—किसी प्रकारका कष्ट होनेसे धर्मध्यानमें भी बाधा पहुंचती है इसलिए शरीरमें कोई कष्ट या बाधा न हो इस बातका ध्यान श्रावकको रखना चाहिए। इसके सिवा सम्यग्ज्ञानवर्धक शास्त्र उन्हें देना चाहिये, संयमकी रक्षा करने वाले—पीछी कमंडलु भी आवश्यकतानुसार उन्हें दे देना चाहिये। पीछी कमंडलु संयमकी रक्षाके अंग हैं बिना पीछीके जीवरक्षा नहीं की जा सकती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उठने बैठने लेटने ग्रन्थ रखने उठाने आदि क्रियाओंमें जीवोंको देखकर उन्हें उस स्थानसे हटाना चाहिये, वह कार्य अति कोमल पीछीसे ही साध्य है—अन्य किसी उपकरणसे नहीं हो सकता। इसलिये पीछी जीवरक्षाका उपकरण है, कमंडलु शुद्धिका उपकरण है, लघुशंका, दीर्घशंका—मूत्रवाधा मलबाधा दूर करनेपर कमंडलुके जलसे शरीर शुद्धि की जाती है, बिना कमंडलुके शरीरशुद्धि नहीं की जा सकती, इसलिये कमंडलु भी संयमका उपकरण है। शास्त्र ज्ञानोपकरण है, बस ये तीन ही वस्तुऐं मुनियोंके पास रहती हैं वे परिग्रहमें शामिल नहीं की जा सकतीं, कारण कि परिग्रह वही समझा जाता है जिसमें कुछ ममत्वबुद्धि हो, एवं जिससे इंद्रियों व शरीरको सुख मिलता हो, परंतु पीछी कमंडलु दोनोंसे शारीरिक व ऐन्द्रियिक सुख नहीं मिलता और न सुख प्राप्त करना उनसे उद्देश्य ही है किंतु संयमकी रक्षा होना इसी मात्रकी सिद्धिके लिये उन दोनोंका रखना मुनि व ऐलक पदके लिए अत्यावश्यक है। संयमरक्षार्थ एवं विशेष संयमकी सिद्धि व सूचनाके लिये पीछी कमंडलु चिह्न हैं।

पात्रका स्वरूप

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानां।
अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥१७१॥

अन्वयार्थ—[मोक्षकारणगुणानां संयोगः] मोक्षके कारणरूप गुण—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका जिनमें संयोग हो ऐसे, [अविरतसम्यग्दृष्टिः] अविरतसम्यग्दृष्टि—चतुर्थगुणस्थानवर्ती [विरताविरतश्च] विरताविरत—देशविरत पंचमगुणस्थानवर्ती और [सकलविरतश्च] सकलविरत—छठे गुणस्थानवती मुनिमहाराज ['इति' पात्रं] इसप्रकार पात्र [त्रिभेदं] तीनप्रकारके [उक्तं] कहे गये हैं।

विशेषार्थ—पात्रका सामान्यलक्षण यह है कि जिस आत्मामें मोक्षकी कारणता उपस्थित हो—अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी प्रगटता जिस आत्मामें हो चुकी हो, अथवा केवल सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही प्रगट हो चुका हो वही आत्मा पात्र कहा जाता है। पात्रके तीन भेद हैं—उत्तमपात्र, मध्यमपात्र, जघन्यपात्र। जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही गुण प्रगट हो चुके हों ऐसे सकल-संयमी आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधु उत्तमपात्र कहेजाते हैं, जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और एकदेशचारित्र हो ऐसे पंचम गुण-स्थानवर्ती श्रावक मध्यमपात्र कहे जाते हैं। जिनकी आत्मामें देशचारित्र भी न हो किंन्तु सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हो चुका हो ऐसे अविरत सम्य-ग्दृष्टि—चतुर्थगुणस्थानवर्ती पाक्षिक श्रावक जघन्यपात्र हैं।

जिसप्रकार उत्तम मध्यम जघन्य गुणवाली पृथ्वीमें बोया हुआ बीज उसी रीतिसे उत्तम मध्यम जघन्य फल देता है उसीप्रकार उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंमें दिया हुआ दान क्रमसे उत्तम मध्यम जघन्य फलको देता है।

यदि उत्तमपात्र मिलते हों तब तो अहोभाग्य ही समझना चाहिये यदि वे अपने दुर्दैवसे नहीं मिल सकें तो उत्कृष्ट मध्यमपात्र ऐलक क्षुल्लक परिग्रहत्यागी ब्रह्मचारी चतुर्थ प्रतिमाधारी दूसरी प्रतिमाधारी एवं पहली प्रतिमाधारी जो भी मिलसकें उन्हें आहार कराकर ही श्रावकको आहार करना चाहिये। बिना आहारदान दिये आहार करना श्रावककी पद्धतिसे बाहर है। गृहस्थाश्रममें किये गये सांसारिक आरंभजनित पापों का क्षय करनेके लिये श्रावकके पास पात्रदान देना ही सुगम उपाय है। यदि वह भी उपाय श्रावक काममें न लावे तो वह हीनकर्मा है। यदि मध्यम व्रती भी श्रावक आहार करनेकेलिये नहीं मिलसकें तो जघन्यपात्र—अविरत सम्य-ग्दृष्टिको ही ले जाकर उसे भक्तिपूर्वक आहार कराना चाहिये। ऐसे जघन्य पात्रोंकी सर्वत्र सत्ता देखनेमें आती है, जो देवगुरुशास्त्रमें दृढ़श्रद्धा रखते हैं, जिन मार्गसे विपरीत एक अक्षरभी जो बोलनेकेलिये, तैयार नहीं है जो अष्ट-मूल गुणके धारी हैं ऐसे पुरुष अविरत सम्यग्दृष्टियोंकी कोटिमें शामिल करनेयोग्य हैं, इसके सिवा जिनकी आत्मामें संसारसे भय पैदा हो चुका हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दयालु परिणाम हो, शांति हो, इन सब सद्गुणोंके साथ परम आस्तिक्यभाव-धर्ममें दृढ़ता गाढ़ श्रद्धा हो वे सम्यग्दृष्टि समझने चाहिये, अन्यथा व्यवहार-सम्यक्त्वको छोड़कर निश्चयसम्यक्त्वके जाननेके लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है, केवल बाह्य लक्षणोंसे अंतरंग गुणके सद्भावका अनुमान किया जा सकता है। जघन्य पात्रके यद्यपि सम्यक्चारित्र नहीं है. क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्म उसकी आत्मामें चारित्रको रोक रहा है तो भी सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे वह प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करता रहता है, इसलिये वह भी अविरत सम्यग्दृष्टि भी जघन्य-पात्र है। इसप्रकार जघन्यपात्र भी भक्तिपूर्वक आहारदान देने योग्य है। जहां पात्रको धर्मबुद्धिसे दान दिया जाता है वहां भक्तिपूर्वक ही दिया जाता है। इसलिये तीनोंप्रकारके पात्रोंको यथायोग्य भक्तिपूर्वक प्रतिदिन दान देकर ही भोजन करना चाहिये। यह गृहस्थका प्रधान कर्त्तव्य है।

जो विद्यार्थी—देवशास्त्रगुरुमें अटल भक्ति रखते हुए यथार्थज्ञान—सम्य-ग्ज्ञान बढ़ानेवाली विद्याका अध्ययन करते हैं उन्हें भोजन करा देना भी पात्रदान है। उनके लिये पुस्तकादिकी सहायता कर देना ज्ञानदान है।

इसप्रकार पात्रोंको दान करना पात्रदान कहा जाता है। इन्हीं पात्रों को धर्मपात्र भी कहते हैं, धर्मपात्रोंके पांच भेद हैं, १—सामयिक, २—साधक, ३—समयद्योतक, ४—नैष्ठिक, ५—गणाधिप। उनमें सामयिक धर्मपात्र वे कहलाते हैं जो कि शास्त्रोंकी आज्ञानुसार चलनेवाले मुनि अथवा गृहस्थ हैं। साधक वे कहलाते हैं जो ज्योतिषमंत्र आदिसे संसारी जीवोंका उपकार करते हों एवं शास्त्रोंके जानकार हों। समयद्योतक वे कहलाते हैं जो वाद-विवादकर जैनधर्मकी प्रभावना बढ़ानेवाले हों। नैष्ठिक वे कहलाते हैं जो मूलगुण और उत्तरगुणोंसे प्रशंसनीय वृत्तिवाले तपस्वी हों। गणाधिप वे कहलाते हैं जो ज्ञानकांड और क्रियाकांडमें कुशल धर्मा-चार्य एवं उन्हींके समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्य हैं। इन पांचोंप्रकारके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मपात्रोंको उनके गुणोंकी वृद्धिके लिए दान देकर संतुष्ट करना चाहिये। इसके सिवा जो परस्पर गृहस्थ सधर्मा भाई आपसमें एक दूसरोंको भोजन कराते हैं वह समानदान कहलाता है उसे समदत्तिके नामसे कहा जाता है, दाता गृहीता दोनों ही की वहाँ समानकोटि है। ऐसा समानदान भी प्रेमका एवं वात्सल्य भावका वर्धक है। समय समयपर गृहस्थोंको यह दान भी करते रहना चाहिये।

अब कुपात्रका स्वरूप कहा जाता है, जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन तो न हो परन्तु जो चारित्रका पालन करते हों वे कुपात्र कहलाते हैं. इस संज्ञामें द्रव्यलिंगी मुनि एवं मिथ्यादृष्टि व्रत पालनेवाले श्रावक ग्रहण किये जाते हैं। कुपात्रोंकी पहचान होना तो कठिन है, परन्तु उनको दिया हुआ दान कुभोगभूमि आदि फलोंको देता है, यद्यपि दान देनेका फल तो सदैव अच्छा है, भोगभूमि आदि भोग भोगनेके स्थान मिलते हैं, परंतु कुपात्रदानसे कुभोगभूमि आदि स्थान मिलते हैं, जो श्रावक व्रतोंको तो पालते हैं परंतु देवगुरुशास्त्रमें अटलश्रद्धा नहीं रखते, वे सब कुपात्र कहे जाते हैं।

अपात्र वह कहलाते हैं जो सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनोंसे रहित हों। अर्थात् जैनोंसे भिन्न जितने भी हैं वे सब अपात्र हैं, कारण न तो उनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन है और न जैन धर्मानुसार चारित्र है। इन अपात्र पुरुषोंको धर्मबुद्धिसे दिया हुआ दान व्यर्थ ही नहीं जाता किंतु कुफल—अशुभफलको भी देता है।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि जब जैनधर्मीके सिवा सभी अपात्र हैं तो उन्हें दान देना पाप बंधका कारण है वैसी अवस्थामें अंधे, लूले लंगड़े, अनाथ, दुःखी, क्षुधातुर इन लोगोंको भी दानदेनेका निषेध सिद्ध होता है, परंतु शास्त्रकारोंने ऐसोंको दान देनेका उपदेश दिया है? इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंकाका उत्तर इसप्रकार है—ऊपर पात्रोंका वर्णन आ रहा है, पात्रोंको दान करुणाबुद्धिसे नहीं दिया जाता किंतु धर्मबुद्धिसे भक्तिपूर्वक दिया जाता है। धर्मायतनोंमें भक्तिबुद्धि ही रखनेका विधान है। परन्तु जो पात्र नहीं हैं कुपात्र हैं वहां भी भक्तिभाव रक्खा जाता है। यद्यपि कुपात्रों में भक्तिबुद्धि नहीं रखना चाहिये कारण वे वास्तवमें धर्मसे रहित हैं, परन्तु उनके सम्यग्दर्शन है या नहीं है इस बातकी पहचान छद्मस्थ पुरुष नहीं कर सकते, इसलिये उन्हें पात्र ही समझते हैं, वैसी अवस्थामें उनका भक्ति करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि पात्रोंमें भक्ति–विनय नहीं रक्खी जायेगी तब भी अधर्म होगा और कुपात्रोंका चारित्र–व्रताचार बाह्यमें पात्रोंके समान ही रहता है इसलिये वहां तो भक्तिबुद्धिसे श्रावक दान देता है परन्तु जो प्रत्यक्षमें अपात्र दीख रहे हैं उनमें भक्ति-बुद्धि तो हो नहीं सकती क्योंकि भक्ति वहीं होती है जहां धार्मिक भाव है, जिस गृहीतामें धार्मिकभाव नहीं है उसमें दाताका भक्तिरूप परिणाम कभी नहीं हो सकता और न होना ही चाहिये। इसलिये उसी भक्ति-बुद्धिके वर्णनके कारणसे अपात्रोंको दान देनेका निषेध किया गया है। यदि भक्तिबुद्धिकी अपेक्षा नहीं रक्खी जाय केवल उनके कष्टनिवारणकी इच्छा रखी जाय तब उन्हें–अपात्रोंको दान देना चाहिये, वह दान करुणाबुद्धिसे दिया कहा जायेगा। अर्थात् दुःखी क्षुधातुर अनाथ आदि जितने भी अपात्र हैं उन्हें भी दया परिणामोंसे अवश्य दान देना चाहिये। वे धर्मसे शून्य होनेसे धर्मपात्र नहीं हैं किंतु विचारे दयाके पात्र हैं, जो पुरुष किसी प्रकार दुःखी नहीं हैं हरप्रकारसे समर्थ हैं, सुखी हैं, ऐसे अपात्रोंको दान देकर सुफल चाहना समुद्रमें बीज डालकर उससे फल लेनेकी इच्छा करनेके समान हास्यास्पद है। इसलिये पात्र अपात्रकी पहिचान कर ही दान देना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दानमें अहिंसाधर्म पलता है

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टं ॥१७२॥

अन्वयार्थ—(यतः लोभः हिंसायाः पर्यायः) कारण कि लोभ हिंसाका ही पर्याय है अर्थात् हिंसारूप ही है ('सः' अत्र दाने निरस्यते) वह लोभ इस दान देनेमें दूर किया जाता है । (तस्मात्) इसलिये (अतिथिवितरणं) अतिथिको दान देना (हिंसाव्युपरमणं एव इष्टं) हिंसाका त्याग ही सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ— दान देना अहिंसा है, अर्थात् हिंसाको दूर हटाना है कारण कि दान देनेसे लोभकषायका त्याग होता है, बिना लोभकषायका त्याग किये दान देनेके परिणाम ही नहीं होते, इसलिये, दानीके लोभकषाय छूट जाता है । लोभकषाय हिंसाका ही दूसरा नाम है । कारण कि कषायमात्र ही आत्माके परिणामोंकी हिंसा करनेवाले हैं इसलिए लोभ-कषाय भी आत्माको मोहित एवं प्रमत्त बनाता है इसलिए वह भी हिंसास्वरूप है । दान देने से उस लोभकषायरूप हिंसाका नाश होता है इसलिए अतिथिको दान देनेसे अहिंसाधर्मकी सिद्धि होती है अथवा हिंसा-भावका परित्याग होता है ।

जो दान नहीं देता वह लोभी क्यों है ?

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

अन्वयार्थ— (गुणिने) रत्नत्रय गुणोंके धारण करनेवाले (मधुकरवृत्त्या परान् अपीडयते) भ्रमरकी वृत्तिके समान दूसरोंको नहीं पीड़ा पहुंचानेवाले (गृहं आगताय) अपने घर आये हुए (अतिथये) साधुकेलिये (यः न वितरति) जो दान नहीं देता है (सः कथं लोभवान् न हि भवति) वह क्यों निश्चयसे लोभी नहीं है ? अर्थात् अवश्य लोभी है ।

विशेषार्थ - जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र गुण प्रगट हो रहे हैं, जोकिसी जीव को पीड़ा नहीं रखते पहुँचानेका भाव हैं तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीरसे भी अच्छी तरह निरीक्षण करनेके कारण जो दूसरों को पीड़ा नहीं होने देते, जिसप्रकार भौंरा (भ्रमर) प्रत्येक पुष्पपर बैठता है परंतु उसे विनष्ट नहीं होने देता, बिना पुष्पको किसीप्रकार आघात पहुँचाये ही उसका रसास्वाद लेता है। उसीप्रकार जोभ्रामरी वृत्तिसे कभी किसी केयहां और कभी किसीके यहाँ आहार लेने जाते हैं किसी एक स्थानमें ही मोहित वृत्ति नहीं रखते, और न किसीको किसीप्रकारका कष्ट ही देते हैं जो सदा गृह वास छोड़कर जंगलमें निवास करते हैं ऐसे साधुओंका घर आना बड़े ही पुण्योदयसे होता है, सहसा नहीं होता फिर भी घर आये हुए साधुओं को जो गृहस्थ दान नहीं देता है वह कितना लोभी है यह बात छिपी नहीं रह सकती अर्थात् जिसके परिणाम घर पधारे हुए रत्नत्रयधारी परम शांतवृत्ति वाले–वीतरागी मुनियोंकेलिये भी आहारदान करनेके नहीं होते वह महान् लोभी है ऐसा लोभी पुरुष कभी स्व–पर कल्याण नहीं कर सकता किंतु अपनी आत्माको ठगता है।

दान भी अहिंसाव्रत है

कृतमात्मार्थं मुनये ददानि भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अन्वयार्थ—(आत्मार्थं कृतं भक्तं) अपने लिये किये हुये भोजनको (मुनये ददानि) मैं श्रीमुनि महाराज के लिये दान दूं (इति भावितः त्यागः) इसप्रकार भावपूर्वक किया हुआ दान (अरतिविषादविमुक्तः) अप्रेम और खेद से रहित होता है (शिथिलितलोभः) लोभकषायको शिथिल कर देता है इसलिये (अहिंसा एव भवति) वह अहिंसा स्वरूप ही हो जाता है।

विशेषार्थ—जो पदार्थ अपने लिये तैयार किया जाय और फिर उसको स्वयं देनेके परिणाम हो जांय तो उस समय निश्चयसे लोभ मंद हो जाता है कारण यदि लोभकी तीव्रता होगी तो देनेके परिणाम ही नहीं होंगे, उस समय गृहीताके गुणोंमें प्रेम भी अवश्य ही हो जाता है क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना प्रयोजनीभूत पदार्थ दूसरोंको प्रेमके वश होकर ही दिया जा सकता है अन्यथा नहीं और विषाद भी उस समय नष्ट हो ही जाता है उस पदार्थके दानको जो अपने लिए खेदजनक समझेगा वह उसका दान ही क्यों करेगा इसप्रकार अपने लिये तैयार किये हुए भोजनको जो गृहस्थ भावपूर्वक मुनिमहाराजको देता है उसके उस समय अरति, विषाद और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाते हैं और इन तीनोंके नष्ट हो जानेसे उस-समय आत्माके हिंसामय भाव रहते हैं इसलिये दानको अहिंसा स्वरूप समझना चाहिये ।

उपर्युक्त रीतिसे पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत,ये श्रावकके बारह व्रत निरूपण किये गये । अब मरणके पूर्व सल्लेखना धारण करना आवश्यक है उसीका वर्णन किया जाता है ।

सल्लेखनाका स्वरूप

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुं ।
सतलमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(इयं एका एव) यह एक ही (मे धर्मस्वं) मेरे धर्मरूप द्रव्यको (मया समं नेतुं) मेरे साथ ले जानेकेलिए (समर्था) समर्थ है (इति सततं) इसप्रकार निरंतर (भक्त्या पश्चिमसल्लेखना भावनीया) भक्तिपूर्वक मरणकालमें सल्लेखनाका चिंतवन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—सत्—लेखना—सल्लेखना, भलेप्रकार कायकषायके कारणोंको घिसना, कमकरना अर्थात् रागद्वेष विभावपरिणाम जो संसारके वर्धक हैं, उन्हें कम करना एवं शरीरसे, बंधुबांधवोंसे तथा समस्त परिग्रहसे ममत्व भाव हटाना, कषायोंको मंद करना, इसीका नाम सल्लेखना है । मरण-कालमें ऐसे वीतराग—निर्मलपरिणामोंके हो जानेसे आत्मा कल्याणका भाजन होता है, कारण दूसरे भवकी आयुका बंध वर्तमान उपस्थित पर्यायमें बंधता है, वह आयुके त्रिभागमें आठ अपकर्ष कालोंमें होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् आत्मामें परभवकी आयुका बंध होनेकी योग्यता, आठ अपकर्ष कालोंमें होती है वे काल आयुके त्रिभागोंमें ही पड़ते हैं। इसलिये वर्तमान आयुके प्रत्येक त्रिभागमें भी परभवकी आयुका बंध हो सक्ता है अथवा कुछ त्रिभागोंमें ही जाय या किसी त्रिभागमें नहीं होकर केवल मरणकाल में ही हो जाय, परंतु इतना तो नियम है कि यदि किसी त्रिभागमें आयु का बंध नहीं होगा तो मरणकालके पूर्व–अचलावलि समय पहले परभवकी आयुका बंध नियमसे हो जायगा और आयुबंध समय जैसे जीवके भले या बुरे परिणाम होते हैं उन्हींके अनुसार आयुबंध और गतिबंध होते हैं, अशुभ परिणामोंके होनेसे दुर्गति एवं शुभ परिणामोंके होनेसे सुगति होती है यह भी नियम है कि गतिबंध तो छूट भी जाता है परंतु आयु-बंध कभी छूटता नहीं है, जिस आयुका बंध किया जाता है उस पर्यायमें जीवको नियमसे जाना ही होगा, इसलिये आयु तो नियमसे एक ही बंधती है परंतु गतिबंधका कोई नियम नहीं है, चारों गतियोंका भी बंध हो सकता है, दो या तीनका भी हो सकता है। परंतु जो आयुबंधकी अविनाभाविनी गति है वह तो आयुके साथ परभवमें उदय आती है वाकी गतियोंका बंध बिना फल दिये निर्जरित हो जाता है। जैसे यदि देवायुका किसी मनुष्यके बंध हो चुका है तो देवगति उदयमें आवेगी बाकी मनुष्य तिर्यञ्च नरक गतियां यदि उसके बंध हो चुकी हों तो वे बिना कुछ फल दिये वैसे ही खिर जायेंगी। इसलिये आयुबंध छूटता नहीं है यह नियम है। जब यह नियम है तभी आचार्योंका यह सदुपदेश है कि प्रतिसमय परिणामोंको सम्हालकर रक्खो, नहीं मालूम किस समय आयुका त्रिभाग पड़ जाय जिसमें कि परभवकी आयुका बंध हो जायेगा। यदि हर समय परिणामोंको रागद्वेषरहित नहीं बना सको तो मरणकालमें तो अवश्य ही बनाओ, कारण उस समय तो आयु-बंधकी पूर्ण संभावना है। यदि उस समय भी परिणामोंको कषाय एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक वासनाओंसे नहीं मुक्त कर सके तो फिर दुर्गतिका दुःख भोगना होगा कदाचित् आयुका बंध मरणकालके पहले ही हो तो भी यह लाभ होगा कि आयुका बंध किया जा चुका है उसमें भी उत्तम स्थान मिलेगा। जैसे देवायुका बंध यदि हो चुका हो तो मरणकालमें परिणामों के उज्ज्वल रहनेसे कल्पवासी देवोंमें उत्पत्ति होगी, भवनवासी आदिमें नहीं होगी, मनुष्योंसे उत्तम कुलादि मिलेंगे, इत्यादि रूपसे सल्लेखना हरप्रकारसे जीवको सुख साता पहुंचानेवाली है। उसके विषयमें मनुष्यको सदैव यही चिंतवन करना चाहिये कि मरणकालमें मेरा सल्लेखनापूर्वक ही मरण हो, क्योंकि मेरी निज निधि अथवा मेरे वास्तविक हितैषी धर्म मित्रको सल्लेखना ही मेरे पास भेज सकती है, बिना उसके धर्मकी रक्षा में कदापि नहीं कर सकता, और बिना उसकी रक्षा किये धर्मशून्य होकर ही परभवमें मुझे जाना पड़ेगा, इस परमहितकारिणी सल्लेखनाको मरण-कालमें मुझे अवश्य धारण करना चाहिये। यदि किसी कारणवश बीचमें ही आयुके घात होनेका अवसर आ जाय तो समय सल्लेखनाका मुझे निमित्त मिल जाना चाहिये, इसप्रकार सल्लेखनाकी भावना सदा बना रहने से फिर मरणकालमें आत्मा ममत्व छोड़नेके लिए समर्थ हो जाता है। भावनासे आत्मा व्रताचरणके लिये दृढ़ बन जाता है। परन्तु इतना विशेष है कि सल्लेखनासे किसी सांसारिक स्वार्थका लक्ष्य नहीं रखना चाहिये, क्योंकि वह स्वार्थ निदानबंध होगा, निदानबंधका फल बहुत छोटा एवं आत्माको ठगनेवाला है इसलिये बिना किसी सांसारिक चाहनाके धर्म भक्तिपूर्वक शुद्ध परिणामोंसे उसका धारण करना ही उत्तम फलका देने-वाला है।

सल्लेखनाका पालन

मरणांतेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलं ॥१७६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ – (अहं) मैं (मरणांते) मरणकालमें (विधिना) विधिपूर्वक (सल्लेखनां) अवश्यं करिष्यामि) सल्लेखनाको अवश्य धारण करूंगा (इति भावनापरिणतः) इसप्रकार की भावना रखनेवाला पुरुष (अनागतमपि इदं शीलं पालयेत्) अनुपस्थित रहते हुये भी इस शीलको पालन कर लेता है।

विशेषार्थ– सल्लेखना धारण करनेकी विधि यह है कि किसी कारणविशेष सेया सुतरां आयुका क्षय होता जानकर समस्त परिग्रह एवं कुटुम्बियोंसे ममत्वभाव छोड़ दे, शरीरसे वस्त्र भी दूर करा दे, अपने शरीर से भी ममत्वभाव छोड़ दे, आहारका त्याग सर्वथा कर दे, यदि सर्वथा न कर सके तो खाद्य पदार्थों को छोड़कर पेय पदार्थ, मांड़ रख लेय, उसे भी क्रमसे छोड़कर छाछ रख लेय उसे भी छोड़कर गरम जल रख लेय, पश्चात् उसे भी छोड़कर निराहारवृत्ति धारण कर ले। साथ ही किसीसे प्रेमभाव भी न करे, और न किसीसे शत्रु समझकर द्वेषभाव करे, किंतु सबोंको पास बुलाकर उनसे क्षमा मांगे और आप भी स्वयं उन्हें क्षमा प्रदान करे इसप्रकार चित्तको कषायसे रहित–शुद्ध बना लेय, अंतमें पंच नमस्कारका ध्यान करते करते सबप्रकारसे सावधानी रखते हुये शरीरको छोड़े यही सल्लेखनाकी संक्षिप्त विधि है। इस विधिसे मैं मरणसमयमें अवश्य ही सल्लेखना धारण करूंगा, इसप्रकारकी निरन्तर भावना रखनेवाला पुरुष सल्लेखनाका समय नहीं प्राप्त होनेपर भी सल्लेखना व्रतका पालक समझा जाता है।

सल्लेखना आत्मघात क्यों नहीं है ?

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोस्ति ॥१७७॥

अन्वयार्थ—[मरणे अवश्यं भाविनि] मरणके नियमसे उत्पन्न होनेपर [कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे] कषाय सल्लेखनाके सूक्ष्म करने मात्रमें [रागादिमंतरेण] राग द्वेषके बिना [व्याप्रियमाणस्य] व्यापार करनेवाले सल्लेखना धारण करनेवाले पुरुषके [आत्मघातः न अस्ति] आत्मघात नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई जा सकती है कि जो पुरुष सल्लेखना धारण करता है वह आत्मघाती क्यों नहीं कहा जाता, कारण वह मरण चाहता है और प्राणोंको शरीरसे हटानेके लिये उद्योग करता है? इसी शंकाका उत्तर इस श्लोक द्वारा दिया जाता है कि सल्लेखना धारण करनेवाला आत्मघातक किसीप्रकार नहीं कहा जा सकता, कारण वह मरण होनेकी इच्छा नहीं करता, किंतु मरण समय उपस्थित हो जाने पर वह कषायोंको कृषकर अपने परिणामोंकी विशुद्धि करता है। दूसरे सल्लेखनामें वह आत्मघातका कोई प्रयोग नहीं करता किंतु जिससमय समझ लेता है कि अब नियमसे मरण होनेवाला है उससमय सबोंसे क्षमा मांगता है सब परिग्रह व कुटुम्बियोंसे ममत्व छोड़कर शुद्धात्मस्वरूपके चिंतवनमें मग्न हो जाता है, क्या आत्मघाती ऐसे विशुद्ध परिणाम बना सकते हैं? वह तो विशेष रागद्वेषभावोंसे आत्मघातकी चेष्टा करता है, मरणजन्य संक्लेशभावोंसे मरता है। किसी शल्य विशेषसे मरनेका उद्योग करता है परन्तु सल्लेखनामें इन बातोंमेंसे एक भी बात नहीं है। न तो किसीप्रकारका रागद्वेष ही है न इष्टानिष्ट बुद्धि ही है और न कोई शल्य ही है। प्रत्युतः निरपेक्ष वीतरागविशुद्ध परिणाम हैं। सल्लेखनावाला केवल इतना ही तो करता है कि मरण अवश्य निकट समझकर कषायोंको घटाता रहता है, ममत्व छोड़ता है, क्या इन भावोंको धारण करनेवाला कभी आत्मघातका दोषी कहलाने योग्य है? कभी नहीं।

आत्मघाती कौन है?

यो हि कषायाविष्टः कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः॥१७८॥

अन्वयार्थ—[हि] निश्चय करके [यः] जो पुरुष [कषायाविष्टः] कषायसे रंजित होता हुआ [कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः] कुंभक, श्वांस रोकना, जल, अग्नि, विष और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शस्त्रोंके द्वारा [प्राणान्] प्राणोंको [व्यपरोपयति] नष्ट करता है [तस्य] उसके [आत्मवधः सत्यं स्यात्] आत्मवध वास्तवमें होता है ।

विशेषार्थ—जो पुरुष रागद्वेष मोहके वशवर्ती होता हुआ, श्वांस रोककर मरनेकी चेष्टा करता है, जो जलमें अग्निमें स्वयं पड़कर मरता है, विष खा लेता है, छुरी भोंककर या अपने आप बन्दूक आदि शस्त्र चलाकर स्वयं मरता है वह नियमसे आत्मघाती है, कारण कि बिना तीव्रकषायके अपने आप कोई मरनेके लिए अग्नि जल आदिमें नहीं पड़ना चाहता है इसलिये जिसके तीव्रकषाय–प्रमादयोग है वही आत्मघाती है, सल्लेखना मरण करनेवाला न तो मरण चाहता है और न कोई मरनेका प्रयोग या चेष्टा ही करता है और न उसके रागद्वेष ही है, वह तो केवल मरणसमय निश्चित समझकर परिणामोंको शांत एवं ममत्वहीन बनाता है इसलिये उसके प्रमादयोगका नाम भी नहीं है और जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका घात नहीं किया जाता है वहां आत्मघात भी नहीं हो सकता ।

सल्लेखना अहिंसाभाव है

नीयतेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुतां ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं ॥१७९॥

अन्वयार्थ— [अत्र] इस सल्लेखनामें [हिंसायाः हेतवः कषायाः] हिंसाके कारणभूत कषाय [यतः तनुतां नीयंते] जिस कारण सूक्ष्म किये जाते हैं [ततः सल्लेखनां अपि] इसलिये सल्लेखनाको भी [अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं प्राहुः] अहिंसाकी प्रसिद्धकेलिये कहते हैं ।

विशेषार्थ—इस सल्लेखनामें कषायभाव जितने घट सके उतने घटाये जाते हैं और कषायभावोंका घटाना ही अहिंसाभावोंका प्रगट होना है क्योंकि कषाय ही तो हिंसाके कारण हैं, अथवा वे स्वयं हिंसास्वरूप हैं इसलिये कषायोंको दूर करना अहिंसाभावोंकी प्रगटता है अतः सल्लेखना अहिंसाभावके प्रगट करनेकेलिये ही धारण किया जाता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रतधारीको स्वयं मोक्ष मिलती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपद श्रीः ॥१८०॥

अन्वयार्थ—[इति] इसप्रकार [यः व्रतरक्षार्थं] जो पुरुष व्रतोंकी रक्षाकेलिये [सकलशीलानि] समस्त शीलोंको [सततं पालयति] निरंतर पालन करता है [तं] उस पुरुषको [शिवपदश्रीः] मोक्षलक्ष्मी [उत्सुका 'सती'] उत्सुक होती हुई [पतिंवरा इव] पतिको स्वयं वरण करनेवाली कन्याके समान [स्वयमेव वरयति] अपने आप ही वर लेती है।

विशेषार्थ—अहिंसादिक पांच अणुव्रत कहलाते हैं और तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एवं सल्लेखनामरण, ये सब शील कहलाते हैं। शीलोंके पालनेसे व्रतोंकी रक्षा होती है, अर्थात् उनसे अहिंसादिभावोंकी दृढ़ता एवं निर्विघ्न वृद्धि होती है, इसलिये जो पुरुष समस्त शीलोंको पालता है उसके व्रत भी सुतरां पलते जाते हैं ऐसी अवस्थामें श्रावक महाव्रतोंके धारण करनेमें समर्थ हो जाता है कालान्तरमें महाव्रतोंको धारणकर वह मोक्ष लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है। इसलिये यहांपर उत्प्रेक्षालंकारसे बतलाया गया है कि जिसप्रकार स्वयंवरमें कन्या पतिको स्वयं वर लेती है उसीप्रकार समस्त शक्ति पालनेवाले पुरुषको मोक्षलक्ष्मी स्वयं वर लेती है अर्थात् व्रतका पालक नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। चाहे उसी भवसे करे या भवांतरसे करे।

अतीचारोंकी संख्या

अतिचाराः सम्यक्त्वे, व्रतेषु शीलेषु पंच पंचेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबंधिनो हेयाः ॥१८१॥

अन्वयार्थ—[सम्यक्त्वे] सम्यग्दर्शनमें [व्रतेषु] व्रतोंमें [शीलेषु] शीलोंमें [पंच पंच] पांच पांच [अतीचाराः] अतीचार होते हैं [इति अमी सप्ततिः] इसप्रकार ये सत्तर अतीचार [यथोदितशुद्धिप्रतिबंधिनः] जैसी इन व्रत शीलोंकी शास्त्रोंमें शुद्धि बतलाई गई है उसके प्रतिबंधी अर्थात् उनमें दूषण लाने वाले हैं इसलिये [हेयाः] छोड़नेयोग्य हैं।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वमें या व्रतोंमें अंशरूपसे भंग होता हो उसीका नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीचार है अर्थात् किसी व्रतमें थोड़ा दूषण लगनेका नाम ही अतीचार है। इसी बातका खुलासा पंडितप्रवर श्रीआशाधरने सागारधर्मामृतमें इसप्रकार किया है–"सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंशभजनं" अर्थात् जो पुरुष किसी विषयकी मर्यादारूपसे प्रतिज्ञा ले चुका है उसके व्रतमें एक देशभंजन होना अर्थात् अंशरूपसे व्रतमें दूषण आना ही अतीचार कहलाता है। एकदेश व्रतका भंग क्या कहलाता है इसका खुलासा इसप्रकार कि व्रतोंका पालन बहिरंग अंतरंग दोनों रूपसे होता है, यदि केवल अंतरगमें व्रतभाव हो बहिरंगमें उसके अनुकूल आचरण न हो तो भी व्रतकी रक्षा नहीं हो सकती और न वह व्रतरूप प्रवृत्ति ही कहलायी जा सकती है। तथा यदि वाह्य व्रताचरण हो और अंतरंगमें मर्यादित प्रतिज्ञा न हो तो उसे व्रत नहीं कहा जा सकता, इसलिये दोनों–अंतरंग बहिरंग रूपसे जो पाला जाता है वही व्रत कहलाता है।

उस व्रतमें या तो अंतरंग भावोंमें कुछ दूषण आता है तो वह अतीचार कहलाता है, अथवा बहिरंग प्रवृत्तिमें कुछ दूषण आता है तो वह अतीचार कहलाता है और जहांपर अंतरंग बहिरंग दोनोंप्रकारसे व्रतरक्षाका भाव नहीं रहता वहां उसे अनाचार कहा गया है। अर्थात् व्रत–मर्यादाका लक्ष्य ही भावोंसे उठादेना कि मैं व्रतमर्यादाकी कुछ परवा नहीं करता, तब तो निर्मर्यादप्रवृत्ति–अनाचार है अनाचारमें व्रतका सर्वथा भंग हो जाता है। परंतु अतीचारमें व्रत–मर्यादा तोड़ी नहीं जाती, किंतु किसी कारणवश उसके एक देशमें थोड़ा दूषण लगता है। अतीचार प्रत्येक व्रत के पांच पांच बतलाये गये हैं सम्यक्त्वके पांच, पांचों अणुव्रतोंके पांच पांच. तीन गुणव्रतोंके पांच पांच शिक्षाव्रतोंके पांच पांच और सल्लेखनाके पांच। इस रीतिसे अब अतीचार श्रावक व्रतोंके ७० होते हैं, ये सत्तर अतीचार उपलक्षण रूपसे समझने चाहिये, वास्तवमें तो और भी बहुत हैं, परन्तु जिसप्रकार कौआसे दहीकी रक्षा करना यह किसी बालकको कहा जाता है तो वहांपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौआ केवल उपलक्षण है, उसका अर्थ यह है कि जितने भी दधिके भक्षक जीव हैं उन सबसे दधिकी रक्षा करना चाहिये। उसीप्रकार स्थूलदृष्टिसे पांच पांच अतीचारोंका विधान किया गया है, जो छोटे छोटे दोष व्रतोंमें अनेक प्रमादवश आते हैं वे सब उन्हीं पांचोंमें गर्भित हैं। व्रतकी जैसी पूर्ण शुद्धि कही गई है उसमें ये अतीचार विघात करते हैं शुद्धिको रोकते हैं पूर्णरूपसे व्रतको नहीं पलने देते, इसलिये प्रमादको छोड़कर सावधानी से इनका परित्यागकर व्रतोंकी पूर्ण रक्षा करना प्रत्येक व्रती श्रावकका कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शनके अतीचार

शंका तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोन्यदृष्टीनां।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अन्वयार्थ—[शंका] जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित-आगममें शंका करना [तथैव कांक्षा] उसीप्रकार व्रतोंसे सांसारिक फलकी वांछा रखना [विचिकित्सा] मुनियोंके स्वरूपसे एवं पदार्थोंसे घृणाभाव धारण करना [अन्यदृष्टीनां संस्तवः] अन्य दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोंकी स्तुति करना [मनसा तत्प्रशंसा] मनसे उनकी और उनके कार्योंकी प्रशंसा करना [सम्यग्दृष्टेः अतीचाराः] सम्यग्दृष्टिके अतीचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—जो अनेकांत वस्तुविधान अथवा लोक एवं चारित्रनिरूपण आगममें कहा गया है वह सत्य है या नहीं, इसप्रकार चित्तमें संदेह लाना, यह शंका नामका सम्यग्दृष्टिका अतीचार है। यह अतीचार सबसे प्रबल है, सम्यक्त्यका सबसे बड़ा अतीचार है। सम्यक्त्व धारण करनेवालोंको आगमपर विश्वास रखनेवालों को इस अतीचारको नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि आगम सर्वज्ञदेवद्वारा कहा गया है, सर्वज्ञ देव भूत भविष्यत् वर्तमानके प्रत्यक्षदर्शी और वीतराग हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित पदार्थ कभी असत्य नहीं हो सकता, जो जिनेंद्र-सर्वज्ञने पदार्थ विवेचन किया है वही उनके साक्षात् शिष्य गणधरदेव एवं उनके शिष्य प्रशिष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्योंने ग्रंथरूपमें संकलित किया है, इसलिए आगम सर्वथा निर्दोष यथार्थ है उसमें शंका करना अनुचित है। यदि परीक्षा करनेकी योग्यता है तो परीक्षा कर लेना चाहिये, परीक्षापूर्वक जो पदार्थको धारण करते हैं वे फिर कभी जैनधर्मसे विचलित नहीं हो सकते। कारण जैनधर्म जो युक्ति प्रमाणसे कभी खंडित नहीं हो सकता, वह जितना परीक्षाद्वारा मार्जित किया जायगा उतना ही महत्त्वास्पद बनता जायगा, परंतु परीक्षा करनेकी सामर्थ्य हो तभी परीक्षा की जा सकती है, थोड़ासा ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे एवं शास्त्रोंका रहस्य नहीं समझनेसे परीक्षा नहीं की जा सकती, ऐसी अवस्थामें आगमकथन को आज्ञाप्रमाण ही स्वीकार कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥" अर्थात् जिनेंद्रदेवका कहा हुआ तत्त्वनिरूपण सूक्ष्म है, इसलिए स्थूलबुद्धिवालोंसे वह सर्वांश-रूपसे जाना नहीं जाता। वह किन्हीं हेतुओंसे खंडित नहीं किया जा सकता, इसलिए आज्ञाप्रमाण ही धारण करना चाहिये। क्योंकि जिनेंद्र-देव अन्यथावादी नहीं हो सकते, अन्यथावादी—असत्यभाषी वही व्यक्ति हो सकता है जो अल्पज्ञ हो और रागी द्वेषी हो, जो दोनों बातोंसे दूर है अर्थात् अल्पज्ञ भी नहीं है और रागी द्वेषी भी नहीं है फिर उससे कभी अन्यथा प्रतिपादन हो ही नहीं सकता है। इसलिए श्रीजिनेंद्रदेवके वचनों-में—ऋषिप्रणीत आगममें कभी संदेहवृत्ति नहीं लाना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि आगमकथित पदार्थमें शंका ही उत्पन्न नहीं हो अथवा शंका करना ही बुरा है सो नहीं, शंका करना बुरा नहीं है, छद्मस्थोंको पदार्थोंमें शंकाका होना तो स्वाभाविक बात है परंतु अपनी बुद्धिकी मंदता समझकर पदार्थनिर्णयकी दृष्टिसे शंका करना समुचित मार्ग है, किंतु अपनी बुद्धिको ही सर्वोपरि समझकर आगमकथित पदार्थोंको अयथार्थ समझना भारी अज्ञानता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष जो देव गुरु शास्त्रका दृढ़-श्रद्धानी है कभी इसप्रकारकी शंका नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कांक्षा–सांसारिक वासनाओंको चाहना यह दूसरा अतीचार है, मुझे सम्यग्दर्शनके फलसे स्वर्गादि सामग्री प्राप्त हो जाय अथवा इस लोकमें मेरे धन धान्य पुत्रादिककी विभूति मिल जाय, इसप्रकारकी आकांक्षा रखना भी सम्यक्त्वका अतीचार है। परिणामोंकी विशुद्धता एवं शुभप्रवृत्तिसे सुतरां पुण्योदयवश इस लोक परलोकमें भोग्य सामग्री मिल ही जायगी फिर उसकी आकांक्षा रखकर अपने उत्तम फलको हलका बनाना एवं सम्यक्त्वमें दूषण लाना व्यर्थ और हानिकारी है।

विचिकित्सा–ग्लानि एवं घृणा करनेका नाम है। किसी पदार्थमें दोष अथवा मलिनता देखकर थूकना, नेत्र मूंद (बंद कर) लेना, नाक सिकोड़ लेना, उस स्थानसे या उस मलिन वस्तुके पाससे तुरंत भाग जाना, चेष्टा खराब कर लेना, मुंह बंद कर लेना ये सब क्रियायें ग्लानिसे होती हैं। मुनिमहाराजके शरीरको देखकर पसीना एवं उसपर लगीहुई धूलिसे आई हुई ऊपरी मलिनतासे घृणा करना पापबंधका कारण है, क्योंकि शरीर तो निकृष्ट–अपवित्र है ही परंतु मुनियोंका परम पवित्र रत्नत्रय गुणोंसे देदीप्यमान आत्मा उस शरीरमें निवास कर रहा है इसलिए ऊपरी मलिनतासे घृणा न करके गुणोंसे प्रेम करना चाहिये। इसीप्रकार जो स्थान मलिन हैं, दुर्गंधित हैं, जो विष्टादि मलिन वस्तुयें हैं, कोई रोगी पुरुष है उन सबको देखकर उनकी मलिनतापर घृणाभाव या ग्लानिभाव नहीं करना चाहिये। किंतु वस्तुस्वरूप समझकर उनसे औदासीन्यभाव धारण करना चाहिये।

अन्यदृष्टिसंस्तव–मिथ्यादृष्टियोंकी स्तुति करना उनके चारित्र एवं ज्ञानकी वचनसे प्रशंसा करना, उनकी क्रियाओंको वचन द्वारा महत्त्व देना यह सब अन्यदृष्टि संस्तव नामका चौथा सम्यक्त्वका अतीचार कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनःप्रशंसा—मनसे मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्रकी प्रशंसा करना, उनके गुणोंका हृदयमें आदर करना, उनकी क्रियाओंको मनमें भला मानना यह सब मनःप्रशंसा नामका पांचवा अतीचार है। इसप्रकार ये सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार हैं, इनसे सम्यक्त्वमें मलिनता आती है, इसलिये उन्हें नहीं लगने देना चाहिये तभी सम्यक्त्व निर्दोष रह जाता है।

अहिंसाव्रतके अतीचार

छेदनताडनबंधा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयाश्च रोधः पंचाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अन्वयार्थ—(छेदनताडनबंधाः) पशु पक्षी आदिकी नाक छेदना, कान छेदना, जीभ छेदना आदि, लकड़ी, वैंत, अंकुश आदिसे उन्हें मारना, उन्हें इच्छित प्रदेशमें घूमने न देना एक स्थानमें बांध कर रखना, (समधिकस्य भारस्य आरोपणं) बहुत अधिक भारका लाद देना (पानान्नयोश्च निरोधः) पानी और अन्नका नहीं देना अथवा समयपर नहीं देना, (इति) इसप्रकार (अहिंसाव्रतस्य पंच) अहिंसाव्रतके पांच अतीचार हैं।

विशेषार्थ—जो घरमें पशुओंको रखते हैं उन्हें कभी कभी सताया करते हैं यह सताना ही अहिंसाव्रतमें अतीचार लगाना है। कारण कि प्रमादके योगसे प्राणोंका नाश करना ही हिंसा है, जो पशु सताया जाता है उसके प्राणोंको पीड़ा होती है, पीड़ाका होना ही भावप्राणोंका घात है। इसके सिवा नाक कान आदि शरीरके अवयवोंको छेदनेसे, लकड़ी आदि से मारनेसे, सामर्थ्यसे अधिक उनपर बोझा लाद देनेसे उनके शरीरके अंग भंग रूप बाह्य प्राणोंका घात भी हो जाता है इसलिये द्रव्यहिंसा भी हो जाती है तथा जो व्यक्ति उन्हें कष्ट पहुंचाता है वह बिना कषायभाव—रागद्वेषके नहीं पहुंचाता इसलिये उसके प्रमादयोग है, अतः पशु पक्षियों को सताना अहिंसाव्रतका अतीचार है, पशु भूखा है प्यासा है, उसकी फिकर नहीं करना अथवा उसे देरी करके खाने पीनेको देना, ये सब बातें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामोंको मलिन करनेवाली हैं। इसलिये अहिंसाव्रत पालनेवाले–दयालुओंको इनसे अवश्य बचना चाहिये।

सत्यव्रतके अतीचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारकमंत्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थ—(मिथ्योपदेशदानं) झूठा उपदेश देना (रहस्योऽभ्याख्यानकूटलेखकृती) गुप्त भेदको प्रगट कर देना, किसीको ठगनेकेलिये कपटरूपसे कुछका कुछ लिख कर प्रगट करना (न्यासापहारवचनं) किसीकी धरोहरके भूल जानेपर उसे अपहरण (हड़प लेनेका) करनेका वचन कहना (साकारकमंत्रभेदश्च) किसीके गुप्त अभिप्रायको कायकी चेष्टा आदिसे जानकर प्रगट कर देनाये पांच अतीचार हैं।

विशेषार्थ—जो धार्मिक क्रियायें आगमानुसार प्रसिद्ध हैं, उनके विषयमें झूठा उपदेश देना कि अमुक क्रिया ठीक नहीं है अमुकक्रिया इसरीतिसे होनी चाहिये, एवं धर्मका स्वरूप ऐसा नहीं ऐसा है, इसप्रकार असत्य कहना मिथ्योपदेश है। एकांतमें जो बात स्त्री पुरुष करते हैं उन्हें छिपकर सुनलेना और दूसरे समयमें उन्हें सबोंके सामने कहदेना यह रहसोभ्याख्यान है। किसी व्यापारादिमें प्रयोजन सिद्ध होता हुआ देखकर कपटरूप लेख प्रगट करदेना जैसे कि– अमुक व्यापारमें अमुकरूपसे लिखा पढ़ी हुई थी, अमुकरूपसे नहीं हुई थी इसप्रकार प्रगट करना अथवा झूठे तमस्सुक (लेखपत्र) बना लेना कूटलेखकृति कहलाती है। कोई कुछ द्रव्य रखजाय तो उसे धरोहर कहते हैं यदि किसीने किसीके पास १००) रक्खे हों परंतु एक वर्षदिन पीछे विस्मरण हो जानेसे वह ८०) रक्खे हुए समझकर ८०) ही मागने लगे तो साहूकार यह समझता हुआ भी कि इसने १००) रक्खे हैं परन्तु भूलकर ८०) मागता है, फिर भी उसे ८०) ही दे देय और कह देय कि हां तुम अपने ८०) जो रक्खे थे सो सब ले जाओ। ऐसी अवस्थामें उसने २०) रुपया अपहरण करनेके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये झूठ बोलदिया यह न्यासापहार वचन कहलाता है। किसी प्रकरण वा अंगविकार भृकुटी क्षेप आदिसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्या-भावसे दूसरोंमें प्रगट कर देना साकारमंत्रभेद है ये पाचों सत्यव्रतके अतीचार हैं इनसे सत्यव्रतमें दूषण लगता है।

यहांपर गुप्त बातको प्रगट करना दो जगह आया है परन्तु दोनोंका अभिप्राय जुदा जुदा है इसलिये दो अतीचार कहे गये हैं। यदि कोई शंका करे कि ये सभी अनाचार क्यों नहीं कहे जाते क्योंकि झूंठ तो सबों में है, इसका उत्तर यह है कि अनाचार वहां होता है जहां सत्य बोलनेकी बिल्कुल मर्यादा नहीं रक्खी जाती। यहांपर झूंठ तो बोला जाता है परंतु ऐसा झूंठ है जो सत्यतामें छिप जाता है। किसी अंशमें थोड़ासा झूंट बोलता है सर्वथा निर्द्वंद्वरीतिसे झूंठ बोलकर वह सत्यकी मर्यादाका ध्वंस करना नहीं चाहता। इसलिये पांचो ही भेद अतीचारोंमें गर्भित हैं।

अचौर्यव्रतके अतीचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानं।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वयार्थ—(प्रतिरूपव्यवहारः) सदृश वस्तुओंमें उलट फेरकर मिला देना (स्तेननियोगः) चोरीका उपाय बताना (तदाहृतादानं) चोरी का अपहरण किया हुआ द्रव्य ग्रहण करना (राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च) राज विरोधका उल्लंघन करना, थोड़ा देना अधिक लेना, ये पांच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं।

विशेषार्थ—कृत्रिम—बनावटी रत्नोंको असली रत्नोंमें मिलाकर उन्हें असलीकी कीमतसे बेचना, गेहूंके आटेमें ज्वारीका आटा मिलाकर बेचना, दूधमें पानी मिलाकर बेचना, चांदीमें रांगा और सोनेमें मुलम्मा मिलाकर बेच देना यह सब प्रतिरूपव्यवहार कहलाता है। स्वयं तो चोरी का त्याग है परन्तु चोरोंको चोरी करनेका उपाय बतला देना, अथवा किसी दूसरेसे चोरको चोरीका मार्ग भीतरी खोज आदि कहलवाना, जो चोरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है उसकी अनुमोदना करदेना, यह सब स्तेननियोग अथवा स्तेनप्रयोग कहलाता है । चोर जो चुराकर द्रव्य वर्तन आदि वस्तुऐं लाता है उन्हें थोड़ा मूल्य देकर खरीद लेना. यह तदाहृतादान कहलाता है । जो बात राज्यसे विरुद्ध समझी जाती है, जिनके करनेसे राज्यकी आज्ञाका उल्लंघन होता है, नियम टूटता है उन बातोंको कर डालना, जैसे बाहरसे आते समय या बाहर ले जाते समय नये मालपर कुछ महसूल लगता है, उसे नहीं देना, किंतु छिपाकर ले जाना । ढाई वर्षसे ऊपर बच्चेका आधा टिकट लगता है और ग्यारहवर्षसे ऊपरके बच्चेका पूरा रेलवे टिकट लगता है ऐसा नियम होनेपर ढाईवर्षके ऊपरवाले बच्चे को दो वर्षका बता देना या ग्यारह वर्षसे ऊपरवालेको दसवर्षका बता देना यह सब राजविरोधातिक्रम कहलाता है ।

वेचते समय ऐसे बांट तराजूसे–मापसे देना जिसमें लेनेवालेपर थोड़ी वस्तु जाय और लेतेसमय स्वयं खरीदते समय ऐसे बांट तराजूसे लेना जिससे अधिक वस्तु आ जाय, इसप्रकार ये पांच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं । इन अतीचारोंमें स्वच्छंद रीतिसे चोरी नहीं होती है किंतु चोरीका अंश रूपसे प्रयोग होता है इसलिये कुछ दूषण होनेसे ये पांचों प्रयोग अतीचारोंमें गर्भित हैं ।

ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार

स्मरतीव्राभिनिवेशोनंगक्रीड़ान्यपरिणयनकरणं ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पंच ॥१८६॥

अन्वयार्थ—(स्मरतीव्राभिनिवेशः अनंगक्रीड़ा अन्यपरिणयनकरणं) कामभोगोंमें तीव्र लालसाका रखना, अंग भिन्न अंगोंमें रमण करना, दूसरोंका विवाह कराना (अपरिगृहीतेतरयोः) अपरिगृहीता जिसका किसीके साथ विवाह नहीं हुआ हो ऐसी वेश्या या कन्या, परिगृहीता दूसरेकी विवाहिता सधवा या विधवा स्त्री ऐसी जो (इत्वरिकयोः) व्यभिचारिणी है उनके यहां (गमने) गमन करना ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार हैं ।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्यव्रत धारण करनेपर भी काम की तीव्रता रखना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वदारसंतोषव्रतके होनेपर भी स्वस्त्रीके साथ रमण करनेकी तीव्रलालसा रखना, अथवा रात्रिमें कामसेवनका समय है परन्तु लालसावश दिनमें ही कामसेवन करना, अंग नाम योनिका है, सन्तानोत्पत्तिके स्थानको योनि कहते हैं। उससे भिन्न अंगोंमें–मुख कुचादि अंगोंमें रमण करना, अपनेसे भिन्न–पुत्र पुत्री आदिका विवाह कराना, तथा दूसरेकी परणी हुई–विवाहिता परन्तु परपुरुषके साथ रमण करनेवाली व्यभिचारिणी–परस्त्रीके यहां जाना उससे कामविषयवर्धक बात चीत आदि करना जो दूसरेकी विवाहिता नहीं है अर्थात् जिसका कोई स्वामी कभी नियत नहीं हुआ है ऐसी जो व्यभिचारिणी स्त्री–वैश्या आदि हैं उसके यहां कामवासनावश जाते आते रहना। ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार हैं। ये अतीचार ब्रह्मचर्यव्रतमें एकदेश दूषण लगाते हैं, उसे सर्वथा नष्ट नहीं करते।

यहांपर परिगृहीत शब्दसे उस स्त्रीसे प्रयोजन है जो एकबार विवाही जा चुकी है, चाहे वह सधवा हो चाहे विधवा हो। विधवा स्त्रीको भी परिगृहीतकोटिमें ही लिया जायेगा, उसे अपरिगृहीतकोटिमें नहीं लिया जा सकता। कारण कि परिग्रहण–विवाह एकबार ही होता है और वह कन्याका ही होता है। जिसका एकबार विवाह हो चुका है वह फिर कन्या कभी नहीं कहला सकती। कन्या कुवारी–अविवाहिताको कहते हैं, उसीका विवाह हो सकता है, जैसा कि राजवार्तिककार–श्री अकलंकदेवने कहा है–सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते–अर्थात् सातावेदनीयकर्म एवं चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे कन्या का वरण करना विवाह कहा जाता है। इसलिये विवाह विधवाका कभी हो नहीं सकता, वह परिगृहीत बन चुकी। अपरिगृहीत वही स्त्री कहलाती है जिसे कभी किसी ने परिगृहीत नहीं किया है अर्थात् जिसका विवाह नहीं हुआ है, इस कोटिमें वैश्या, कन्या और अविवाहिता स्त्रियां आती हैं। जो परस्त्री है अथवा जो परस्त्री नहीं है उसके यहां बिना किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकारके अन्य किसी प्रयोजनवश जाना ब्रह्मचर्यमें कुछ दूषण नहीं लाता इसलिये विकाररहित कार्यवश चले जाना अतीचार नहीं है, किंतु जो पर-स्त्री या अविवाहिता व्यभिचारिणी है उसके यहां वैकारिक परिणामोंसे जाना अतीचारमें गर्भित है। इसीप्रकारके अतीचारोंसे ब्रह्मचर्यव्रतपालक श्रावकों को दूर रहना चाहिये, तभी वे अपने व्रतकी पूर्ण रक्षा कर सकते हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पंच ॥१८७॥

अन्वयार्थ—(वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां) वास्तु—घर, क्षेत्र—धान बोने का स्थान या खेत, अष्टापद—सोना, हिरण्य—चांदी, धन—गौ भैंस घोड़ा आदि, धान्य—गेहूं चना चावल आदि, दास—नौकर चाकर, दासी—नौकरनी, इनके (अपि कुप्यस्यभेदयोः) और कुप्यके दोनों भेद—क्षाम और कौशेय अर्थात् रेशमीवस्त्र और सूतीवस्त्र आदि इन सबके (परिमाणातिक्रमाः पंच) परिमाणका—नियमका उल्लंघन कर देना, ये पांच परिग्रह-परिमाणव्रतके अतीचार हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक दो दो भेदोंको एक कोटिमें सम्हाल करनेसे पांच अतीचार हो जाते हैं; जैसे—वास्तु क्षेत्र—घर और खेत दोनों एक कोटिमें लेने चाहिये, अष्टापद हिरण्य—सोना चांदी दोनों एक कोटिमें लेनेचाहिये, इसीप्रकार धन धान्य एकमें और दास दासी एकमें तथा कुप्यके दोनों भेद एकमें, इस रीतिसे पांच अतीचार हो जाते हैं। जो जो वस्तुयें जितनी जितनी मर्यादाको लेकर परिग्रहपरिमाणव्रतमें रख ली जांय उनमें कुछ अधिक बढ़ा लेना; चार घर रक्खे हों तो एक पांचवे घरकी कोठरी और काममें लेना, खेत सौ बीघा रख लेने पर भी एक दो बीघा और भी काममें आजाय तो उसकी परवा नहीं करना, इसीप्रकार नौकर चाकर बढ़ा लेना, वस्त्र बरतन आदि मर्यादित चीजोंसे अधिक काममें ले लेना, ये सब परिग्रहपरिमाणव्रत के अतीचार हैं। अधिक वस्तुओंका उपयोग करनेसे अधिकआरंभ बढ़ता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससेअधिक हिंसाहोती हैं । इसलिये जहांतक हो व्रतकी पूर्णताके लिये इन सब अतीचारोंको छोड़ना चाहिये ।

दिग्व्रतके ५ अतीचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानं ।
स्मृत्यंतरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध्वं अधस्तात् तिर्यक् व्यतिक्रमाः) ऊपर नीचे और तिरछी दिशाओंका उल्लंघन करना, (क्षेत्रवृद्धिः) क्षेत्रको बढ़ा लेना, (स्मृत्यंतरस्य आधानं) की हुई मर्यादाको भूलकर कुछ अधिक मर्यादा बढ़ा लेना, (इति प्रथमशीलस्य पंच गदिताः) इसप्रकार पहले शीलके अर्थात् दिग्व्रतके पांच अतीचार कहे गये हैं ।

विशेषार्थ— पर्वतपर बहुत ऊंचे—जितनी मर्यादा उर्ध्व दिशाकी रक्खीथी उतने नियमित क्षेत्रसे ऊपर—चढ़ जाना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है, वायुयान (उड़ने जहाज) एवं विद्याधरों के विमान या देवोंके विमानोंमें बैठकर ऊंचे चले जानेमें भी ऊपरके मर्यादित क्षेत्रका उल्लंघन हो जाता है । इसी प्रकार कूएमें कोयलों आदिकी जमीनके भीतर खानोंमें प्रवेश करने आदिसे नीचेकी मर्यादाका उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है । समान भूतल में जितने योजन क्षेत्र रक्खा है या जिस नगर या नदी पर्वत तक रक्खा है उनसे कुछ आगे बढ़ जाना तिर्यक्व्यतिक्रम कहा जाता है । कतिपय टीकाकारोंने तिर्यक्व्यतिक्रमका अर्थ तिरछागमन तो किया है परंतु दृष्टांत में विलप्रवेश आदि टेढ़ा गमन करना लिया है । यह अर्थ भी किसी प्रकार विरुद्ध नहीं हैं । वह भी होता है और तिरछा गमनसे सम भूतलमें गमन करना लेना भी विरुद्ध नहीं पड़ता है । जहां देवोंके अवधिज्ञानका विचार किया है वहां तिर्यक्क्षेत्र समतल ही लिया गया है । दूसरे विलादि प्रवेश नीचेमें आ सकते हैं परंतु विदिशाओंके ग्रहणमें वे स्वतंत्र ही सम्हाले जाते हैं । क्षेत्रको बढ़ा लेना—अर्थात् जितना क्षेत्र मर्यादित है उससे कुछ अधिक प्रयोगनवश कार्यमें लेलेना, यह क्षेत्रवृद्धि कहलाती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहांपर यह शंका की जा सकती है कि 'जब ऊर्ध्वव्यतिक्रम अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम इन सबोंमें क्षेत्र ही बढ़ता है फिर क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार एकअलग क्यों रक्खागया है ?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहियेकि-जिनागम सभी सापेक्ष है, यदि अपेक्षाको नहीं लगाया जाय तो पूर्वापर विरोध आता है और उसे लगानेपर कोई कहीं विरोध नहीं आता है। यहांपर जो ऊर्ध्व अधस्तिर्यक् व्यतिक्रम लिया गया है वह क्षणिक है, कदाचित् कभी अवसर आनेपर ऊपर नीचे गमन हो सकता है परंतु क्षेत्रवृद्धिमें तो कुछ अधिक क्षेत्र प्रयोजनवश स्थायीरूपसे काममें ले लिया जाता है इसलिये उसे जुदा कहा गया है। फिर यहांपर दूसरी यह शंका हो सकती है कि 'ऐसी स्थायी अवस्थामें जो क्षेत्रवृद्धि कर ली जाती है तो उसे क्षेत्रवृद्धि अतीचार क्यों कहा जाता है वह तो अनाचार होना चाहिये!' इसका उत्तर यह है कि—अनाचार मर्यादाका सर्वथा भंग करनेसे होता है, परंतु क्षेत्रवृद्धि करनेवाला मर्यादाका पूरा ध्यान रखता हुआ किसी निमित्तवश थोड़े से प्रसाद या मोहवश कुछ क्षेत्रको बढा लेता है, परंतु वहांपर भी वह मर्यादितक्षेत्रकी कुछ कुछ अपेक्षा रखता है। जैसे कोई पुरुष एकसौ मीलतक अवधि रखकर एकसौ पांच मीलतक चला आवे तो वह क्षेत्र उसका बढ़ा हुआ समझा जायगा, परंतु वह स्वार्थवश एवं प्रमादवश यह अभिप्राय रख लेता है कि एकसौ पांच मील भी करीब करीब सौ ही हैं। अथवा अन्यान्य अपेक्षाएं लगाकर मर्यादाकी रक्षाका ध्यान रखता ही है। अनाचारमें ये सब विकल्प कुछ नहीं होते वहां तो मर्यादाका विचार ही छूट जाता है। अथवा एकबार सम्पूर्णरीति से व्रत भंग कर दिया जाता है। ली हुई मर्यादाको भूलजाना, यह स्मृत्यंतराधान अतीचार है। मर्यादाको भूलजानेका अर्थ यह नहीं है कि उसका विस्मरण हो जाता है, किंतु यह अर्थ है कि जितनी मर्यादा ली जाय उसमें भूलकर कुछ अधिक भूमि उपयोगमें आ जाती है। जैसे यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पचास योजन भूमि मर्यादामें रक्खी हो तो भूलकर यह ध्यान करना कि पचास योजन रक्खी है या साठ योजन, कुछ ध्यानमें नहीं आता; ऐसा विचार होनेसे पचासकी जगह साठ योजन जमीन समझकर उसका उपयोग करना स्मृत्यंतराधान कहलाता है। यहांपर भी यह शंका की जा सकती है कि 'जैसे भूलसे अधिक क्षेत्रकी संभावना होनेसे वह अतीचार में लिया जाता है वैसे ही कमती क्षेत्रकी संभावना भी तो है, वहां स्मृत्यंतराधान अतीचार कैसे होगा?' इसका यह उत्तर है कि–भूलमें मर्यादासे न्यून क्षेत्रका ध्यान रहना भी हानिकर है, भलेही कमती क्षेत्रसे आरंभ होने की संभावना नहीं है तथापि मर्यादाकी दृढ़ता नहीं रहती, मर्यादाकी दृढ़ता न रहने से, जैसे कमती क्षेत्रका स्मरण रह जाता है वैसे अधिक क्षेत्रका भी स्मरण होना सहज है, बहुधा मोह एवं प्रमादवश अधिक क्षेत्रकी ओर ही बुद्धि जाती है। इसलिये स्मृत्यंतराधान अतीचार में लिया गया है। मर्यादाका स्मरण न रहना शिथिलताका ही सूचक है। इन अतीचारोंसे मर्यादित क्षेत्रसे बाहर आरंभ होनेसे त्रस स्थावर की हिंसा होती है, इसलिये अतीचारों को बचाना चाहिये।

देशव्रतके अतीचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ॥१८९॥

अन्वयार्थ—(प्रेष्यस्य)किसी सेवकको (संप्रयोजन) मर्यादाके बाहर भेजना, (आनयनं) बाहरसे कोई वस्तु मंगा लेना, (शब्दरूपविनिपातौ) शब्द कर लेना, रूप का दिखा देना (पुद्गलानां क्षेप अपि) और पुद्गलोंका मर्यादाके बाहर फेंकना (इति पंच) इसप्रकार पांच (द्वितीयशीलस्य) दूसरे शीलव्रतके अर्थात् देशव्रतके अतीचार हैं।

विशेषार्थ - देशव्रतमें जो समयविशेषके लिये मर्यादा रक्खी हो उसके बाहर स्वयं तो नहीं जाना परंतु दूसरा आदमी भेजदेना उसीके द्वारा काम करा लेना, यह अतीचार इसलिये है कि देशव्रती पुरुषने स्वयं बाहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न जाकर मर्यादाकी रक्षा तो की, परंतु नौकर आदिको भेजनेसे भी उस व्रतकी पूर्णता नहीं रह सकी इसीलिये वह अतीचार है। इसीप्रकार स्वयं आज्ञा देकर मर्यादाके बाहरसे कोई वस्तु मंगा लेना यह भी अतीचार है। तीसरे मर्यादाके बाहर जाना तो नहीं परंतु खासकर शब्दादि संकेतसे अपना अभिप्राय यहीं बैठे बैठे प्रगट करदेना यह भी अतीचार है। चौथे अपने शरीर आदिको दिखाकर मर्यादाके बाहर स्थित एवं जानेवाले पुरुषोंको किसी प्रयोजनका स्मरण दिलाना यह भी अतीचार है। पांचवें मर्यादाके बाहर पत्थर कंकड़ी आदि फेंककर अपने अभिप्राय को प्रगट करना ये सब व्रतमें एकदेश दूषण लानेवाली क्रियाएं हैं; इसलिये देशव्रत पालनेवाले पुरुषको इन्हें बचाना चाहिये।

अनर्थदण्डव्रतके अतीचार

कंदर्पः कौत्कुच्यंभोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं ।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥१९०॥

अन्वयार्थ—(कंदर्पः) हास्यसहित भंड वचन बोलना (कौत्कुच्यः) कायसे कुचेष्टा करना (भोगानर्थक्यं अपि) और प्रयोजनसे अधिक भोगोंका उपार्जन ग्रहण करना (च मौखर्यं) और लड़ाई झगड़ावाले वचन बोलना (असमीक्षिताधिकरणं) विना प्रयोजन मन वचन कायके व्यापारको बढ़ाते जाना (इति तृतीयशीलस्य पंच) इस प्रकार तीसरे शीलके अनर्थदंडव्रतके ये पांच **अतिचार** हैं।

विशेषार्थ—विना प्रयोजन अधिक पापारंभ करनेसे अनर्थदंड होता है। परंतु पापारंभकी प्रवृत्ति नहीं बढ़ाकर केवल हास्यादिप्रयोगसे अपने कषायों को पुष्ट करना अतीचार है। कारण ऐसा करनेसे पूर्ण अनर्थदंड नहीं हो पाता जिससे कि वह अनाचारकी कोटिमें परिणत किया जाय किंतु एकदेश दूषण वह लाता ही है इसलिये उसे अतीचार समझा गया है।

कुछ पुरुष विना प्रयोजन बात करते करते हंसी करनेके साथ साथ बुरे बुरे वीभत्स एवं शृंगारिक आदि शब्दोंका प्रयोग करते रहते हैं, प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात में गाली निकाल बैठते हैं, प्रश्न करने पर कि ऐसी बुरी बात मुंहसे क्यों निकालते हो तो वे झट उत्तर दे देते हैं कि हम तो हंसी दिल्लगी में बोल रहे हैं, मानों हंसी दिल्लगी करना उनके लिये कोई क्रिया ही है। परंतु यह भूल है। जब वैसी क्रियासे कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता तो व्यर्थको अशिष्ट पुरुषोंकी कोटि में क्यों शामिल होते हैं, भद्दी हंसी भद्दे शब्दों के आपसमें प्रयोग अच्छे पुरुष नहीं करते हैं, अशिष्ट-असभ्य ही करते हैं। इतना ही नहीं किंतु उसप्रकारकी हंसी दिल्लगीकी क्रियासे रागद्वेषजनित कर्मबंध होता है, बिना फल दिये सरागीकी कोई क्रिया व्यर्थ नहीं जाती इसलिये व्यर्थ ही कर्मबंध बांधना बुद्धिमत्ता नहीं है। इसके सिवा इसप्रकार हास्य सहित भंड वचन बोलनेसे कभी कभी बड़े दुष्परिणाम निकल बैठते हैं, बड़े बड़े झगड़े भी खड़े हो जाते हैं, इस लिये हास्यमिश्रित भंड वचन बोलना अनर्थदंड व्रतका पहला अतीचार है, इस दूषणसे व्रतीपुरुषको बचना चाहिये।

दूसरा अतीचार यह है कि हास्यसहित भंडवचन भी कहते जाना, साथ ही शरीरसे—हाथ पैर मुख आदि से क्रिया भी करते जाना, जैसे बात करते करते दूसरे के शरीर पर हाथ पटकते जाना, हंसी करते करते उस पर लात मारतेजाना, घूंसालगा देना, किसीपर आंख चलाना, मुंहसे उसे बिराना, शरीर का किसीमें धक्का देना, इत्यादि शारीरिक प्रयोग करते जाना आदि।

तीसरा अतीचार भोगोंका आनर्थक्य है अर्थात् बिना प्रयोजनके वस्तुओंका संग्रह करलेना, बिना प्रयोजन भोग्य उपभोग्य पदार्थों को उपयोगमें—व्यवहारमें लाते जाना। यह अतीचार अनर्थदंडव्रतमें तो आता ही है परंतु भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भी आ सकता है, कारण एक एक व्रतके अनेक अतीचार हो सकते हैं इसलिये किसी अंशमें किसी व्रतमें समान अतीचार भी हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा अतीचार मौखर्य है, इसका यह अभिप्राय है कि व्यर्थका बकवाद करना। कुछ पुरुष ऐसा करते देखे जाते हैं कि वे रागद्वेषवश बहुत धृष्टताके साथ अधिक बोलते हैं, और विना विचारे कुछका कुछ ही बोलते चले जाते हैं। बिना प्रयोजन दूसरोंके झगड़ेमें घुस पड़ते हैं। वहांपर बड़-बड़ाते हैं, इसप्रकार धृष्टतापूर्ण अधिक बोलनेको मौखर्य कहा गया है।

पांचवां अतीचार असमीक्षिताधिकरण है। अर्थात् बिना प्रयोजन प्रयोग करते रहना। जैसे बैठे बैठे किसीका मनमें चिंतवन करना, किसी के लिये दुखदायी वचन बिना प्रयोजन बोलना, जिस क्रियासे अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती है उसे करना, जैसे रास्ता चलते चलते वनस्पति छेदना, पानीमें पत्थर आदि फेंकदेना, किसी पशुके लकड़ी आदि मारदेना, वे सब कार्य ऐसे हैं। जिनसे किसी इष्टकी सिद्धि नहीं होती, फिर भी इन्हें करनेसे व्यर्थ कर्मबंध बांधना है। इसलिये इन अतीचारोंसे अनर्थदंडव्रतियोंको दूर रहनेकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

सामायिकव्रतके अतीचार

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य॥ १९१॥

अन्वयार्थ—(वचनमनःकायानां) वचन मन और शरीर इनका (दुःप्रणिधानं) दुरुपयोग करना (तु अनादरः) और सामायिकमें अनादर करना (च स्मृत्यनुपस्थानयुताः) सामायिकके समय आदिको भूल जाना (इति पंच चतुर्थशीलस्य) इसप्रकार पांच अतीचार चतुर्थशील—सामायिकके हैं।

विशेषार्थ - सामायिक बिना मन—वचन—कायके एकीकरणके साध्य नहीं होता, सामायिक करते करते मनको वशमें नहीं रखना किंतु इधर उधर ध्येयसे भिन्न पदार्थों में उसे चले जाने देना, यह मनका दुरुपयोग कहलाता है। मनके इधर उधर चले जानेसे ध्येयकी ओर आत्मा निश्चल नहीं हो सकता, वैसी अनस्थिरतामें वीतरागपरिणति नहीं हो पाती किंतु सरागता बनी रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकपाठ बोलते बोलते कुछका कुछ कह जाना, जल्दी जल्दी बोलना एवं अशुद्ध बोलना यह सब वचनका दुरुपयोग है। ऐसा करनेसे सामायिकका पूर्ण फल नहीं हो पाता, प्रत्युतः अशुद्धपाठसे कभी कभी उलटाफल भी हो जाता है। जल्दी करनेसे चंचलता एवं व्यग्रता होती है। व्यग्रतासे ध्येयका विचार निश्चलतासे नहीं हो पाता।

जो कार्य जिसप्रकारका होता है, वह उसीप्रकार से सिद्ध किया जाता है। जैसे कोई लड़ाई लड़ना चाहता है वह वीरोचित आसनसे ही खड़ा होगा या बैठेगा, लेटकर या ऐसे ही असावधानीसे बैठकर लड़ाईमें प्रयुक्त होकर विजय पाना अशक्य है। जो सोना चाहता है वह विना विस्तरपर हाथ पैर पसार कर लेटे सुखपूर्वक निद्रा नहीं ले सकता। इसीप्रकार जो सामायिक करना चाहता है वह पद्मासन, खड्गासन आदि नियत एवं निश्चल आसनोंसे रहकर ही उसे सिद्ध कर सकता है। बिना आसनोंके मड़े अथवा विना उन्हें निश्चल बनाए सामायिकमें एकाग्रता नहीं रह सकती। इसके लिये शरीरको हरप्रकारसे रोकना चाहिये। जिस आसनसे सामायिकमें बैठे उसी आसनसे दृढ़ रहना चाहिये, बीच बीचमें आसन बदलना, हाथ एवं मुख आदि का विचलित कर देना, शरीरको हिला देना, यह सब कायका दुरुपयोग है। इन दुरुपयोगोंसे सामायिकमें स्थिरता नहीं रह सकती एवं वीतरागताके स्थानमें अशुभास्रव हो जाता है, इसलिये इन तीनों योगोंको पूर्ण रीतिसे वशमें रखना चाहिये।

अनादर करनेसे भी हानि होती है. सामायिकमें उपेक्षा– उदासीनता आ जाती है, उससे निश्चल ध्यान नहीं होता, इसलिए अनादर भी सामायिकका अतीचार है।

तथा सामायिकको भूल जाना, यह भी सामायिकका अतीचार है। शंका हो सकती है कि 'यह भूलना मनसे ही हो सकता है वह मनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःप्रणिधानमें आ जाता है, फिर भिन्न अतीचार इसे क्यों माना गया ?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—मनका दुःप्रणिधान तो उसे कहते हैं कि सामायिक करते करते मनको इधर उधर चले जानेपर उसे वशमें नहीं करना, परंतु भूलना सामायिकका स्मरण नहीं रखनेका नाम है। सामायिकका जो काल है उसको अन्यान्य कार्योंकी व्यग्रतासे याद नहीं रहना इसीका नाम भूलना है, यह उससे भिन्न है। दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि 'भूल जाना तो कोई दोष नहीं है भूलनेमें किसी को कुछ बाधा पहुंचानेका भी भाव नहीं है फिर इसे अतीचारमें क्यों लिया गया है ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि बाधा पहुंचानेका भाव नहीं है तथापि आत्मकल्याणकी वंचना तो हो जाती है, अर्थात् भूल जाने से आत्मकल्याणका मार्ग रुक जाता है अथवा उससे दूसरे प्रकारकी कार्य-नियोजनासे हानि हो जाती है, यही आत्मबाधा है; इसलिए किसी व्रतका विस्मरण हो जाना अतीचार है। ये पांच अतीचार हैं। इनके रहते हुए सामायिकमें चित्त नहीं लग सकता एवं ध्येयकी पूर्णसिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये इन अतीचारों को नहीं लगाना चाहिये।

प्रोषधोपवासके अतीचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पंचोपवासस्य ॥१९२॥

अन्वयार्थ— (अनवेक्षिताप्रमार्जितं) बिना देखे बिना झाड़े (आदानं) किसी वस्तुका ग्रहण करना (संस्तरः) बिस्तर बिछा देना (तथा उत्सर्गः) तथा किसी वस्तुका छोड़ देना (स्मृत्यनुपस्थानं) प्रोषधोपवासको भूल जाना (अनादरश्च) और उसमें आदर नहीं रखना (पंच उपवासस्य) ये पांच अतीचार प्रोषधोपवासव्रतके हैं।

विशेषार्थ—जिसदिन प्रोषधोपवास किया जाता है उसदिन जलादि आहार मात्रका त्याग होनेसे शरीरमें कुछ शिथिलताका आना स्वाभाविक बात है; ऐसी अवस्थामें पूजनसामग्री, पूजनके अन्यान्य उपकरण, शास्त्रजी चौकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि वस्तुओंको बिना देखे और बिना झाड़े पोंछे ही उठाकर काममें ले लेना, यह अनवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान नामका अतीचार है। इसीमें शरीरके ओढ़ने पहननेके वस्त्रादि भी बिना देखे बिना झाड़े-पोंछे लिये जांय वे भी गर्भित हैं।

दूसरा अतीचार—अनवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रम है; उसका यह अभिप्राय है कि शिथिलतावश सोनेकी चटाई शीतलपट्टी आदि जो बिस्तर और बैठनेकी आसन आदि वस्तुएं हैं, बिना देखे बिना झाड़े-पोंछे बिछा देना।

तीसरा अतीचार—अनवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग है; उसका अर्थ यह है कि बिना देखी बिना साफ की हुई जमीनपर मलमूत्र कफ थूक आदि डाल देना।

चौथा अतीचार— स्मृत्यनुपस्थान है; इसका अर्थ यह है कि प्रोषधोपवासके दिनको एवं उसकी विधि आदिको भूल जाना।

पांचवां अतीचार—अनादर है, अर्थात् प्रोषधोपवासमें भोजनका त्याग होनेसे एवं शिथिलता आजानेसे पूर्ण आदरभाव नहीं रखना किंतु उपेक्षा भावसे उसे पालना।

ये पांच अतीचार प्रोषधोपवासव्रतमें दोष पैदा करते हैं, क्योंकि बिना देखेभाले किसी वस्तुको धरा उठाया जायेगा तो पूरी संभावना है कि उस वस्तुपर रहनेवाले जीव अथवा धरने उठानेको जमीनपर रहनेवाले जीव मर जांयगे। इसीप्रकार बिस्तर या आसनको बिना देखेभाले या जमीन को बिना देखेभाले बिछा देने से वहांके जीवोंका ध्वंस होना सहज है। जिस भूमिपर जीव हैं उसपर मलमूत्रादि डालनेसे भी जीवोंका बचना कठिन है इसलिये इन तीनों बातोंको अतीचारोंमें लिया गया है। इन तीनोंमें प्रत्येकके साथ अनवेक्षित-अप्रमार्जित विशेषण लगाना चाहिये,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछेके दोमें नहीं । यहांपर यह शंका उठाई जा सकती है कि 'बिना देखे बिना झाड़ेपोंछे उठाना और धरना ये दो ही अतीचार होने चाहिये, बिस्तर बिछानेको अलग और मलमूत्र क्षेपणको अलग क्यों ग्रहण किया है ?' इसका उत्तर यह है कि प्रोषधोपवासके दिन अन्यान्य गृहस्थाश्रम संबंधी कार्य तो सब बंद हो जाते हैं, केवल पूजाके उपकरण और बिस्तरोंसे संबंध रह जाता है, इसलिये उनका अलग अलग प्रमाद होनेसे अलग-अलग अतीचार कहा गया है । मलमूत्रकफादिक इनसे भिन्न ही वस्तु हैं, क्योंकि उपकरण एवं आसन तो व्यवहारके उपयोगी वस्तुएं हैं परंतु मल मूत्रादि तो व्यवहारोपयोगी पदार्थ नहीं हैं, यदि उसे पृथक् न गिनाया जाता तो व्यवहारोपयोगी पदार्थोंके गिनानेपर भी उसकी ओर ध्यान नहीं जाता; स्वतंत्र गिनानेसे उसके क्षेपण करते समय भी भूमिको देखभाल करनेका ध्यान तुरंत आ जाता है क्योंकि प्रत्येक अतीचार—दूषणके बचाने का व्रती विचार किया करता है । प्रत्येक बातके पालनेकी चेष्टा करता है, इसलिये पृथक् पाठ रहनेसे विशेष सावधान रहनेके लिये चित्त आकर्षित हो जाता है, अन्यथा नहीं होता ।

प्रोषधोपवासको भूल जाना, उसकी किसी विधिका स्मरण नहीं रहना कभी पर्वसमयको ही भूल जाना; और प्रोषधोपवासमें शिथिलतावश अनादर करना अर्थात् उपेक्षाबुद्धिसे उसकी विधि करते जाना, चित्तमें उत्साह रखकर नहीं करना, ये दो अतीचार जुदे हैं । इनके साथ अनवेक्षित-अप्रमार्जित विशेषण नहीं लगाया जाता । इन पांचों अतीचारोंको नहीं लगनेसे जीवरक्षा हो सकती है बिना इनके बचाये जीवरक्षा कठिन एवं असंभव है, कारण छोटे छोटे जंतुओंका संचार प्रायः सर्वत्र-रहता ही है । उसके बचानेके लिये प्रतिसमय देखभालकी आवश्यकता है, व्रतविधानके समय तो विशेषतासे आवश्यकता है । बिना देखभाल किये धराउठायी करनेसे व्रतकी पूर्ण रक्षा नहीं हो सकती ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतीचार

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसंबंधः ।
दुःपक्वाभिषवोपि च पंचामी षष्ठशीलस्य ॥१६३॥

अन्वयार्थ– (हि) निश्चयसे (सचित्त आहारः) सचित्त आहार–चित्त नाम जीवका है, जीवसहित आहारको सचित्त आहार कहा जाता है (सचित्तमिश्रः) सचित्तसे मिला हुआ आहार [सचित्तसंबंधः] सचित्तसे संबंध रखनेवाला आहार [दुःपक्वः] अच्छीतरह नहीं पाचन किया हुआ आहार [च अभिषवोपि] और पुष्ट गरिष्ठ आहार [अमी पंच] ये पांच अतीचार [षष्ठशीलस्य] छठे शीलके अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रतके हैं ।

विशेषार्थ—जो भोज्यवस्तु जीवसहित हो वह भोगोपभोगपरिमाणव्रतीको नहीं सेवन करनी चाहिये कारण व्रतका विधान जीवरक्षाके लिये ही होता है, फिर भी बाह्यरक्षाके सिवा खाद्यवस्तुओंमें विशेषकर जीवरक्षाका ध्यान रक्खा जाता है । इसलिये भोगोपभोगपरिमाणव्रतीके पंचम प्रतिमा-सचित्तत्यागप्रतिमाका आवश्यक पालन नहीं होनेपर भी सचित्तके त्यागका विधान बतलाया गया है । भोगोपभोगपरिमाणव्रत दूसरी ही प्रतिमामें हो जाता है इसलिए उसके सचित्तत्याग आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह पांचवीं प्रतिमाका कार्य है । फिर भी आवश्यक क्यों कहा गया और सचित्त ग्रहणको अतीचारतकमें सम्हाला गया ? इसका समाधान यह है कि–भोगोपभोगपरिमाणव्रती दूसरी प्रतिमावाला है, इसलिए उसके सदैव सचित्त त्यागका विधान नहीं बतलाया गया है, किंतु भोगोपभोगका समय समय-पर नियत कालके लिये जो मर्यादा करे उसमें भोग्यपदार्थोंमें सचित्त ग्रहण नहीं करे, क्योंकि यह व्रत अपने सेवन-उपयोगमें होनेवाली हिंसाके त्यागके लिये है । इसलिए स्वामी समंतभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें बतलाया है कि जिन पदार्थोंके सेवन करनेसे स्वल्प तो फल–स्वाद आता हो और जीवविघात अधिक होता हो, ऐसे पदार्थ–कंदमूल, मूलकंद, अद-रख, नीम, केतकी, पुष्प इत्यादि जो हरे हों उनको छोड़ना चाहिये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससमय वह भोग्य वस्तुओंके परिमाणमें सचित्तका त्याग कर देता है उससमय सचित्त, सचित्तसंबंधित आदि सभी अतीचार समझे जाते हैं। परंतु पांचवीं—सचित्तत्याग प्रतिमामें तो आवश्यक त्याग हो जाता है, वहां पर कभी किसी पदार्थका सचित्त भक्षण नहीं किया जा सकता, वहां सचित्त का सर्वथा त्याग हो जाता है। इतना विशेष है कि वह त्याग केवल खाने पीनेके विषयमें है। जो लोग सचित्तत्याग प्रतिमामें सचित्तका सब प्रकार से ग्रहण करना बाह्यस्नानादिकमें भी निषिद्ध बतलाते हैं वे उस प्रतिमा के स्वरूपकी यथार्थताका लोप करते हैं। कारण इसप्रकारकी खींचसे कोई व्रत कभी पूरा ही नहीं कहा जा सकता। स्वामी समंतभद्राचार्यने जहां-कहीं इस पांचवीं प्रतिमाका स्वरूप बतलाया है वहां उन्होंने केवल आहार्य-आहार करनेयोग्य पदार्थों का ही ग्रहण किया है। इसलिए उसमें बाह्य-उपयोगमें आनेवाले सचित्त पदार्थों का निषेध नहीं होता।

दूसरी विशेष बात यह है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतके जो अतीचार बतलाये गए हैं उनमें भोग्य और उपभोग्य दोनों पदार्थसंबंधी अतीचार गिनाने चाहिये, परंतु यहांपर केवल भोग्य पदार्थोंके ही गिनाये हैं, उपभोग्यसंबंधी नहीं गिनाये हैं। इसका एक तो यह हेतु है कि अधिक विशुद्धि खाद्यपदार्थोंकी मर्यादासे प्राप्त होती है, बाह्य उपभोग्य पदार्थों की मर्यादा भी विशुद्धिको बढ़ानेवाली है परंतु जितनी विशुद्धिकी हानि भक्षणसे होती है उतनी बाह्य सेवनसे नहीं होती, इसलिए इस व्रतको मर्यादामें विशेष विशुद्धिका लक्ष्य रखकर भोग्य वस्तुओंके अतीचार ही गिनाये गये हैं। दूसरा हेतु यह है कि आगे आठवीं और नवमी प्रतिमा के पीछे केवल भोग्यपरिमाण ही प्रधानतासे रह जाता है उपभोग्यका तो परिमाण परिग्रहत्यागप्रतिमामें विशेष रीतिसे हो जाता है परंतु वहां भोग्य का कुछ परिमाण नहीं होता इसलिए वहां भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी दृष्टि से भोग्य पदार्थोंके अतीचारोंपर ही विशेष लक्ष्य रह जाता है। बाह्यपदार्थों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो एक प्रकारसे संबंध छूट ही जाता है। इसलिए सर्वत्र उपयोगी होनेसे भोग्यके ही अतीचार गिनाये। यदि यह कहा जाय कि 'वहां तो सर्वथा सचित्तका त्यागी हो चुका है, वहांपर भोगोपभोगपरिमाणव्रत संबंधी भोग्य अतीचार सुतरां नहीं लग सकते। कारण पंचमप्रतिमामें सदाके लिये सचित्तका त्याग हो जाता है।' इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां सचित्तत्यागप्रतिमाकी अपेक्षा सचित्तका सर्वथा त्याग होनेपर भी दूसरे प्रकारसे आहार्य पदार्थों में भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी विशेषतासे पालन होता ही है। वहांपर अचित्त पदार्थों की भी सामायिक मर्यादा उक्त व्रतके कारण रखता है, वैसी अवस्थामें दूसरी तरहसे अतीचार-दोष आवेंगे। उससमय यह कहना होगा कि ये सभी अतीचार उपलक्षण हैं, इसलिए भोग्य के कहनेसे इतर भोग्यसंबंधी भी समझने चाहिये और आठवीं प्रतिमाके पहले पहले उपभोग्यके भी समझ लेने चाहिये। इस बातकी पुष्टि स्वामी समंतभद्राचार्यके कथनसे होती है, उन्होंने श्रीरत्नकरंडश्रावकाचारमें पंचेंद्रियसंबंधी बातोंको ही इस व्रतके अतीचारोंमें लिया है, वे चाहे भोग्य-संबंधी हों या उपभोग्यसंबंधी हों। दोनोंके ही अतीचार उनमें आ जाते हैं।

सचित्तके कहनेसे यद्यपि जीवसहित पदार्थ त्रस भी समझा जा सकता है, क्योंकि त्रसका शरीर भी तो जीवसहित होता है; परंतु नहीं, यहांपर त्रसोंका ग्रहण सचित्तसे नहीं लिया जा सकता, इसके दो हेतु हैं, एक तो यह है कि इस व्रतवाला त्रसहिंसाका पहले ही त्याग कर चुकता है—वह संकल्पित हिंसाको अहिंसाणुव्रतमें ही परित्याग कर देता है। इस-लिये यहांपर सचित्तसे केवल एकेंद्रियका ग्रहण लिया जाता है। इसके सिवा सचित्त शब्दका उपयोग एकेंद्रियके लिये ही नियत है। जहां-कहीं भी सचित्तका विवेचन होगा वहां एकेंद्रियसे प्रयोजन होगा। इसलिये चित्त नाम यहांपर सिद्धांत विवक्षासे एकेंद्रियमें नियत है। परंतु इतना विशेष है कि यह सिद्धांत—विवेचन सेवनकी अपेक्षासे ही है। जहां सेवनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपण नहीं, अन्य किसी संबंधसे है, वहां सचित्तसे त्रस स्थावर दोनोंप्रकारके जीवोंसे प्रयोजन होता है; जैसे योनियोंकेभेदोंमें सचित्त अचित्त भी है, वहांपर सचित्त शब्दसे त्रस स्थावर दोनोंप्रकारके जीवोंका ग्रहण होता है ।

'सेवनके प्रकरणमें सचित्तसे स्थावरका ही ग्रहण क्यों है त्रसका क्यों नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि सेवनवस्तु विधानमें त्रसका ग्रहण होता ही नहीं है, क्योंकि अष्टमूलगुण विना धारण किये कोई जैन संज्ञा ही नहीं पाता, अष्टमूलगुणमें मदिरा मांस मधु आदिका परित्याग हो ही जाता है । और द्वींद्रियजीवसे पंचेंद्रियजीवों तकका शरीर ही मांसकी श्रेणीमें आता है, इसका भी हेतु यह है कि संहननकर्मके उदयसे ही हड्डी रुधिर वीर्य मज्जा मेधा आदि धातुएं शरीरमें बनती हैं एकेंद्रियजीवके संहननमें नामकर्मका उदय न होनेसे कुछ धातुऐं नहीं बनतीं तथा धातुओं सहित शरीरको ही मांससंज्ञा प्राप्त है, एकेंद्रिय शरीर, पानी पृथ्वी अग्नि वायु और वनस्पतिको छोड़कर और कुछ नहीं है इसलिये उनमें हड्डी रुधिरादि सबोंका अभाव होनेसे मांससंज्ञा भी नहीं है । यदि कोई यह शंका करे कि जो जीव शरीर होता है वह सब मांसयुक्त होता है, तथा जिस-प्रकार वनस्पति जल आदि ग्रहण करने योग्य हैं उसीप्रकार मांस भीग्रहण करने योग्य पदार्थ है क्योंकि प्राणियोंके अंग दोनों ही हैं, इन दोनों शंकाओं का प्रतिवाद इस हेतुसे हो जाता है कि जो जो जीव शरीर होता है वह सभी यदि मांस माना जाय तोकहना होगा कि जो जो जीवशरीर होता है वह सभी संहननसहितहोता है परंतु एकेंद्रिय और देवनारकी इनके जीव-शरीर रहनेपर भी संहनन नहीं होता, यदि संहनन होता तो जिसप्रकार पशु-पक्षी मनुष्यादिके हड्डी रुधिर आदि पाये जाते हैं उसीप्रकार देवनारकी एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतियोंमें भी पाये जाने चाहिये । परंतु देवनारकियोंके वे नहीं हैं इसका आगम निषेध करता है, पृथ्वी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिके नहीं है इसका आगम भी निषेध करता है और ये पदार्थ प्रत्यक्ष भी मांस रुधिरादिसे रहित दीखते हैं, इसलिये जीवशरीरकी व्याप्ति मांसादि के साथ नहीं बनती। जीवशरीर हेतु सपक्षविपक्ष (मांसादिसहित-पशुपक्षी मनुष्यादिका शरीर सपक्ष और मांसादिरहित देवनारकियोंका शरीर विपक्ष) दोनोंमें रहनेके कारण अनैकांतिक हो जाता है। जैसे कि जीवशरीर हेतु संहननकी सिद्धिमें अनैकांतिक हो जाता है, वहां भी सपक्षविपक्ष दोनोंमें रहता है इसलिये जिसप्रकार अनैकांतिक जीवशरीरहेतुसे संहननकी सिद्धि नहीं होती उसीप्रकार उससे मांस रुधिरादिकी सिद्धि भी नहीं होती। यह नियम भी नहीं बनता कि समान होनेपर सभी प्रकार की समानता होनी चाहिये, किसीमें किसी अंशमें समानता रहती है किसी अंशमें असमानता रहती है जैसे माता और स्त्री, दोनोंमें स्त्रीत्व-स्त्रीपना है परंतु भोगने योग्य स्त्री ही होती है माता नहीं होती। उसीप्रकार प्राणीका अंगपना दोनों जगह समान होनेपर भी वनस्पति ही भक्ष्य है मांस नहीं। इसलिये इस कथनसे उस शंकाका परिहार हो जाता है कि सचित्तसे सेवनविधिमें स्थावरका ही क्यों ग्रहण होता है त्रसका क्यों नहीं, कारण कि त्रसका शरीर तो मांसस्वरूप है और मांसका श्रावकमात्र त्यागी होता है, मांसका त्याग अष्टमूल गुणोंमें पाक्षिक—जैनमात्रके अवश्य हो जाता है परंतु सचित्तग्रहण पांचवीं प्रतिमासे पहले पहले हो सकता है इसलिये सचित्तसे एकेंद्रिय जीवसहित पृथ्वी आदि स्थावरोंका ही ग्रहण होता है, त्रसका नहीं। यह सयुक्तिक सिद्ध हो चुका।

यहांपर भी शंका उठायी जा सकती है कि जब पाक्षिकश्रावक भी मांसादिक अभक्ष्यका त्यागी होता है, तो फिर भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें स्वामी समंतभद्राचार्यने मांसादिको क्यों छुड़वाया है जैसा कि श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखा है—"त्रसहतिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥ अर्थात् त्रसहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसाके दूर करनेके लिये मधु और मांसको एवं प्रमादको भी दूर करनेके लिये मदिराको भी छोड़ देना चाहिये। इस शंकाका परिहार उन पुरुषोंकेलिये अति सुगम है जो ग्रन्थोंके पूर्वापर रहस्यको समझकर सदृश दो कथनोंका पूर्वापर विरोध अपेक्षासे हटाने में सिद्ध हस्त हैं, जिन्हें पदार्थ-रहस्य नहीं समझनेसे अपेक्षाकृत विरोध हटानेकी सामर्थ्य नहीं है वे पुरुष इसप्रकार के कथनोंका अपने बुद्धिबलसे विपरीत अर्थ कर अनर्थ भी कर डालते हैं परंतु इसप्रकारका विवेचन जिनमतकी शैलीसे बाहर है। जहां सभी पदार्थों का विवेचन सापेक्ष है वह अपेक्षाका ध्यान रखना चाहिये।

उपर्युक्त शंकावालोंको विचार करना चाहिये कि श्रीरत्नकरंडश्रावकाचारमें ही जहांपर अष्टमूलगुणोंका विवेचन किया गया है वहींपर मद्य मांस मधुका त्याग बतलाया गया है, जैसा कि "मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।" इस श्लोकसे सिद्ध है। जब स्वामीसमंतभद्राचार्य अष्टमूल गुणोंमें मांसादिकका त्याग बतला चुके तब भोगोपभोगपरिमाणव्रत—उत्तरगुणोंमें उसका उन्होंने पुनः त्याग क्यों कराया? इसका अभिप्राय अवश्य जुदा जुदा है अन्यथा दो स्थानोंके विधानोंमें पूर्वापरविरोध एवं पदस्थके त्यागकी अमर्यादा, दोनोंका प्रसंग आता है। इसलिये जिसप्रकार रात्रिभोजनका त्याग पाक्षिकअवस्थामें ही हो जाता है और दूसरी प्रतिमामें अतीचारोंका भी त्याग हो जाता है, फिर छठीप्रतिमामें जाकर रात्रिभोजनका त्याग कराया गया है, वह कृत कारित अनुमोदन मन वचन काय इन नवों भंगोंसे—सर्वथा कराया गया है, यह अपेक्षा वहां नियत है उसीप्रकार अष्टमूल गुणोंमें मांसादिका त्याग कराया है, भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें उसके अतीचारोंका भी परिहार कराया गया है जैसे-मांसमदिराका त्यागी यदि कोई आसव—अवलेह आदि औषधि रसोंका ग्रहण करे तो वह उसके लिये मांसमदिरा त्यागका अतीचार कहा जायेगा कारण आसवादि पदार्थ जो चिरकालसे रक्खे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं वे मादक एवं अभक्ष्य हैं, उसीप्रकार रात्रिमें बनाया हुआ भोजन यदि दिनमें भी खाया जाय तो उसमें मांसभक्षणका अतीचार–दोष आता है। उनका ग्रहण करना निषिद्ध है, परंतु अष्टमूलगुण का धारी उन्हें ग्रहण कर सकता है, वह मांसमदिराका त्यागी है आसवादिका त्यागी नहीं है. परंतु भोगोपभोगपरिमाणव्रतवाला उन आसवअवलेह आदिको भी नहींग्रहणकर सकता, वहांपर मदिरा मांस मधुके अतीचारोंको भी उससे त्याग कराया जाता है। अतीचारत्याग विवक्षासे ही भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें–मदिरा मांस मधुका त्याग कराया जाता है साक्षात् नहीं, साक्षात् त्याग तो उनका अष्टमूलगुणोंमें पहले ही करा लिया जाता है।

सचित्तपदार्थों का भक्षण कर लेना पहला अतीचार यह है। इसका अभिप्राय यही है कि जो पदार्थ सचित्त हैं फल पत्ते आदि वनस्पति और जल इनका भूलसे अथवा भ्रमसे खा लेना, भूलसे ग्रहण यों हो जाता है कि थालीमें परोसनेवालेने अन्य भोज्य वस्तुओंके साथ हरी वस्तु भी परोस दी, जीमनेवालेने चित्तकी अनस्थिरता एवं असावधानीसे उसे भी खा लिया तो यह भूलसे सचित्तग्रहण समझना चाहिये। भ्रमसे यों हो जाता कि किसीने पके हुए फल केला आम अनार भी परस दिये, जीमनेवाला उन्हें अचित्त समझकर खा गया, वैसी अवस्थामें भ्रमसे सचित्तग्रहण समझना चाहिये. सर्वथा पका हुआ फल अचित्त होजाता है परंतु जो पूर्ण नहीं पका है परंतु परिपक्वसरीखा दीखता है वह सचित्त है, वैसे फलोंका ग्रहण सचित्तत्यागियोंको नहीं करना चाहिये। इसप्रकार सचित्तग्रहण भूल और भ्रमसे भोगोपभोगपरिमाणव्रतका अतीचार है भूल और भ्रमके कारण उसे अकाचारकोटिमें नहीं लिया गया, अन्यथा साक्षात् सचित्तग्रहण उसके त्यागीका अनाचार ही होगा।

सचित्तसे मिले हुए पदार्थका ग्रहण करना यह दूसरा अतीचार है, जैसे भोजनमें कोई हरी चीज मिल गई हो तो उसेभीखा जाना यहांपर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असावधानीसे ऐसा होना अतीचार समझना चाहिये। जानबूझकर खा जाना तो अनाचार होगा।

सचित्तसंबंध तीसरा अतीचार है, जैसे हरी पत्तलमें भोजन खा लेना अथवा हरी पत्तलसे ढका हुआ भोजन खा लेना अर्थात् जिन पदार्थोंका सचित्तसे संबंध हो उन्हें खाना सचित्तसंबंध कहलाता है।

दुःपक्व आहार करना चौथा अतीचार है इसका यह अभिप्राय है कि जो वस्तुयें ठीक ठीक नहीं तैयार हुई हैं अग्निपर जिनका पूरा पाक नहीं हुआ है। कुछ कच्ची हैं कुछ पक्की हैं वे सब दुःपक्व कहलाती हैं, ऐसी वस्तुओंका भक्षण करना भी अतीचार है। शंका हो सकती कि अतीचार तो दोष हैं, दुःपक्व आहारसे क्या दोष आता है, उसके करनेसे किसी जीवकी बाधा भी नहीं होती फिर उसे अतीचार दोष के नामसे क्यों कहा गया? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि दोष एक प्रकारका ही नहीं होता अथवा जिसमें जीवरक्षा भी पलती हो परन्तु परिणामोंमें केवल विकार आता हो तो वह भी दोष समझा जाता है। तथा कोई दोष साक्षात् होता है कोई परंपरा भी होता है। दुःपक्व आहार परंपरा धर्म में बाधा पहुंचाता है, कारण वैसा आहार करनेसे शरीरमें अनेक रोगोंके होनेकी पूर्ण संभावना रहती है, पेट फूल जाता है, वादी हो जाती है, अन्न पाचन न होने से ज्वर भी हो जाता है, फिर उत्तरोत्तर बीमारियां बढ़ सकती हैं वैसी दशामें फिर व्रतका पाला जाना अशक्य ही हो जाता है इसलिए दुःपक्व भोजन शरीर में साक्षात् विकार करता है पीछे धर्म-साधनमें बाधक बन जाता है अतएव उसे अतीचारोंमें लिया गया है।

और इसीलिये पांचवां अतीचार—अभिषव-आहार भी दोष उत्पन्न करने अतीचार कहा गया है। अभिषव नाम गरिष्ठ पुष्टपदार्थों का है; जैसे हलुआ, रबड़ी, मलाई, घी, बादाम, रसायन आदि पौष्टिक पदार्थ एवं रसादिक पदार्थ सेवन करनेसे शरीरमें प्रबलता आती है, शारीरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबलतासे मनमें कामविकार उत्पन्न होता है। वैसी दशामें व्रतका पालन पूर्णतया नहीं हो पाता इसलिए व्रती पुरुषोंकेलिये अतिगरिष्ठ एवं पौष्टिक पदार्थोंका निषेध किया गया है, जो पदार्थ विकार उत्पन्न करनेवाले हैं एवं इंद्रियोंको प्रबल बनानेवाले हैं वे सब व्रतियोंको नहीं सेवन करने चाहिये। किंतु जिन पदार्थोंके सेवनसे शरीरकी तो रक्षा होती हो, भूख मिटती हो परंतु विकारभाव-प्रमाद नहीं आता हो ऐसे सात्त्विक हलके पदार्थ ही सेवन करने चाहिये। इसप्रकारके हलके निर्दोष सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करनेवाला पुरुष इंद्रिय और मनपर सहज ही विजय कर लेता है। अभिषवमें द्रवीभूतपदार्थ-खीर सौवीर आदि भी लिये जाते हैं और स्वादिष्ट-लड्डू गुलाबजामुन इमरती आदि इंद्रियोंको अधिक लोलुप बनाने वाले पदार्थ भी लिये जाते हैं। इनके सेवनसे अधिक पदार्थ गृद्धतासे खाए जा सकते हैं वैसी दशामें शरीर विकारसे व्रतभंग होने की संभावना रहती है इसलिए अधिक स्वादु पदार्थ भी व्रतियोंको नहीं खाना चाहिये।

एक प्रकारसे इन बातोंको रोकना व्रतरक्षाके लिये बाढ़ लगाना है यदि इन्हें न रोका जाय तो इंद्रियसमूह व्रतोंका भंग करनेमें समर्थ हो जाती हैं इसीलिये इन उपर्युक्त पदार्थोंको अतीचार दोष कहा गया है।

अतिथिसंविभागव्रतके अतीचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वयार्थ—(परदातृव्यपदेशः) दूसरे को दान देनेकी कह देना, (च सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने) और सचित्त पदार्थमें रखकर भोजन देना, सचित्तसे ढका हुआ भोजन देना, (कालस्यातिक्रमणं) कालका अतिक्रमण कर देना, (च मात्सर्यं) और मत्सरभाव ईर्ष्याभाव धारण करना, अथवा अनादरसे देना, (इति अतिथिदाने) इसप्रकार पांच अतीचार अतिथिदानव्रतमें होते हैं।

विशेषार्थ—जिस समय अतिथि-साधु तपस्वी भोजनके लिये घरपर आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जांय, उस समय किसी कार्य की व्यग्रतासे स्वयं तो दूसरे कार्यमें लग जाय और किसी अन्य पुरुषको कह दे कि इन्हें आहार दे दो या मैं कार्यके लिये जाता हूं तुम दे देना, परदातृव्यपदेश अतीचार कहा जाता है। इससे आहारदानमें उपेक्षाभाव सिद्ध होता है, कारण जहां भक्तिका तीव्र संचार होता है वहांपर फिर हरएक कार्य अपने हाथसे ही करनेकी इच्छा होती है। जो घरपर आये हुए अतिथिको छोड़कर स्वयं दूसरे कार्यमें लगता है। उसकी भक्ति कहांतक मंद है यह बात स्पष्ट है, भक्तिमें त्रुटि रहना ही यहांपर अतीचार लिया गया है। कारण भक्तिमें त्रुटि आती है परंपरा यदि गृहस्थ एक दूसरे पर धर्मकार्य सोंपता रहेगा स्वयं अन्यान्य कार्य करेगा तो धार्मिक कार्योंके मार्ग रुकने की पूरी पूरी संभावना है इसलिये उपर्युक्त दोष अतीचारमें लिया गया है। यह धार्मिक शिथिलता एवं भक्तिभावकी उपेक्षा, दान देनेवाले गृहस्थमें होती है इसलिये उसीका यह अतीचार है।

दूसरा सचित्त निक्षेप अतीचार है जब कि साधु सचित्त पदार्थके त्यागी होते हैं तब उन्हें आहारदान देनेवालेको बहुत विचारकर अतीचाररहित शुद्ध आहार देना चाहिये, यदि आहारमें कोई प्रकारकी अशुद्धि है तो उसका दोषी देनेवाला है लेते समय यदि उन साधुओंके दृष्टिगोचर वह अशुद्धि आ जायगी तब तो वे आहार छोड़ देंगे नहीं आवेगी तबतक ही लेते रहेंगे परंतु उनके ध्यानमें अशुद्धिका परिज्ञान हो या नहीं हो दाता जो कुछ भी अशुद्धि रखता है उसके लिये वह दोषी इसलिये सचित्तनिक्षेप किसी पत्तल आदि सचित्त वस्तुमें रखकर आहार देना अतीचार है।

इसीप्रकार सचित्त वस्तुसे ढका हुआ आहार देना यह तीसरा अतीचार है। कालका उल्लंघन करदेना चौथा अतीचार है। साधुओंका समय प्रातःकाल दस बजेसे साढ़े ग्यारह बजे तक होता है और जिनका एकबारमें कहीं आहार नहीं हुआ हो तो वे तपस्वी सायंकाल भी आहारको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकलते हैं वह समय करीब तीन-चार बजेका होता है । यदि साधु भोजन के लिये निकलेंगे तो इन्हीं दो समयोंमें निकलेंगे अन्य समयोंमें नहीं, कारण अन्य समय उनके सामायिक स्वाध्यायके लिये नियत है उस समय में सिवा उन कार्यों के और कुछ नहीं करते । भोजनके समय दाताको प्रतिग्रहण-पडगाहन करनेके लिये साधुओंकी प्रतीक्षा करना आवश्यक है जब कोई घर पर पाहुना आता है उसकी बाट जोही जाती हैं तो वे तो परमपूज्य बड़े भाग्योंसे दर्शनीय तपस्वी हैं, उनकी प्रतीक्षा करना-बाट-जोहना अत्यावश्यक है, परंतु नियतकालमें तो इधर उधर निजी कार्यमें लग गए जब उनके भोजनका समय निकल गया तब उनके पडगाहनके लिये आ खड़े हुए फिर साधुओंका मिलना ही अलभ्य है ।इसे कालातिक्रम नामका दोष कहा जाता है । यह भी कालातिक्रम है कि साधुओंको घर तो ले आये और उन्हें आसन पर बिठा दिया परंतु बीच बीचमें स्वयं दूसरे कार्यमें लग गये उन्हें आहारदान देनेमें विलंब कर लिया, ऐसी अवस्थामें साधु भी नहीं ठहर सकते और उक्त दोषसे दाता दोषी बन चुका ।

पांचवां अतीचार मत्सर– ईर्ष्याभाव है । यदि पड़ोसमें दूसरेके यहां दान दिया जाता हो या साधु दूसरेके यहां चले जांय अपने यहां नहीं आए तो उस दातासे ईर्ष्या धारण करना कि हाय यह दान दिये देता है मैं यों ही रहा जाता हूं । होना तो यह चाहिये कि यदि दूसरेके यहां महाराज पधारे हैं तो उसीकी सराहना करना चाहिये कि तू धन्य है कि तेरे यहां परम तपस्वी पधारे हैं, परंतु वैसा न कर उससे द्वेष करना, उसके घर उनके आनेको नहीं सहन करना अथवा अनादरके साथ आहार देना मात्सर्य नामका अतीचार है । ये सब दोष भक्तिमें कमी एवं प्रमाद उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए अतिथिसंविभागव्रत धारण करनेवाले गृहस्थको इनसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी समंतभद्राचार्यने इस अतिथिसंविभागव्रतके अतीचार सचित्त निक्षेप, सचित्तपिधान और मात्सर्य ये तीन तो समान ही बतलाये हैं परंतु कालातिक्रमके स्थानमें विस्मरण और परव्यपदेशके स्थानमें अनादर कहा है। परन्तु यह कोई मतभेद की बात नहीं है दोनोंका अभिप्राय समान ही है केवल शब्दभेद है। कालातिक्रम कालका उल्लंघन और विस्मरण ये दोनों समान दोष हैं, अथवा कारण कार्यकी अपेक्षा कथन है, विस्मरण होने से ही कालका अतिक्रम होता है इसलिये विस्मरण कारण और कालका अतिक्रम कार्य है। स्वामी समंतभद्राचार्यने कारणकी अपेक्षा लिखा है और श्रीअमृतचन्द्रसूरिने कार्यकी अपेक्षा लिखा है। एक जगह कारणमें कार्यका उपचार है दूसरी जगह कार्यमें कारणका उपचार है।

ऊपर हमने कालातिक्रमका अर्थ उपेक्षा किया है कि अन्य कार्यमें व्यग्रता रहनेसे भोजनकालमें पडगाहनके लिए खड़ा नहीं होना, विस्मरण में भी उपेक्षाभाव होता है यदि पूर्ण ध्यान हो तो विस्मरण नहीं होगा, विस्मरण वहीं होगा जहां उस कार्यमें पूर्ण उत्साह और आकांक्षाभाव नहीं है इसलिये विस्मरणका भी उपेक्षा अर्थ होता है। यदि विस्मरणका भूल जानामात्र ही अर्थ किया जाय तो कालातिक्रमका अर्थ भी वही कर लेना चाहिये। दोनों ही अर्थ इस दोषमें आते हैं।

परदातृव्यपदेश और अनादर ये दोनों भी समानार्थक हैं। कारण दूसरे दाताको तभी प्रेरित किया जाता है जब कि स्वयं उसका विशेष अनुराग नहीं है, स्वयं अनुरागके रहनेपर दूसरेको न कहकर स्वयं ही दाता अपने हाथसे आहार देगा. इसलिए परदातृव्यपदेश वहीं होता है जहां दाताका दान देनेमें अनादरभाव है, यहांपर भी कार्य कारण भावकी अपेक्षा कथन है। अनादरभाव कारण है, परदातृव्यपदेश कार्य है, कारण की अपेक्षासे दोनोंका ही समान अर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सल्लेखनाके अतीचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबंधश्च ।
सनिदानः पंचैते भवंति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वयार्थ—(जीवितमरणाशंसे) जीने और मरनेकी आकांक्षा करना, (सुहृदनुरागः) मित्रोंमें अनुराग करना, (सुखानुबंधश्च) सुखोंका स्मरण करना, (सनिदानः) निदान बंध बांधना, (एते पंच) ये पांच अतीचार (सल्लेखनाकाले भवंति) सल्लेखनाके समय में होते हैं ।

विशेषार्थ – जिससमय मरणकाल होता है उसीसमय सल्लेखना धारण की जाती है । जिसने मरनेके पूर्व सल्लेखना तो धारण कर ली हो परंतु मनमें यह भाव उसके हो कि अभी कुछ काल और भी जीता रहता या जीता रहूं तो अच्छा है ऐसी जीनेकी अभिलाषा रखना जीविताशंसा नामका पहला अतीचार है । यह एक दोष है कारण कि सल्लेखना ममत्व भाव छोड़नेकेलिये धारण की जाती है उसमें जीनेकी अभिलाषा रखना यह सांसारिक ममत्व है इसलिये उसका यह अतीचार है ।

इसीप्रकार सल्लेखना धारण करनेके पीछे कुछ वेदना होती हो, नग्न शरीर रखनेसे ठंड लगती हो या किसीप्रकारकी पीड़ा उपस्थित हो गई हो तो वैसी अवस्थामें उसे शांतिसे सहन नहीं करके यह विचार हृदयमें होना कि जल्दी ही मरण हो जाय तो मैं इस बाधासे मुक्त हो जाऊं ऐसा विचार भी शारीरिक ममत्वको सिद्ध करता है इसलिये यह मरणाशंसा भी अतीचार है ।

शंका हो सकती है कि वह तो शरीरको जल्दी छोड़नेकी इच्छा करता है फिर उसके शारीरिक ममत्व कैसे कहा जा सकता है । इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि यदि उसके शारीरिक ममत्व नहीं होता तो शरीरमें होनेवाली वेदनासे जल्दी मरनेकी इच्छा नहीं करता, जब शरीरसे ममत्व परिणाम नहीं रखता है तब कितनी ही वेदना क्यों न हो, उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्माकी वह नहीं समझता है इसीलिये मुनियोंको अनेक शारीरिक कष्ट होते हैं परंतु वे उनके ऊपर लक्ष्य तक नहीं देते अतएव उपसर्गों के होते हुए भी व आत्मध्यानसे विचलित नहीं होते हैं। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जहां ममत्व बुद्धि है वहींपर शारीरिक वेदनासे जल्दी मरनेकी इच्छा उत्पन्न होती है इसलिये यह सल्लेखनाधारीका दूसरा अतीचार है।

तीसरा मित्रानुराग नामा अतीचार है। ममत्व छोड़नेके लिये तो उद्यत हो रहा है परंतु मनमें अपने पुरातन एवं नवीन मित्रोंकी याद कर रहा है कि ये सब अब मुझसे छूटे जाते हैं। यह भी ममत्वबुद्धिके संस्कार हैं।

चौथा सुखानुबंध नामा अतीचार है, मरते हुए भी पहले भोगोंकी याद करना कि हमने पहले इसी पर्यायमें अच्छे अच्छे भोग भोगे हैं अब नहीं मालूम कैसी अवस्था प्राप्त होगी। इसप्रकार पूर्व सुखोंकी याद करना भी अतीचार है यह भी भोगोंसे ममत्व सिद्ध करता है।

पांचवां निदानबंध है। सल्लेखना धारण करके उसका फल स्वर्ग या भोगभूमि आदिके सुख चाहना यह निदानबंध बहुत बुरा भाव है। इसमें सिवा आत्मप्रतारणके और कुछ नहीं है। क्योंकि यह निश्चित है कि निदानबंध पुण्यके भीतर ही फल दे सकता है, यदि पुण्य कम हो और निदान अधिक फलवाला बांधा जाय तब तो वह निरर्थक जायेगा उस फल को दे नहीं सकता, यदि पुण्य अधिक है और निदान नीचे दर्जेका बांधा जाय तो वह फलीभूत हो सकेगा, ऐसी अवस्थामें कमाए हुए पुण्यसे पूरा फल नहीं लिया जा सकता। दूसरे सांसारिक भावों की आकांक्षा करना यह कषायजनित वासना है; मरते समय कषायवासनाको रखना आत्माके अहितका मार्ग है इसलिये निदानबंध बहुत निकृष्ट परिणाम है। संसारके बढ़ानेवाला एवं तीव्र राग उत्पन्न करनेवाला भाव है, इसलिये इसे शल्य बतलाया गया है। जिसप्रकार किसीप्रकारकी शल्य हृदयमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुभा करती है, उसीप्रकार यह शल्य भी आत्मामें चुभा करती है। निदान बंध पांचवें गुणस्थान तक ही होता है, छठे गुणस्थानमें नहीं होता, कारण छठे गुणस्थानमें केवल संज्वलन कषाय है, वहांपर इसप्रकारके दुर्भाव नहीं उत्पन्न होते। मुनिमहाराज कभी निदान नहीं बांधते, व्रती श्रावकोंमें भी कभी कोई बांधते हैं क्योंकि यह जघन्य भाव है।

'निःशल्यो व्रती' यह तत्त्वार्थसूत्रका सूत्र है, इसका अर्थ है कि जो शल्यरहित होता है वही व्रती होता है, शल्यसहित व्रती नहीं हो सकता, परंतु श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें 'तदविरतदेशविरतयोः' यह भी सूत्र है, इसका अभिप्राय यह है कि वह निदानबंध अविरत और देशविरत-पांचवें गुणस्थानतक होता है। तब यहांपर यह शंका होती है कि जब शल्यसहितके व्रत ही नहीं होता तब निदान शल्य पांचवें गुणस्थानतक कैसे रह सकती है? क्योंकि पूर्व सूत्रके अनुसार जहां शल्य होगी वहां व्रत नहीं और जहां व्रत है वहां शल्य नहीं हो सकती? इसका समाधान यह है कि यह कथन निरतीचार व्रतकी अपेक्षासे है अर्थात् निरतिचारव्रत तभी पाला जा सकता है जब कि वह शल्यरहित होगा।

इसप्रकार पांच अणुव्रतोंके पांच पांच अतीचार, तीन गुणव्रतोंके पांच पांच अतीचार, चार शिक्षाव्रतोंके पांच पांच अतीचार और सल्लेखनाके पांच अतीचार तथा सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार कुल ७० सत्तर होते हैं, इनको बचाकर व्रतोंकी रक्षा करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि सल्लेखना किसी व्रतमें गर्भित है? या स्वतंत्र व्रतभाव है, यदि व्रतमें गर्भित है तब तो उसके स्वतंत्र अतीचार बतलानेकी आवश्यकता नहीं थी जिस व्रतमें इसका समावेश हो सकता है उसीके अतीचार गिनानेसे इसके भी अतीचार समझे जाते, यदि, स्वतंत्र व्रत इसे माना जाय तो फिर श्रावकके १२ व्रत ही क्यों बतलाये हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सल्लेखनासहित १३ व्रत कहने चाहिये? इस शंकाका परिहार इसप्रकार है— सल्लेखना न तो किसी व्रतमें गर्भित है और न स्वतंत्र व्रत है किंतु जिस-प्रकार १२ व्रतोंसे भिन्न सम्यक्त्वभाव है उसके पृथक् अतीचार हैं, उसी-प्रकार मरणकालमें होने वाला उत्तम क्षमता एवं निर्ममत्वभाव सल्लेखना है। इसेव्रतमें शामिलनहीं किया जा सकता, कारण जिसप्रकार सामायिकमें पृथक् पृथक् अहिंसादि व्रतोंका उल्लेख नहीं होता किंतु समष्टि (समुदायरूपसे) रूपसे सभी व्रत सुतरां पल जाते हैं उसीप्रकार सल्लेखनामें भी समस्त व्रत सुतरां पल जाते हैं वहां पृथक् पृथक् व्रतोंका विधान नहीं होता इस लिए सललेखना व्रतोंसे भिन्न एक विशुद्धिजन्य विशेष आत्मीय परिणाम है। जब वह किसी विशेष व्रतमें गर्भित नहीं है तब उसके अतीचार भी स्वतंत्र कहना ही आवश्यक है।

अतीचारत्यागरूप का फल

इत्येतांनतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

अन्वयार्थ—(इति एतान् अतिचारान्) इसप्रकार इन अतीचारोंको (अपि अपरान्) और दूसरे जो हैं उन्हें भी (संप्रतर्क्य) भले प्रकार विचारकर (परिवर्ज्य) उन्हें छोड़कर (अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः) निर्मल सम्यग्दर्शन पांच व्रत और सप्त शीलोंके द्वारा (अचिरात्) शीघ्र ही (पुरुषार्थसिद्धिं) पुरुषार्थसिद्धिको (एति) प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—अतीचारोंका परित्याग किए बिना सम्यग्दर्शन और व्रतका निर्दोष नहीं हो सकते, तथा बिना उनके सर्वथा निर्दोष हुए पुरुष-आत्माको अर्थ-प्रयोजन सिद्धि-मुक्ति मिल नहीं सकती इसलिए मुक्ति प्राप्तिकेलिये सम्यक्त्व एवं व्रतोंका निर्दोष पालना परमावश्यक है। इसके लिये उनके समस्त अतीचार जोकुछ इस ग्रंथमें गिनाये गए हैं उन्हें और जोकुछ अन्यान्य शास्त्रोंमें वर्णित किए गए हैं, अथवा उपलक्षणसे जाने जाते हैं उन्हें भी ध्यानपूर्वक बिचारकर छोड़ देना चाहिये। उन सब अतीचारोंके छोड़नेपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन एवं व्रत शील सभी निर्दोष हो जाते हैं, वैसी अवस्थामें वृती पुरुष बहुत जल्दी अपने असली प्रयोजनको-मोक्षलक्ष्मीको पा लेता है ।

तपो विधान

चारित्रांतर्भावात् तपोपि मोक्षांगमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वांतैः ॥१९७॥

अन्वयार्थ—(चारित्रांतर्भावात्) सम्यक्चारित्रमें गर्भित होनेसे (तप अपि) तप भी (आगमे मोक्षांगंगदितं) आगममें मोक्षका अंग कहा गया है । इसलिये (तदपि) वह तप भी (अनिगूहितनिजवीर्यैः) अपनी शक्तिको नहीं छिपानेवाले (समाहितस्वांतैः) और अपने मनको वशमें रखनेवाले पुरुषके द्वारा (निषेव्यं) सेवन करना चाहिये ।

विशेषार्थ- तपका धारणकरना मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रधान है बिना तपके धारण किये कर्मोंकी निर्जरा अशक्य है, इसलिये अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर एवं मनको वशमें रखकर मोक्षप्राप्तिके अभिलाषी पुरुषोंको तप अवश्य धारण करना चाहिये । तपका उल्लेख स्वतंत्र इसलिये नहीं किया गया है कि वह सम्यक्चारित्रमें अंर्तभूत-गर्भित हो जाता है ।

तपके भेद

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपोबाह्यं ॥१९८॥

अन्वयार्थ—(अनशनं) चार प्रकारके भोजनका परित्याग कर देना, (अवमौदर्यं) ऊनोदर रहना अर्थात् थोड़ासा आहार लेना, भरपेट नहीं खाना (विविक्तशय्यासनं) एकांतमें सोना बैठना (रसत्यागः) रसोंका त्याग करना (कायक्लेशः) शरीरको क्लेश देना [वृत्तेः-संख्या च] तथा आहारकी नियति करना [इति बाह्यं तपः निषेव्यं] इसप्रकार यह छह प्रकारका बाह्यतप सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—जो कर्मों के क्षय करनेके लिये तपा जाय उसे तप कहते हैं, उसके दो भेद हैं एक -बाह्य तप, दूसरा-अंतरंगतप । बाह्यतपके छह भेद हैं-अनशन, अवमौदर्य, विविक्तशय्यासन, रसपरित्याग,कायक्लेश और वृत्ति-परिसंख्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, इन चारोंप्रकारके आहारोंका सर्वथा परित्याग करदेना, अनशनतप है। अल्पाहार करना अर्थात् जितनी भूख है उससे एक ग्रास, दो ग्रास, तीन ग्रास आदि क्रमसे भोजनको घटाकर लेना, घटते घटते एक ग्रासमात्र लेना इसे अवमौदर्य कहते हैं, इसीका दूसरा नाम ऊनोदर है। यह इच्छानिरोधके लिये किया जाता है। लालसायें इस तपसे नष्ट हो जाती हैं।

जो स्थान जीवोंकी बाधारहित हैं, एकांत हैं। ऐसे वसतिका खंडहर आदि स्थानोंमें शयन-आसन करना इसे विविक्तशय्यासन कहते हैं।

रसोंका त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। रसोंके पांच भेद हैं-दूध, दही, घी, खांड, तैल। इन पांचोंमेंसे कभी एक रसका परित्याग करना, कभी दोका त्याग करना, कभी तीनका, कभी चारका और कभी पांचका। पांचका त्याग जहां किया जाता है वहां उत्कृष्टत्याग कहा जाता है।

श्रीराजवार्तिककारने रसोंके भेद नहीं गिनाकर-'घृतादिरसत्यजनं' घृत दधि गुड़ तेल आदि रसोंको छोड़ना रसपरित्याग है, इतना ही बतलाया है साथ ही उन्होंने शंका भी उठायी है कि जितनी मात्र पौद्गलिक वस्तुएं हैं सभी रसवाली हैं, उन सबका नाम कहना चाहिये फिर विशेष क्यों कहा गया इसके उत्तरमें श्रीअकलंकदेवने कहा है कि विशेष रससे यहां प्रयोजन है जो रस इंद्रियोंको विशेष रीतिसे लालायित करनेवाला है उसीका परित्याग करना आवश्यक बतलाया गया है। तत्त्वार्थसारकार श्रीअमृतचंद्रसूरिने पांच रसोंका नाम गिनाया है साथमें पांच संख्या भी बतलायी है-'तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषां' तैल, क्षीर, इक्षु, दधि, और घी। नमकको यद्यपि रसोंमें नहीं गिनाया गया है तथापि श्रीराजवार्तिककारके अभिप्रायानुसार उसका ग्रहण भी रसमें किया जाय तो कोई बाधा नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमानमें जो त्याग किया जाता है उसमें हरित वस्तु भी रसमें ले ली जाती है हरित वस्तुका रसमें ग्रहण है यह बात अनगार धर्मामृतमें स्पष्टतासे बतलायी गई है जितने भी पदार्थ विशेष स्वादिष्ट होते हैं वे रसोंमें परिगणित किये जाते हैं। नमकको भी रसमें उक्त ग्रंथमें गिनाया गया है इसलिये जो रविवारको नमक छोड़ने और सोमवारको हरित छोड़ने की पद्धति है वह शास्त्रोक्त है। इंद्रियलालसा निवृत्तिके लक्ष्यसे नमकका त्याग भी लाभकारी है। अनेक आसन मांढकर तप करना, धूपमें-ग्रीष्मकालमें पर्वतपर चढ़कर तप करना, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे तप करना, शीतकालमें नदीके किनारे तप करना इत्यादि रीतिसे जिसप्रकार हो सके शरीरको तप द्वारा क्लेशित करना कायक्लेश कहलाता है।

यहांपर यह शंका उठाई जा सकती है कि कायक्लेशसे तो आत्मामें कषायभाव पैदा होगा वैसी अवस्थामें कर्मबंध ही होगा परंतु तपका फल कर्मों की निर्जरा बतलाया गया है, वह कायक्लेशसे सिद्ध नहीं होता प्रत्युतः विपरीतफल सिद्ध होता है फिर कायक्लेशको तपमें क्यों ग्रहण किया गया है ?

इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि यहां पर अप्रमत्त अधिकार चला आता है। उसका प्रयोजन यह है कि जहांपर कषायपूर्वक शरीरको पीड़ा पहुंचाई जाती है अथवा जहांपर शारीरिक पीड़ासे आत्मा पीड़ित एवं क्षुब्ध होता है वहां तो कर्मबंध होता है वैसा शारीरिक क्लेश सर्वथा वर्जित किया गया है कारण कि शास्त्रकारोंने सर्वत्र अपनी शक्तिके अनुसार तप करनेका विधान किया है। अपनी शक्तिका प्रयोजन यही है कि जिसमें आत्माको शरीरपीड़ासे क्लेश न हो, अन्यथा आत्मा तो अचिंत्य एवं समानशक्तिका धारी हैं उसके लिए नाना जीवों की अपेक्षा भिन्न भिन्न रूपसे सामर्थ्यका उपदेश व्यर्थ है, इसलिए उसका यही प्रयोजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि जहां-जिस जीवमें जितनी सामर्थ्य है अर्थात् जितना प्रमादरहित कषायरहित शारीरिकश्रम किया जा सकता है उतना किया जाय। जहां शारीरिक श्रम करते हुए कषायभाव जागृत नहीं होते हैं वहांपर कर्मबंध नहीं होता किंतु कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। कर्मबंधके लिए कषायभाव कारण है जहांपर कषायभावोंका पूर्ण दमन किया जाता है वहां कर्मकी निर्जरा अशक्य है। पर्वतपर, नदी किनारे, वृक्षके नीचे एवं नाना प्रतिमादियोगोंसे जो तप किया जाता है वह आत्मशुद्धिके लिये ही किया जाता है, शरीरसे ममत्वबुद्धि सर्वथा दूरकर दी जाती है, वैसी अवस्थामें शारीरिक कष्टसे आत्मसंक्लेशनहींहोता। यह बात अनुभूत है कि जहांपर शरीरमें ममत्व भाव नहीं रहता, वहां शरीर की पीड़ाकी ओर लक्ष्य ही नहीं होता, वहांपर शारीरिक वेदना वेदना ही नहीं विदित होती इसलिये कायक्लेश नहीं होता, बिना कायक्लेश किये आत्मशुद्धि और कर्मनिर्जरा अशक्य है अतः कायक्लेशको तप कहा गया है। यद्यपि कर्मोंकी निर्जरा तो प्रत्येक संसारीके होती रहती है परंतु उस निर्जरा से कोई लाभ नहीं है, वह सविपाकनिर्जर है अर्थात् कर्म अपना फल देकर समय पूराकर निर्जरित हो जाते हैं किंतु जो कर्म तप द्वारा खपाये जाते हैं, वे उदय–समयले पहले ही खपाये जाते हैं वैसी कर्मनिर्जराको अविपाकनिर्जरा कहते हैं, ऐसी कर्मनिर्जरा आत्माको कर्मभारसे हलका बनाती है। वृत्तिपरिसंख्या उस तपका नाम है जिसमें भोजनकी विशेष मर्यादा की जाती है –जैसे आज मैं दश घरसे अधिक नहीं घूमूंगा, चाहे भोजन मिले या न मिले, आज अमुक पदार्थ मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं लूंगा, आज केवल मूंगकी दाल ही लूंगा और कुछ नहीं इत्यादि रूपसे जहांपर नियमित वृत्ति करली जाती है वहांपर विशेष रीतिसे संयम पलता है इसलिये वृत्तिपरिसंख्या तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतरंगतपके भेद

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोतरंगमिति ॥१९९॥

अन्वयार्थ—(विनयः) विनय करना (वैयावृत्यं) वैयावृत्य करना (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त धारण करना (तथैव उत्सर्गः) उसीप्रकार कायोत्सर्ग करना (स्वाध्यायः) स्वाध्याय करना (अथ ध्यानं) अथ ध्यान धारण करना (इति अंतरंग तपः निषेव्यं भवति)इस प्रकार अंतरंग तप सेवन करने योग्य है ।

विशेषार्थ— विनय चारप्रकार है-ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय । सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये स्वाध्याय करना, शास्त्रका विनय करना, ज्ञानका प्रचार करना, गुरुओंकी भक्ति करना, इत्यादि सब ज्ञानविनय कहा जाता है । सम्यग्दर्शनको शुद्ध रखनेकी चेष्टा करना उसे अतीचारोंसे दूषित नहीं होने देना निःशंकितादि भावोंसे उसे दृढ़ बनाना, एवं सम्यग्दृष्टियोंपर श्रद्धाभाव रखना यह सब दर्शनविनय है । सम्यक्चारित्रका पालन करना, दूसरोंसे व्रताचरण कराना, लोकमें चारित्रका महत्त्व प्रगट करना, एवं सम्यक्चारित्रधारियोंकी भक्ति विनय करना चारित्रविनय है । आचार्य उपाध्याय साधु एवं सम्यग्दृष्टि गुणधारी पुरुषोंके आनेपर खड़े हो जाना उन्हें पहुंचाने जाना, हाथ जोड़कर विनयादि करना, जो परोक्ष है उनका प्रकरणवश नाम उपस्थित होनेपर उन्हें परोक्ष नमस्कारादि करना, हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना इत्यादि सब उपचारविनय है । जो शिक्षक लौकिक शिक्षा देते हैं उन्हें गुरु समझकर उनकी विनय करना, अंतरंग तपमें शामिल किया जाय या नहीं ? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि तपमें तो उन्हींका विनय शामिल किया जा सक्ता है जो सम्यग्दृष्टि हैं, जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं उनका विनय तो करना चाहिये परंतु वह लौकिक व्यवहारविनय है, धार्मिक बुद्धिसे भक्तिपूर्वक नहीं कहा जा सकता । वैयावृत्य नाम धार्मिक पुरुषोंकी सेवाका है । आचार्य उपाध्याय, तपस्वियोंके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास शिक्षा लेनेवाले व्रती, रोगादिसे क्लिष्टशरीरी, वृद्ध मुनियोंका समूह, आचार्योंका शिष्यवर्ग, मुनि अर्जिका श्रावकश्राविका इन चारोंके संघ अनेक कालसे दीक्षित साधु और लोकपूजित सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सबोंकी सेवा शुश्रूषा करना आवश्यकतानुसार हरप्रकारसे सहायता करना सो वैयावृत्य है। किसी व्रतमें दूषण आनेपर शास्त्रानुसार मार्गसे एवं आचार्यद्वारा दिये गये दण्डविधानसे पुनः व्रतको शुद्ध कर लेना इसीका नाम प्रायश्चित्त है। जिससमय आत्मा कषायकी तीव्र परतंत्रतावश किसी अनुपादेय मार्गका अनुसरण कर लेता है उससमय फिर उसी पूर्व आर्षमार्गपर नियोजित एवं दृढ़ करनेके लिये प्रायश्चित्त मूलसाधक है। बिना प्रायश्चित्तके आत्मा से होनेवाली भूलका मार्जन किसीप्रकार हो नहीं सकता। प्रायश्चित्त शास्त्रोंके ज्ञाता आचार्य एवं गृहस्थाचार्य शुद्ध एवं सरल परिणामोंसे केवल धर्मरक्षाकी बुद्धिसे दूषित व्यक्तिको प्रायश्चित्त देते हैं, लेनेवाला भी अपनी भूल समझकर उसी दण्डको सुधारमार्ग समझकर सरल परिणामोंद्वारा ग्रहण करता है इसलिए दोष करनेवाला व्यक्ति फिरसे निजात्माको शुद्ध बनाकर समुन्नति प्राप्त कर लेता है। यह प्रायश्चित्त आलोचन प्रतिक्रमण आदि भेदोंसे ९ प्रकार है। कोई दोष होनेपर उसे गुरुके निकट जाकर निवेदन कर देना इसका नाम आलोचन प्रायश्चित्त है। गुरुकी आज्ञानुसार अपने किये हुए अपराधोंकी मीमांसा करना अर्थात् मेरे अपराध मिथ्या हो जांय इसप्रकार किये गए अपराधोंका जो पश्चात्ताप किया जाता है वह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। कोई दोष आलोचनसे दूर होता है, कोई प्रतिक्रमणसे दूर हो जाता है, परंतु कोई कोई प्रबल दोष आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंसे दूर होता है, जो दोनोंसे दूर होता है उसे तदुभय प्रायश्चित्त कहते हैं। संसक्त अन्न पान एवं उपकरणोंका विभाग कर देना इसे विवेक नामक प्रायश्चित्त कहते हैं। शरीरसे ममत्व छोड़कर ध्यान करना वह कायोत्सर्ग है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो प्रायश्चित्तरूपसे ध्यान किया जाता है वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहलाता है। अनशनादि तपोंका धारण करना तप प्रायश्चित्त है। कुछ नियत दिनोंके लिये दीक्षाका छेद कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है। दोष करनेवालेको कुछ कालके लिये संघसे बाहर कर देना परिहार नामका प्रायश्चित्त है। किसी बहुत बड़े दोषपर दोषीकी दीक्षाको सर्वथाछेद करके फिर नवीनरूपसेउसेदीक्षित बनाना उपस्थापना नामकगुण प्रायश्चित्त है। जैसे जैसे दोष होते हैं उन्हींके परिमाणमें इन प्रायश्चित्तोंको गुरु-आचार्य देते हैं। कषायोंकी तीव्रतासे कभी कभी किसी निमित्तकी प्रबलतासे मुनियोंसे भी दोष बन जाते हैं परंतु शीघ्र ही कषायोंका उपशम होनेसे वे गुरुओंसे प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाते हैं, जब कि इंद्रिय विषयोंसे सर्वथा दूर एवं निमित्तमात्रको दूरकर जंगलमें निवास करनेवाले मुनियोंसे भी कषायवश कभी कभी कोई दोष बन जाते हैं तो रातदिन इंद्रियविषयोंमें लिप्त रहने वाले एवं सब प्रकारके सांसारिक निमित्तोंमें सने हुए गृहस्थसे छोटेसे लेकर बड़े बड़े दोषोंका हो जाना सहज है, परंतु कभी किसी दोषके उपस्थित हो जानेपर फिर व्रतच्युति समझकर दोषोंसे मुक्त होनेकी चेष्टा नहीं करना मूर्खता है, इसलिये यह परमावश्यक है कि गृहस्थको भी प्रायश्चित्त शास्त्रोंके आधार पर विशेषज्ञोंसे अपने दोषोंका प्रायश्चित्त लेकर आत्माको शुद्ध बनाना चाहिये। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि एवं संयमकी रक्षाके लिये स्वाध्याय करना, चारों अनुयोग शास्त्रोंको वांचना, चिंतवन करना पूछना, मननकरना, दूसरोंको समझाना आदि स्वाध्याय तप है। तथा एकाग्रचित्त होकर समस्त आरंभ परिग्रहसे मुक्त बनकर अर्हंत सिद्ध अथवा निजात्मा अथवा अन्य किसी ध्येय पदार्थमें निमग्न हो जाना ध्यान है। यह भी अंतरंग तप है। इसप्रकार ऊपर अंतरंग तपका वर्णन किया गया है। इस तपका केवल आत्मीय भावोंसे संबंध है, वाह्यनिमित्त अंतरंग तपमें अवलंबन नहीं पड़ता है तथा मनका अवलंबन प्रधान है इसीलिये इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतरंगतप कहते हैं। बाह्यतपमें बाह्य पदार्थ एवं शरीर प्रवृत्तिप्रधान पड़ती है इसलिए उसे बाह्यतप कहा गया है। दोनों प्रकारका तप आत्माको उसीप्रकार शुद्ध बनाता है जिसप्रकार कि अग्नि सुवर्णको तपाकर शुद्ध बना देती है। इसीलिये तपको मोक्षका–कर्मनिर्जराका प्रधान अंग कहा गया है।

मुनिवृत्ति धारण करनेका उपदेश

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणं।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अन्वयार्थ—[जिनपुंगवप्रवचने] जिनश्रेष्ठ श्रीअर्हंतदेवके द्वारा-प्रतिपादित शास्त्रोंमें [मुनीश्वराणां] मुनीश्वरोंका [यत् आचरणं] जो चारित्र [उक्तं] कहा गया है [एतत् अपि] वह भी [निजां पदवीं] अपने पदस्थको [सुनिरूप्य] अच्छी तरह बिचार करके [शक्तिं च सुनिरूप्य] तथा अपनी सामर्थ्यको भी भलीभांति बिचार करके [निषेव्यं] सेवन करने योग्य हैं।

विशेषार्थ—यहांतक श्रावकोंका आचार निरूपण किया गया अब ग्रंथकार श्री अमृतचंद्रसूरिमहाराज कहते हैं कि जैनागममें जो मुनीश्वरोंके आचरण बतलाये गये हैं उन्हें भी अपनी शक्ति एवं अपने पदस्थका लक्ष्य रखकर पालन करना चाहिये। अर्थात् या तो सामर्थ्य परिपूर्ण हो तो मुनिपद ही अंगीकार करना चाहिये, यदि उतनी सामर्थ्य नहीं है तो मुनियोंके लिये कहे गये आचारका एकदेश धारण करना चाहिये। अनेक पुरुष ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि अमुक बात तो मुनियोंके लिये है, अमुकव्रत तो उन्हीं के लिये है, श्रावकोंके लिये वे नहीं हैं। यह बात कहना कुछ अंशोंमें सत्यता रखता है और कुछ अंशोंमें मिथ्या भी है। जो व्रत उच्चादर्श रूपसे, एवं मन बचन काय कृत कारित अनुमोदनासेत्रसस्थावरोंकी पूर्ण रक्षापूर्वक सर्वारंभ परिग्रहरहित मुनियों द्वारा पाले जा सकते हैं वे सारंभ सपरिग्रह गृहस्थसे कभी नहीं पाले जा सकते। ऐसी अवस्थामें उपर्युक्त कथन ठीकहै

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंतु जो आचरण—व्रत समिति गुप्ति आदि महाव्रत रूपसे मुनियोंके लिये विहित है उसका एकदेश रूप भी श्रावक नहीं पाल सकता यह कथन मिथ्या है कारण महाव्रतकी अपेक्षा अणुव्रत रखता है। मुनियोंके आचार महाव्रत रूपसे हैं वे ही आचार श्रावकोंके लिये अणुव्रत—एकदेश रूपसे हैं। ऐसी अवस्थामें पंचव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति आदि समस्त चारित्रकी एकदेश रूपसे गृहस्थ पालन करनेका अधिकारी है इसलिये अपनी शक्ति एवं अपने पदस्थके अनुसार मुनियोंके व्रताचरणको धारण करना चाहिये।

षडावश्यक

इदमावश्यकषट्कं समतास्तवबदना प्रतिक्रमणं।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यं ॥२०१॥

अन्वयार्थ—[समतास्तवबंदनाप्रतिक्रमणं] समता, स्तवन, बंधना, प्रतिक्रमण, [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान, [वपुषो व्युत्सर्गश्च] कायोत्सर्ग [इति इदं आवश्यकषट्कं] इसप्रकार ये छह आवश्यक [कर्तव्यं] करना चाहिये।

विशेषार्थ—समता और सामायिक दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, अतएव यहांपरसमता पाठ है अन्यान्य ग्रंथोंमें भी सामायिक पाठ है। साम्यभाव रखनेका नाम समता या सामायिक है। साम्यभाव ६ प्रकारसे—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र और काल इन छह भेदोंसे धारण किया जाता है। शुभ अशुभ नामोंको सुनकर रागद्वेष नहीं करना नाम सामायिक है। जिस किसी स्थापित पदार्थकी सुंदरता अथवा विकृतरूपता देखकर रागद्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन दोनोंमें समदर्शीभाव रखना द्रव्यसामायिक है चाहे कोई सुंदर बाग हो या कोई कांटोंसे भरी हुई ऊसर भूमि हो दोनोंमें समताभाव रखना क्षेत्रसमता है चाहे अधिक जाड़ा या गरमी हो या अनुकूल वायुसे सुहावनी वसंत ऋतु हो या अथवा दिन हो या रात्रि हो किसी एकपर राग या द्वेष नहीं करना किंतु दोनोंको समताभावसे अनुभवन करना कालसामायिक है। समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना किसी से वैर विरोध नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनाभाव सामायिक है। अथवा दूसरी प्रकारसे भी इन्हीं नाम स्थापना आदि सामायिकोंका स्वरूप है वह इस प्रकार है—जाति द्रव्य क्रिया गुण इनमेंसे किसी की अपेक्षा नहीं करके सामायिक शब्द-संज्ञा रखना नामसामायिक है। जो पुरुष सामायिक आवश्यकमें परिणत है वह तदाकार अथवा अतदाकार पदार्थमें गुणोंका आरोपण करै वहस्थापना सामायिक है। जो वस्तु भविष्यमें जिस रूपको धारण करनेवाली है अथवा भूतकाल में वैसारूप धारणकर चुकी है उसका सामायिक होना द्रव्य सामायिक है। अर्थात् भूत भविष्यत्कालमें वर्तमान रूप धारण करनेवाली वस्तुमें वर्तमान रूप देकर रागद्वेष छोड़ साम्यभाव धारण करना द्रव्यसामायिक है। यह द्रव्यसामायिक दो प्रकार है—एक आगम द्रव्यसामायिक एक नो आगम द्रव्यसामायिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले शास्त्रों का ज्ञाता आत्मा जिससमय उन शास्त्रों में अनुपयुक्त है उस समय वह आगम द्रव्यसामायिक कहने योग्य है।

नो आगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं—सामायिक वर्णनवाले शास्त्रों का ज्ञाता आत्माका शरीर, भावि जीव और तद्व्यतिरिक्त। उनमें ज्ञाता का जो शरीर है वह भी तीनप्रकार है— भूतशरीर, भाविशरीर और वर्तमानशरीर। अर्थात् सामायिक शास्त्रों के जाननेवाले आत्मा का वर्तमानशरीर और उसीका भूतशरीर और उसीका भाविशरीर ऐसे तीन भेद ज्ञातृशरीरके हैं। उन तीनोंमें जो भूतशरीर है उसके भी तीन भेद हैं— च्युत च्यावित और त्यक्त। जो शरीर पके हुए फलके समान अपने आप ही आयुके क्षय होनेपर आत्मासे पृथक् हो जाय वह च्युतज्ञातृशरीर है। जो कदली घात से आत्मा से पृथक किया जाय वह च्यावितशरीर कहलाता है। त्यक्तशरीरके फिर तीन भेद हैं—भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण। उनमें भक्त प्रत्याख्यानके भी तीन भेद है उत्तम मध्यम जघन्य। उत्कृष्ट भक्त त्यागका प्रमाण बारह वर्ष है। जघन्यका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय अंतमुहूर्त है, बीचका सब समय मध्यम है । तथा भाविकालमें– आगामी कालमें सामायिक शास्त्रोंको जाननेवाला जीव भाविनोआगम द्रव्य सामायिक कहलाता है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं-कर्म, नोकर्म। सामायिक में स्थित जीवके जो तीर्थंकर शुभ नाम शुभ गोत्र सातावेदनीय आदि शुभ कर्मोंका संचय होता है वह नोआगम द्रव्यकर्म तद्व्यतिरिक्त नामका द्रव्यसामायिक है। नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्यसामायिक के फिर तीन भेद हैं– सचित्त , अचित्त,मिश्र। उनमें सचित्त पढ़ाने वाले उपाध्याय कहे जाते हैं। अचित्त पुस्तक कही जाती है और मिश्रमें दोनोंका ग्रहण होता है। यह सब नोकर्म हैं जो उस कार्यमें सहायक हो वहनोकर्म कहा जाता है। क्षेत्रसामायिक वह है कि–सामायिक परिणत जीवने जिस स्थानका ग्रहण कर रक्खा है जैसे–चम्पापुर , पावापुर , गिरनार , सोनागिरि, अंतरीक्ष पार्श्वनाथ , श्री सम्मेदशिखर आदि। जिस कालमें सामायिकमें आत्मा परिणत होती है वह उसका काल सामायिक है। उसके तीन भेद हैं – प्रातःकाल , मध्यान्हकाल और सांयकाल। जो वर्तमानपर्यायसे विशिष्ट पदार्थ है उसका सामायिक भावसामायिक कहा जाता है। वह भी दो प्रकार है–आगमभाव सामायिक , नोआगमभाव सामायिक । सामायिक के वर्णन करने वाले शास्त्रों को जानने वाला आत्मा जिससमय उन शास्त्रों में उपयोग लगा रहा है उस समय वह आगमभावसामायिक कहा जायेगा। नो आगमभाव सामायिक के भी दो भेद हैं–उपयुक्त और तत्परिणत। सामयिक शास्त्रों के विना सामायिक के अर्थों में जो उपयुक्त है वह नो-आगम उपयुक्त भाव सामायिक है। तथा जो रागद्वेष से रहित भाव से परिणत आत्मा है वह तत्परिणत नोआगम भाव सामायिक है। इन छहों भेदों में– द्रव्य क्षेत्रादि भेदों में जो भावसामायिक भेद है उसी से मुख्य प्रयोजन है। भावसामायिक शब्दका निरुक्तिपूर्वक अर्थ यह है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, यम, नियम, संयम, गुप्ति इनमें प्रशस्तरूप से गमन करै वह सामायिक है अर्थात् इन सब आत्मीय धर्मों को जो प्रशस्तरूपसे धारण करता है वह भावसामायिक संपन्न कहलाता है। सामायिकमें उपयुक्त आत्मा यह विचारता है कि किसीने शुभ नाम अथवा अशुभ नामका प्रयोग किया तो आत्मा बचनके अगोचर है इसलिये मुझे उस शुभ अशुभ नाममें रागद्वेष नहीं करना चाहिये। जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूं मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिये। जो सामायिक शास्त्रोंके जानकार आत्माके शरीर हैं अथवा उससे भिन्न हैं दोनों ही पर द्रव्य हैं मुझे उनमें रागद्वेष क्यों होना चाहिये। चाहे राजधानी हो, चाहे जंगल हो, दोनोंही परक्षेत्र हैं, मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है इसलिये मेरा उनमें रागद्वेष करना सर्वथा विपरीत है कारण जो अनात्मदर्शी हैं वे ही अपना निवास ग्राम या आरण्य समझते हैं, परंतु आत्मदर्शी तो केवल निजात्मामें ही अपना निवास समझते हैं, ठंडी गरमी दिन रात ये सब पुद्गलके विकार हैं, मेरा इनसे स्पर्श भी नहीं हो सकता क्योंकि मैं अमूर्त हूं इसलिये मुझे इस कालसे रति अरति नहीं करना चाहिये। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं मैं तो केवल चित्चमत्कार-चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं इसलिये मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावोंमें किसीप्रकार भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये इसलिये जीनेमें, मरनेमें, लाभमें अलाभमें, संयोगमें, वियोगमें, बंधुमें, शत्रुमें, सुखमें, दुखमें सभीमें साम्य-भाव ही मुझे धारण करना चाहिये। ये सब कर्मकृत विकार हैं। इन सबसे मेरा वास्तवमें कोई किसीप्रकारका संबंध नहीं है। इसप्रकार सामा-यिकके स्वरूपका विचार करना चाहिये। स्तवनका स्वरूप यह है कि श्री-अर्हंतकेवली, धर्मप्रवर्तक, श्रीचतुर्विंशति भगवानका उनके गुणोंका कीर्तन करके स्तवन करना-स्तुति करना सो स्तव कहलाता। यह स्तवन भी दो प्रकार है १-व्यवहारस्तवन २-निश्चयस्तवन। व्यवहारस्तवनके पांच भेद हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल। चतुर्विंशति भगवानके एक हजार आठ नामोंका उच्चारण करके उनका जो स्तवन किया जाता है वह नामस्तवकहलाता है। जैसे आप श्रीमान् हैं, आप स्वयंभू हैं,वृषभ हैं, आत्मभू हैं, प्रभु हैं, विश्वभू हैं, धर्मपाल हैं, जगत्पाल हैं, धर्मसाम्राज्यनायक हैं आदि। जो चतुर्विंशति भगवानकी स्थापना करके उनकी आराधना की जाती है वह स्थापना स्तवन है। जैसे- आपका रूप शुक्ल है, सुवर्ण है, आपकी शरीर की ऊंचाई पांचसौ धनुष या सात हाथ है, आपका आकार परम सुंदर है, आप चंपापुरमें विराजमान हैं, आदि रूपसे जो कृत्रिम- अकृत्रिम प्रतिमाओंका स्तवन होता है वह स्थापनास्तव है। द्रव्यस्तवनमें इसप्रकार है-हे भगवन्! आपके अनेक शुभलक्षण हैं, आपके शरीरके परमाणु स्वयं मुक्तावस्थामें छूट जाते हैं, आपके बैल, गज, अश्व, बंदर आदि चिन्ह हैं, आपको कभी पसीना नहीं आता, आपके गर्भनकालमें चारोंओर सुभिक्ष हो जाता है, आपके वर्ण शुभ हैं, किन्हींके शुक्लवर्ण है, किन्होंके हरितवर्ण है, किन्हींके नीलकमलके समान हैं आदि। आपकी ऊंचाई भिन्न भिन्न रूपसे है। पांचसौ धनुषसे लेकर सात हाथ तक है। आपके वंश-इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र, नाथ, हरि आदि हैं। आपकी माताको षोडश स्वप्न आते हैं, वे स्वप्न में माला, निर्धूम अग्नि, सिंहासन आदि देखती हैं। आपकी कांतिसे सब दिशाएं उज्वल हो जाती हैं। आपने न्यग्रोध अशोक आदि वृक्षोंके नीचे योग धारण किया था। इत्यादि रूपसे जो भगवानका स्तवन किया जाता है वह द्रव्यस्तवन है। चौबीसों महाराजके क्षेत्रका वर्णन करना जहां उन्होंने निवास एवं दीक्षा धारण की हो उनका वर्णन करना क्षेत्रस्तवन कहलाता है, जैसे-हे भगवन! आपने सर्वार्थसिद्धिक्षेत्रसे श्रीमाताकी कुक्षिमें अवतरण किया है, आपने अयोध्या नगरीमें जन्म लिया है, आपने सहस्त्रवन दंडकवनमें दीक्षा धारण की है, सुमेरुपर आपका अभिषेक इंद्रोंने किया है, आपको हस्तिनापुर एवं अहिच्छत्रमें केवलज्ञान हुआ है, आपने श्रीसम्मेदशिखर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैलाश, चंपापुर, पावापुर, गिरनारिसे मोक्ष प्राप्त की है। वे क्षेत्र धन्य एवं परम पूज्य हैं जिनमें कि आपका चरणरज लगा हुआ है। इसी प्रकार भगवानके कालोंका वर्णन करना कालस्तवन कहलाता है, जैसे-हे भगवन् आपने अमुक समयमें गर्भावतरण किया था, अमुक मितिमें आपका जन्मकल्याणक हुआ था. अमुक शुभ मितिमें आपका दीक्षोत्सव हुआ है इत्यादिरूपसे समयस्तवन करना कालस्तवन है। जिसमें भगवानके असाधारण गुणोंका वर्णन किया जाय तो वह भावस्तवन कहलाता है, जैसे-हे भगवन्! आप केवल ज्ञानज्योतिद्वारा इस चराचर समस्त विश्वको प्रत्यक्ष युगपत् देखते व जानते हैं। आपमें अनंत वीर्य, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत सुख आदि अनंत गुण प्रगट हो चुके है। आपके समान किसी अन्य व्यक्ति में वैसे क्षायिक गुण नहीं पाये जाते हैं। प्रतिक्षण आपमें अनंत गुणों का उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य होता रहता है। इस प्रकार स्तवके भेद कहे गये।

अब बंदनाका स्वरूप कहा जाता है—परमपूज्य श्रीअर्हंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु इन पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करना, उनका आशीर्वाद और जयवादके साथ नामोच्चारण करना जैसे हे भगवन् आप धन्य हैं आपकी जय हो, इत्यादिरूपसे उनकी वंदना कर्म है यह वंदना— विनय कर्म पांच हेतुओंसे किया जाता है—एक तो समस्त लोक विनयादि क्रिया करता है इसलिए उसे करना, २—इंद्रिय सुखोंकी अभिलाषा करना, ३—अपने किसी प्रयोजनकी वांछासे करना, ४—किसी विशेष भयके उपस्थित होनेपर करना तथा ५-मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे करना; इसप्रकार पांच उद्देश्योंसे विनय--वंदना की जाती है। उनमें अंतिम मोक्षप्राप्तिकी भावनासे जो विनय की जाती है वह कर्मनिर्जराका कारण होती है बाकी शुभबंधकी कारण रूप हैं। अंतिम विनय सभी पुरुषोंको अवश्य करना चाहिये। बंदनाके अनेक प्रकार हैं, जैसे--मुनिमहाराजके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनेपर खड़े हो जाना, हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उनकी पूजा करना, पाद प्रक्षालन करना, इत्यादिरूपसे अनेक प्रकार वंदना के भेद हैं। पांचों परमेष्ठियोंमेंसे किन्हीं एक परमेष्ठी भगवानके गुणोंकी पूजा करना, उनका नामोच्चारण कर पूजा करना, उनके गर्भादि कल्याणों की पूजा करना, उनके उत्पत्ति आदि स्थानोंकी पूजा करना, ये सब भी वंदनाके प्रकार हैं। इस वंदनाके भी छह भेद हैं-नामवंदना, स्थापनावंदना, द्रव्यवंदना, क्षेत्रवंदना, कालवंदना, भाववंदना। श्रीअर्हंत आदि पांच परमेष्ठियोंका नामोच्चारण करना नामवंदना है। पूजा करना, स्तुति करना, स्थापनावंदना है। उनके शरीरकी स्तुति करना द्रव्यवंदना है। कल्याण-भूमिकी स्तुति करना क्षेत्रवंदना है। कल्याणकालका स्तवन करना काल-वंदना है। उनके गुणोंका स्तवन करना भाववंदना है।

मुनिमहाराज मान छोड़कर संसारसे भयभीत होकर आलस्य-रहित प्रतिदिन, आचार्य, उपाध्याय, गणरक्षक, मर्यादा, रक्षक रत्नत्रयसे वृद्ध साधुओंकी बंदना करते हैं। जिस समय आचार्य दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु किसी देशांतर में चले जांय उस समय मुनिगण, मर्यादा रक्षक मुनियोंकी वंदना करते हैं। यदि वे भी देशांतरमें गये हों तो दूसरे जो यति हैं। जो कि दीक्षासे बड़े हैं उन्हें नमस्कारादि करते हैं। यह सब वंदना विधि जैसी कुछ शास्त्रों में बतलायी गई है उसी के अनुसार करते हैं। इतना विशेष है कि संयमी पुरुषों द्वारा विशेष संयमी वंदना के पात्र हैं, जो असंयमी हैं वे संयमियों के वंदना के पात्र कदापि नहीं हैं। जो संयमी मुनि हैं वे श्रावक – संयमी को भी वंदना नहीं कर सकते, क्योंकि श्रावक एकदेश चारित्रधारी होता है मुनि सर्व-देश चारित्रधारी होते हैं इसलिये मुनि श्रावक द्वारा वंदनीय हैं, श्रावक उनके द्वारा कदापि वंदनीय नहीं हैं। तथा जो व्रती श्रावक है वह भी असंयमी–अव्रती माता पिताको, असंयमी गुरु को, असंयमी राजाको,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलिंगीको, कुदेवोंको वंदना नहीं करेगा, इसलिये जो व्रत विधानमें उच्चपदस्थाधिकारी हैं वे ही निम्न पदस्थवालों से वंदनीय हैं। यहांपर यह शंका हो सकती है कि गृहस्थ माता पिता एवं लौकिक शिक्षा देनेवाले गुरुओंको प्रणामादि करें या नहीं ? इसका उत्तर यह है,कि प्रणामादि करना लोकव्यवहार है। लोकव्यवहारकी दृष्टिसे जो विनय किया जाता है वह धार्मिक बुद्धिसे नहीं समझा जाता, धार्मिक बुद्धिसे जो विनय होता है भक्ति भावपूर्वक होता है, ऐसा विनय सम्यग्दृष्टि संयमीपुरुषोंके लिये ही किया जा सकता है। उनमें भी जघन्य संयमी पुरुषों द्वारा उन्नतोन्नत चारित्रधारियोंका किया जाता है। संयमी-पुरुषों द्वारा असंयमियोंका विनय धर्मविरुद्ध है। इसलिये धार्मिक दृष्टिसे संयमी श्रावक असंयमी माता पिता गुरु आदिको भी नमस्कारादि नहीं कर सकता। जो संयमी संयमियोंके लिये वंदना करते हैं वे भी समयके अनुसार करते हैं जिस समय बंदनीय पुरुष अच्छी तरह बैठे होते हैं उस समय मैं बंदना करता हूं ऐसा शब्द कह कर उनकी बंदनाकी भावेच्छा जानकर ही बंदना करते हैं। जिस समय बंदनीय संयमी किसी कार्यमें आकुलित हों, आहार करते हों, मलमूत्र बाधा दूर करते हों, सोये हुए हों, किसी दूसरी ओर मुख किये बैठे हों, तब वैसी स्थितिमें बंदना नहीं करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय बंदनीय संयमी बंदनाके पात्र नहीं रहते हैं, नहीं, वे बंदनीय पात्र तो सदैव रहते हैं, परंतु बंदनाका योजन इतना है कि उन्हें विशिष्टपुरुष समझकर महत्त्व देना एवं उनकी आत्मामें अपनी ओरसे धर्मबुद्धि एवं नम्र सरल परिणाम प्रगट हों वैसे भावोंको प्रदर्शन करना, यह बात बिना उनके उपयुक्त चित्त हुए नहीं बन सकती, इसलिए जिस समय उनका अपनी ओर चित्त उपयुक्त हो, शांत-चित्त होकर आसनपर अच्छी तरह बैठे हों उसी समय बंदना करना चाहिये वही बंदनाका उपयोगी समय है। मुनियों द्वारा आचार्य उपाध्याय आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यति प्रातःकाल देववन्दनाके पश्चात् वन्दना करने योग्य हैं, मध्यान्हमें भी सामायिकादि विधिके पश्चात् वंदनीय हैं। सायंकाल भी प्रतिक्रमादि विधिके पश्चात् वंदनीय हैं। तथा जिस समय कहींसे आचार्य आते हों, कहीं जाते हों, तब भी उन्हें वंदना करना चाहिये इसप्रकार णमो अरिहंताणं इस वाक्यसे सामायिक दंडक करना चाहिये। थोसामि इस वाक्यसे चतुर्विंशतिस्तव–स्तव दंडक करना चाहिये। जयति भगवान् इस वाक्यसे अर्हत्सिद्धाचार्यादि वंदना करना चाहिये।

अब प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा जाता है–अपने किए हुए पापोंकी आलोचना करना, निंदा करना अर्थात् उन पापोंको आलोचनादि पश्चात्ताप द्वारा नष्ट करना प्रतिक्रमण कहलाता है। जो पाप मनसे वचनसे कायसे स्वयं होता है, दूसरेसे कराया जाता है, किए गए पापोंकी सराहनाकीजातीहै इन समस्त पापोंकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमणविधि करनेवाला निंदा करता है, मुझसे कौन कौन अपराध किस किस प्रकार बन पड़े हैं वे अपराध मेरे अब नष्ट हो जांय, मैं उन अपराधोंको कर तो चुका हूं परंतु अब मेरा आत्मा उनसे बहुत ही भयभीत हो रहा है, हे भगवन्! मेरे समस्त दोष नष्ट हो जांय। इसप्रकार भावोंको सरल एवं विशुद्ध बनाकर जो दोषोंका उल्लेख कर उन्हें दूर करनेके लिये आलोचना एवं दोषनिंदा पश्चात्ताप आदि किया जाता है उससे कर्मोंकी निर्जरा एवं दोषोंकी निवृत्ति होती है। कारण आत्मा को विशुद्ध बनानेसे ही पापोंकी निवृत्ति होती है, प्रतिक्रमणमें पापों से भीति होती है बिना आत्माशुद्धिके पापभीति एवं उनकी निंदा नहीं की जाती इसलिए उससे–आत्मशुद्धिसे पापनिवृत्ति होती है। प्रतिक्रमण सात समयोंमें किया जाता है, एक तो दिनभर का प्रतिक्रमण अर्थात् दिनभरके पापोंकी आलोचना की जाती है। एक रात्रिका प्रतिक्रमण–रात्रिभर के पापोंकी आलोचना की जाती है। इसी प्रकार पाक्षिक पंद्रह दिनका, चातुर्मासिक–चार महीनेका, सांवत्सरिक–एक वर्षका अर्थात् एक दिन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, इनमें होनेवाले पापोंकी आलोचना करना, ऐर्यापथिकईर्यापथद्वारा और उत्तमार्थ अर्थात् समस्त दोषोंकी आलोचना करते हुए शरीर छोड़नेमें समर्थ होकर चारों प्रकारके आहारका सर्वथा सदाके लिये त्याग कर देना। इन सात भेदोंसे प्रतिक्रमणमें उत्तरोत्तर विशेषता है। बाकी और भी जो भेद हैं दीक्षासे लेकर सन्यास मरणके ग्रहणकालपर्यंत जितने भी अतीचार दोष हैं वे इन्हीं ऊपर कहे हुए भेदोंमेंअंतर्भूत हो जाते हैं।

प्रतिक्रमणके भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावके भेदसे छह भेद हैं। पापयुक्त नाम, रागोत्पादक स्थापना, सावद्य—हिंसादि युक्त भोज्यादि वस्तुका उपयोग करनारूप द्रव्य इनका प्रतिक्रमण अर्थात् दोष निवृत्ति करना, क्षेत्र और कालसंबंधी होनेवाले दोषोंकी निवृत्ति करना, राग द्वेषरूप भावों की निवृत्ति करना—भावप्रतिक्रमण इसप्रकार छह भेद हैं।

इस प्रतिक्रमण विधिमें जो पापोंकी आलोचना करनेमें तत्पर साधु हैं वह तो प्रतिक्रमणक अर्थात् प्रतिक्रमण करनेवाला कहलाता है, जिन दोषों की आलोचना की जाती है वे प्रतिक्रम्य अर्थात् प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु कहलाती है। तथा जो पापोंकी निवृत्ति करना है वह प्रतिक्रमण अर्थात् प्रतिक्रिया कहलाती है। प्रतिमक्रण करनेवाले साधुको या तो सावधान—उपयुक्त चित्तसे स्वयं अपने किये हुए पापोंकी निंदा गर्हा आलोचनाका पाठ करना चाहिये अथवा आचार्यादिके द्वारा सावधान चित्तसे सुनना चाहिये। हां! मैंने यह दुष्ट अपराध किया है इसप्रकार चित्तमें भावना करना निंदा कहलाती है। उन्हीं दोषोंकी गुरुकी साक्षीसे आलोचना करना गर्हा कहलाती है। तथा गुरुसे ही निवेदन करना आलोचना कहलाती है। इसप्रकार पापों की निंदा गर्हा आलोचना करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। जिसप्रकार साधु—मुनि दोषोंकी आलोचना करके कर्मोंकी निर्जरा एवं आत्मीय शुद्धि करते हैं उसी प्रकार गृहस्थको भी अंशांशरूपसे करना चाहिये।

प्रत्याख्यानका स्वरूप इसप्रकार है—जो रत्नत्रयमें बाधा लानेवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामस्थापनादिक हैं उनका मन वचन कायसे रोकना, अर्थात् नामादिकसे होनेवाले पापोंको रोकना इसीका नाम प्रत्याख्यान है। जो पापकारणरूप नाम है उसे स्वयं नहीं करना, दूसरेसे नहीं कराना, और न करते हुएका अनुमोदन करना, यह नाम प्रत्याख्यान हैं। पापबंधके कारणभूत एवं मिथ्यात्वप्रवर्तक जो मिथ्या देव हैं उनकी स्वयं स्थापना नहीं करना, दूसरेसे नहीं कराना और करते हुएकी अनुमोदना नहीं करना, यह स्थापना प्रत्याख्यान है। जो पापयुक्त द्रव्य है अथवा जो निर्दोष होनेपर भी तपमें बाधा लानेवाला द्रव्य है, उसका स्वयं नहीं भोजन करना, दूसरे से नहीं कराना और करते हुएकी अनुमोदना भी नहीं करना, यह द्रव्य प्रत्याख्यान है। जिस क्षेत्रमें असंयमभाव उत्पन्न होता हो अथवा जिसमें संयमकी हानि होती हो उसका स्वयं छोड़ देना, दूसरेसे छुड़ाना, छोड़ते हुएकी प्रशंसा करना क्षेत्रप्रत्याख्यान है। इसीप्रकार जिसकालमें असंयमभाव होता हो उसे छोड़ना, छुड़ाना, छोड़ते हुएकी प्रशंसा करना कालप्रत्याख्यान है। तथा मन वचन काय एवं कृत कारित अनुमोदनासे मिथ्यात्वादि दुर्भावोंको छोड़ना भावप्रत्याख्यान है।

जो साधु अपराधोंको छोड़ देते हैं उनकी गंध भी नहीं सहन करते हैं, तथा शरीरसे भिन्न अपने अत्मातत्त्वको स्वीकार करते हैं, जो नाम स्थापना आदि शुद्धोपयोगमें कारण पड़ते हैं उन्हींको सेवन करते हैं वेही मोक्षमार्गके आराधक एवं प्रत्याख्यानकर्ममें सावधान हैं। तथा जो सचित्त, अचित्त, पापयुक्त, निर्दोष परिग्रहोंका परित्याग करते हैं, चारोंप्रकारके आहार का परित्याग करते हैं, जिनेंद्रदेवकी आज्ञा और आचार्योंकी आज्ञाके अनुसार ही सदा प्रत्याख्यानकर्म करते हैं वे प्रत्याख्यानकर्मकुशल साधु कहे जाते हैं। तथा जो दश प्रकार अनागत आदि प्रत्याख्यानोंको करते हैं वे प्रशंसनीय साधु हैं। अनागत आदि दश प्रकार प्रत्याख्यान इसप्रकार है— अपनी सामर्थ्यको विचार कर जो चतुर्दशी आदि पर्वोंमें करने योग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवास हैं उसे त्रयोदशी आदि तिथियोंमें भी करते हैं, यह अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है। अर्थात् पर्वके नहीं आने पर भी चतुर्विध आहारका परित्याग कर दिया जाता है। चतुर्दशी आदि पर्वोंमें उपवास कर लिया है फिर चतुर्दशी आदि पर्वोंके निकलने पर पूर्णिमा आदि तिथियोंमें भी जो उपवास करते हैं यह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है। अर्थात् पर्वके अतिक्रांत-बीतने पर भी जो चार प्रकारके आहारका परित्याग कर देना वह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

प्रतिदिन यह संकल्प करना कि यदि स्वाध्यायकी समाप्ति करनेपर सामर्थ्य होगी तो उपवास ही कर डालूंगा, यदि सामर्थ्य नहीं होगी तो नहीं करूंगा, इसप्रकाकार संकल्प करना कोटीयुत प्रत्याख्यान है। सामर्थ्य का निरीक्षण करके जो पंद्रह दिन एक महीना आदिका उपवास धारण कर लिया जाता है वह अखंडित प्रत्याख्यान कहलाता है। सर्वतोभद्र कनकावली आदि विशेष व्रतविधानोंमें उपवासका धारण करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है। जो स्वेच्छापूर्वक कभी भी उपवास धारण किया जाता है वह निराकार प्रत्याख्यान कहा जाता है। कभी छह दिनका उपवास धारण करना, कभी आठ दिनका, कभी दश दिनका इसप्रकार कालका परिमाण करके जो उपवास धारण किया जाता है वह परिमाण प्रत्याख्यान कहा जाता है। जो यावज्जीव चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है वह इतरत् प्रत्याख्यान कहा जाता है। मार्गमें गमन करते समय, नदी जंगल आदिमें दीक्षा लेते हुए उपवास धारण कर लेना वर्तनीयात प्रत्याख्यान कहा जाता है। किसी उपसर्गके उपस्थित होने पर अथवा अंतरायविशेषके उपस्थित होनेपर जो उपवास धारण कर लिया जाता है वह सहेतुक प्रत्याख्यान कहलाता है। इसप्रकार दश भेदोंसे प्रत्याख्यान किया जाताहै। कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग पर्यायवाची शब्द हैं। जिसमें शरीरसे ममत्व छोड़कर किसी आसन विशेषसे ध्यान किया जाता है वह कायोत्सर्ग कर्म कहा जाता है। मोक्ष की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहना रखनेवाले, निद्राको जीतनेवाले, इंद्रियोंको वशमें रखनेवाले एवं परिमाणोंको विशुद्ध रखनेवाले सूत्राशयोंकोजाननेवाले, सामर्थ्य विशेष रखनेवाले, आत्माको कषायोंसे रहित शुद्ध रखनेवाले, बलशाली अर्थात् आहारादि वाह्य बलवर्धक सामग्रीविशिष्ट, दोनों भुजाओंको लम्बायमान रखनेवाले, तथा चार अंगुलके अंतरसे दोनों पैरोंको रखनेवाले मुनि जिस-समय निश्चल बनकर ध्यानमें स्थिर होते हैं उस समय कायोत्सर्ग ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। यह कायोत्सर्ग भी नाम स्थापना आदि भेदों से छहप्रकार है। पापमुक्त नामसे होनेवाले पापकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग होता है वह नाम कायोत्सर्ग है, इसीप्रकार स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावजनित, पापोंकी निवृत्ति एवं आत्मविशुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नामादि कायोत्सर्ग कहा जाता है। कायोत्सर्गमें हस्त ताद् नेत्र ओष्ठ भ्रकुटि आदि सर्वांग निश्चल बना लिया जाता है, विना सर्वांगके निश्चल किये कायोत्सर्ग ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। कायोत्सर्ग पापोंकी निवृत्ति, तपकी वृद्धि कर्मोंकी निर्जरा आदि बातोंकी सिद्धिके लिये किया जाता है। कायोत्सर्गका जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है। एक आवलिसे ऊपर और मुहूर्तसे एक समय कम समयका नाम अंतर्मुहूर्त है। आवलिमें भी असंख्यात समय होते हैं और अंतर्मुहूर्तमें भी असंख्यात सयय होते हैं, कायोत्सर्गका उत्कृष्ट काल एक वर्ष है। यद्यपि ध्यानका समय अंतर्मुहूर्त ही उत्कृष्टकहा गया है परन्तु यहांपर शरीरसे ममत्व छोड़कर एक आसन विशेषसे ध्यान लगानेका नाम कायोत्सर्ग है उसमें अनेक ध्यान हो जाते हैं। एक ध्येयके अवलंबनसे एक परिणाम की स्थिरता अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रह सकती, इसलिये उत्कृष्ट कायोत्सर्गमें अनेक ध्येय एवं परिणामश्रृंखलाऐं बदल जाती हैं। अंतमुहूर्तसे ऊपर और एक वर्षके भीतर जितने समय हैं, दिन, रात, पक्ष, मासादि, वे उसके मध्यम भेदमें परिगृहीत किये जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' इन दो पदोंका उच्चारण करनेमें एक उच्छ्वास होता है। 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं' इन दो पदोंके चिंतवनमें एक उच्छ्वास, 'णमो लोए सव्व साहूणं' इन पदोंके उच्चारण में एक उच्छ्वास, इसप्रकार नौ बार पूर्ण नमस्कारमंत्रका उच्चारण अथवा अंतर्जल्प करनेसे सत्तावीस उच्छ्वास हो जाते हैं। इतने ही समयमें आत्मा कायोत्सर्ग करनेसे संसारबंधनको नष्ट करनेमें समर्थ हो जाता है। इन उच्छ्वासोंकी विधि, स्वाध्याय, अर्हद्भक्ति आदि सर्वत्र परिगणनीयी है। कायोसर्गमें स्थित होनेपर यदि कोई उपसर्ग देव मनुष्य तिर्यचों द्वारा किया जाय तो उसे सहन करना चाहिये। वैसी अवस्थामें कर्म आत्मासे हटते चले जाते हैं। अंतमें समस्त कर्मोंसे निर्मुक्त होकर आत्मा केवलज्ञान बन जाता है। इसप्रकार इन षट्कर्मोंको पूर्णतासे मुनिगण करते हैं, इस लिए उन्हींकी प्रधानतासे इनका उल्लेख किया गया है।

गुप्तित्रय

सम्यग्दंडो वपुषः सम्यग्दंडतथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दंड गुप्तित्रितयं समनुगम्यं ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(वपुषः सम्यग्दंडः) शरीरको भले प्रकार वशमें रखना, (तथा वचनस्य च सम्यग्दंडः) उसीप्रकार वचनको भी पूर्णतासे वशमें रखना, (मनसः सम्यग्दंडः) मनको भी अच्छी तरहसे वशमें रखना, (गुप्तित्रितयं) ये तीन गुप्तियां (समनुगम्यं) अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—गुप्ति नाम गोपनका है, अर्थात् छिपानेका है, मन वचन काय इन तीनोंकी प्रवृत्तिको छिपाना चाहिये। इनका पूर्ण छिपाना—संयमित रखना तभी हो सकता है जब कि इन तीनोंकी प्रवृत्ति सर्वथा रोक दी जाय, इसलिए जहांपर कायको निश्चल बना दिया जाता है, वचनसे कुछ भी उच्चारण न करके मौनावलंबनकिया जाता है। मनको ध्यानस्थ लक्ष्यसे भिन्न कहींपर नहीं जाने दिया जाता है वहींपर गुप्तियोंका पालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। जहां कुछ अंशोंमें भी तीनों योगोंकी प्रवृत्ति रहती है वहां गुप्तिका पालन नहीं कहा जाता। इसलिए ध्येयमें निमग्न होनेके लिये पूर्ण साधन गुप्तिपालन है। मुनिमहाराज इन्हें पालते हुए ही ध्यानसिद्धि करते हैं।

पंच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

अन्वयार्थ–(सम्यग्गमनागमनं) अच्छी तरह पृथ्वीको एवं जीवोंके संचारको देखकर कहीं जाना और आना (**साम्यभाषा**) हित मित सत्य बोलना (तथा सम्यक् एषणा) और भले प्रकार निरंतराय भोजन ग्रहण करना (सम्यक्ग्रहनिक्षेपौ) उत्तम रीतिसे-जीवोंके संचारको देख भालकर वस्तुओंका उठाना और धरना (सम्यक् व्युत्सर्गः) जीवबाधारहित-निर्जीव पृथ्वीमें मलमूत्र क्षेपण करना (इति समितिः) इसप्रकार इन पांच समितियोंका पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग ये पांच समितियां हैं। इनके विना पाले मुनिलिंग दूषित होता है, इनका पालन करना मुनियोंके लिये अत्यावश्यक है। जहां तक दृष्टिकी पूर्ण निरीक्षणता हो सकती है वहींतक पृथ्वीको सावधानीसे देखकर आगे चलना चाहिये, ऐसा पूर्ण निरीक्षण चार हाथ हो सकता है इसलिये चार हाथ पृथ्वीको देखकर चलना ईर्यापथ गमन कहलाता है। हित मित साधु बोलना भाषा समिति कहलाती है, निरंतराय शुद्ध भोजन ग्रहण करना एषणा समिति कही जाती है। देखकर शास्त्र पीछी कमंडलु उठाना और देखकर ही उन्हें रखना अदाननिक्षेपण समिति कही जाती है तथा देखकर निर्जीव स्थानमें मल मूत्र क्षेपण करना व्युत्सर्ग समिति कही जाती है। इन पांच समितियोंको मुनिमहाराज तो सर्वथा पालनमें समर्थ हैं परंतु श्रावकको भी उनका एकदेश पालन करना चाहिये। समितियोंके पालन करनेसे बहुत कुछ जीववधके पापोंसे निवृत्ति हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश धर्म

धर्मः सेव्यः क्षांतिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यं ।
आकिंचन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अन्वयार्थ—(क्षांतिः) क्षमा मृदुत्वं मार्दवभाव—कोमल परिणाम रखना [ऋजुता च] मायाचार का अभाव-सरल परिणाम [शौचं] लोभकषायका त्याग-पवित्रता [अथ सत्यं] इसके अनंतर सत्य वचन बोलना [आकिंचन्यं] परिग्रहरहित वृत्ति रखना [ब्रह्म] ब्रह्मचर्य धारण करना [त्यागश्च] दान देना [तपश्च] तप धारण करना [संयमश्च] संयम धारण करना [इति धर्मः सेव्यः] इसप्रकार धर्म सेवन करने योग्य है।

विशेषार्थ—धर्म दशप्रकार है, क्रोधकषायको छोड़ना एवं शांत परिणाम रखना उत्तम क्षमाधर्म है, किसी सांसारिक वासनासे नहीं किंतु धर्मबुद्धिसे क्रोधको परित्याग करना चाहिये इसलिये उत्तम विशेषण दिया गया है। मान कषायका त्याग करना इसीका नाम मृदुता है। विना मानकषायके छोड़े परिणामोंमें कोमलता नहीं आ सकती इसलिये दान, पूजा, कुल, जाति, बल, विभूति, चारित्र, शरीर इन आठ प्रकारके घमंडोंको छोड़कर आत्माके परिणामोंको सरल बनाना चाहिये। इसीका नाम मार्दव धर्म है। मायाकषायका त्याग करना आर्जव धर्म है। जबतक आत्मामें मायाचारका सद्भाव रहता है तबतक वह कभी सरल नहीं बनता किंतुहरप्रकारकी कुटिलता धारण करता है। उससे निरंतर पापसंचय करता है, इसलिये मायाचारको छोड़कर सरल वृत्तिसे रहना इसीका नाम आर्जव है। लोभकषाय का त्याग करना शौचधर्म है। पवित्रताका नाम ही शुचिता है। वह एक अभ्यंतरकी होती है और एक वाह्यमें। अभ्यंतर पवित्रता निर्लोभ परिणामों से आती है। जबतक आत्मा लुब्ध रहता है, तबतक वह मलिन रहता है, लोभके परित्याग किये बिना परिणामोंमें उज्ज्वलता नहीं आती है। इसलिये लोभकषायको छोड़ना अभ्यंतर पवित्रता है और स्नानादि शुद्धिसे शरीरको पवित्र बनाना वाह्यपवित्रता है। जहां दोनोंप्रकार की पवित्रताओंका पालन होता है वहीं शौच धर्म पलता है। शंका हो सकती है कि मुनिमहाराज तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नान करते नहीं हैं वे फिर बाह्यपवित्रता कैसे प्राप्त करते हैं ? इसका उत्तर यह है–सफाई और शुद्धिमें बहुत बड़ा अंतर है। मुनियोंका शरीर धूलि आदिसे धूसरित भले ही रहता है परंतु वह अशुद्ध नहीं रहता, अशुद्धि की संभावना किन्हीं अस्पृश्य–नहीं छूने योग्य पदार्थों के स्पर्शसे होती है, ऐसी संभावना और योग्यता व्यवहार कार्यमें फंसे हुए गृहस्थको ही हो सकती है। जिन्होंने सभीप्रकारकी गार्हस्थ्य वृत्तिका त्याग कर निर्जन जंगल में निवास किया है। और वस्त्रादि पदार्थों का संबंध छोड़ दिया है, उन मुनियोंको वैसी अशुद्धताकी योग्यता नहीं है। यदि किसी कारणवश गमनागमनसे किसी अशुद्ध पदार्थका उनसे संसर्ग हो भी जाता है तो वे अपने कमंडलुके जलसे मंत्रधारा द्वारा अपने शरीरको स्वल्प विंदुओंसे पवित्रकर लेते हैं। इसलिये अशुद्धिके संसर्गसे वेष्टित यह गृहस्थ ही दिन रात अशुद्ध बन सकता है, उसीके लिये स्नानादि शुद्धियोंकी आवश्यकता है, मुनियोंको नहीं। फिर भी आवश्यकता होनेपर मुनिमहाराज भी बाह्यशुद्धि करते हैं, इसप्रकार बाह्यशुद्धि और अंतरंगमें लोभकषायका त्याग करनेसे अभ्यंतर शुद्धि रखनेसे शौचधर्मका पालन किया जाता है। सत्यधर्म तो प्रसिद्ध ही है, उसका विशेष व्याख्यान करना अनावश्यक है। यथार्थ वस्तुका अप्रमाद परिणामोंसे प्रतिपादन करना सत्य है। उसका पालन हित मित एवं साधु वचनोंसे होता है। संसारमें सभी पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं, आत्माका कुछ भी नहीं है, परपदार्थमात्र आत्मासे पर है इसलिये परिग्रहोंका छोड़ना निष्परिग्रह वृत्ति धारण करना आकिंचन्य धर्म कहा जाता है। इस धर्मके पालनमें निर्ममत्व परिणामोंके सम्हालकी पूर्ण आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य धर्मका माहात्म्य अपरंपार है। उत्तम ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं कि जहांपर आत्मा बाह्य पदार्थों से उपयोग हटाकर केवल आत्मामें चरण करता है लवलीन होता है। उसकी सिद्धि तभी हो सकती है जब कि आत्मा हरप्रकारसे कामवासनाको रोकनेमें समर्थ होता है। कामवासनाको रोकनेके लिये स्त्री-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रका त्याग एवं मन वचन कायसे विकारमात्रका त्याग होना परम आवश्यक है। जो काष्ठ मिट्टी आदिके चित्रोंसे विकार उत्पन्न हो सकता है वह भी ब्रह्मचर्यका विघातक है इसलिये जहांपर पूर्ण निर्विकार वृत्ति धारण की जाती है, वहीं ब्रह्मचर्य धर्मका परिपालन होता है। ऐसा सर्वदेशपूर्ण ब्रह्मचर्यधर्म मुनिगण पालन करते हैं। श्रावक भी इसे पाल सकता है। जो परस्त्री आदि अन्य समस्त काम विकारों के त्यागी हैं, केवल अपनी विवाहिता स्त्रीमात्रमें संतोषित वृत्ति रखते हैं वे भी एकदेश ब्रह्मचर्य व्रतके पालक हैं। ब्रह्मचर्य धर्म ही एक ऐसा धर्म है कि इसके पालन किये बिना किसीप्रकार कोई व्रतसंयम नहीं पाला जा सकता इसलिये इस धर्मका पालन करना सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रथम आवश्यक है। दान देना त्यागधर्म है। मुनियोंके पास दातव्य द्रव्य नहीं होनेसे उनके दान कैसे सिद्ध हो सकता है? इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि वाह्य दातव्य पदार्थ भले ही उनके पास नहीं होते तो भी अंतरंगमें लोभपरिणामोंका परित्याग उनके हो चुका है, वे सर्वस्व ही परोपकारार्थ लगा चुके हैं एवं जो कुछ ज्ञानचारित्र धन-आत्मीय धन उनके पास है उसे भी वे परोपकारार्थ लगाने में सदा तैयार रहते हैं। इसलिये सबसे उत्तम त्यागी हो सकते हैं तो तपोधन मुनि ही हो सकते हैं। श्रीराजवार्तिककारने त्यागका अर्थ परिग्रहत्याग किया है और आकिंचन्यकर अर्थ ममका बुद्धिका त्याग बतलाया है। तपके बाहर भेद हैं जिनका निरूपण पहिले किया जा चुका है, जिसप्रकार अग्नि संचित ईंधनको जला देती है उसीप्रकार तप भी संचित पुण्य पाप रूप कर्म को जलाकर आत्माकोशुद्ध बनाता है अथवा देह और इंद्रियको तपानेमें सामर्थ जो है उसे तप कहते हैं। संयमके अनेक भेद हैं, व्रतोंका पालन करना समितियोंका धारण करना, कषायोंका निग्रह करना, मन वचन काय को वशमें रखना, इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना, इत्यादि मार्गोंका अनुसरण करनेसे संयम पाला जाता है। मुख्यतासे संयमकी प्रवृत्ति वहीं होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है जहां प्राणिरक्षण, और इंद्रियविजय किया जाता है, संयममें इन्हीं दो बातोंकी मुख्यता रहती है। इसप्रकार दश भेद धर्मके हैं, इन्हें अवश्य धारण करना चाहिये।

द्वादश अनुप्रेक्षा

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अन्वयार्थ—[अध्रुवं] संसारमें कोई वस्तु स्थिररूपसे सदा ठहरनेवाली नहीं है [अशरणं] संसारमें कोई किसीका शरणभूत नहीं है, [एकत्वं] जीव अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरता है सबकुछ सुख दुःख अकेला ही भोगता है, [अन्यता] जीव समस्त वस्तुओंसे भिन्न है, औरों की तो बात क्या शरीरमात्रसे भी भिन्न है. [अशौचं] यह शरीर महा अपवित्र है, इसमें पवित्रताका लेशमात्र भी नहीं है। [आस्रवः] संसारी जीवके प्रतिक्षण अनंतानंत कर्मोंका आगमन होता रहता है, कोई क्षण ऐसा नहीं है जिस समय इसके अनंतानंत वर्गणाओंका पिंडस्वरूप-समयप्रबद्ध नहीं आता रहता है। इसी कारण यह आत्मा नाना दुःखोंको भोगता रहता है। [जन्म] यह जीव संसारमें कर्मोंके उदयसे चारों गतियोंमें जन्म लेता रहता है। द्रव्य क्षेत्र कालादिरूपसे नरक गतिके अपार दुःखोंको यह जीवात्मा तैंतीस सागर ही नहीं किंतु अनेक तैंतीस सागरों तक भोगता रहता है, नरकगति ही एक ऐसी गति है जहांसे निकलनेकी अभिलाषा इस जीवके निरंतर लगी रहती है, अन्य गतियोंमें यह बात नहीं है, अन्य जिन गतियों में जीव जाता है दुःखी रहनेपर भी वहीं रहनेकी इच्छा रखता है। इसीप्रकार तिर्यञ्च मनुष्य एवं देवगतियोंमें भ्रमण करता हुआ कभी शांतिलाभ नहीं कर पाता है। यही इसे संसार लगा हुआ है। [लोकबृषबोधिसंवरनिर्जराः] लोक-अनुप्रेक्षा, धर्म-अनुप्रेक्षा, रत्नत्रय अनुप्रेक्षा, संवर-अनुप्रेक्षा और निर्जरा अनुप्रेक्षा ये बारह अनुप्रेक्षायें [सततं अनुप्रेक्ष्याः] निरंतर चिंतवन करने योग्य हैं।

विशेषार्थ—इन बारह भावनाओंके भानेसे बुद्धि संसारसे एवं शरीर कुटुम्ब आदि सभी बाह्य पदार्थोंसे उदास होकर रत्नत्रय एवं धर्मकी ओर झुक जाती है, वहीं दृढ़ हो जाती है, आत्मामें जब यह विवेक जागृत होता है कि संसारमें कोई पदार्थ सदा स्थिर नहीं रहता सभी नयेसे पुराने हो जाते हैं और जो पुराने हैं वे उस पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं, सभी अनित्य हैं, क्षणविनश्वर हैं तब आत्मा समस्त बाह्य पदार्थोंसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ममत्वभाव दूर करनेमें समर्थ हो जाता है, इसीप्रकार यह समझता है कि संसारमें मेरा कोई भी शरण नहीं है, मरनेसे कोई देव, इंद्र या शक्तिविशेष मुझे बचानेमें समर्थ नहीं है, इंद्रादिक अपनी भी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे क्या बचावेंगे, तब आत्मा निर्भीक बनकर मरनेसे नहीं डरता है एवं आत्माको ही अजर अमर समझने लगता है। यद्यपि इसप्रकारकी समझ सम्यग्दृष्टिमात्रकी हो जाती है फिर भावनाओंके भानेसे यही प्रयोजन है कि उसप्रकारकी दृढ़ता एवं संसारसे उदासीन होनेकी प्रबलता हो उठती है, साथ ही वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान सदैव जागृत बना रहता है। एकत्व भावनामें आत्माकिसी दूसरेकी साथी नहीं समझता है, अपने आत्माको ही कर्मों के फलोंका भोक्ता समझता है। अन्यत्वभावनामें वह अपने आत्मासे समस्त पदार्थों को भिन्न समझता है, यहांतक कि शरीरको भी अपनेसे जुदा समझता है फिर कुटुम्ब संपत्ति आदिकी तो बात क्या है ? अशौच भावना में शरीर से विरक्ति होती है, शरीरको वह मलमूत्रका घर समझता है, घृणास्थान समझता है उससे सरागभाव छोड़नेमें समर्थ होता है। आस्रव-भावनामें कर्मों का स्वरूप एवं उसके प्रतिक्षण आनेका विचार कर उसे रोकनेका यत्न करता है। संसारभावनामें संसारसे उदासीन हो जाता है। चतुर्गतिके दुःखोंसे घबड़ाकर एवं उन्हें त्याज्य समझकर मोक्षप्राप्तिके उपाय में संलग्न हो जाता है। लोक भावनामें लोकका स्वरूप चिंतवन करता है, लोक चौदह राजू ऊंचा है, सात राजू मोटा, नीचे सात राजू चौडा, मध्यमें क्रमसे घटते घटते एक राजू चौड़ा ऊपर बढ़ते बढ़ते स्वर्गों के बीचमें पांच राजू चौड़ा और सिद्धशिलाके ऊपर लोकांतमें एक राजू चौड़ा है। वह लोक घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय इन तीन वलयोंसे वेष्टित है, प्रत्येक वलय बीस बीस हजार योजन तक मोटे हैं, परंतु सर्वत्र एकसी मोटाई नहीं है कहीं कहीं कमती कमती मोटाई भी है। अर्थात् समस्त लोकका आधार घनोदधिवलय है, यह घनोदधि जलभागमिश्रित बहुत स्थूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायु है, जलभाग भी द्रवीभूत नहीं है किंतु घनात्मक है। घनोदधि, घनवात (केवलस्थूल वायुसमूह) पर स्थिर है, घनवात, तनुवात (सूक्ष्मवायु समूह) पर स्थिर है. सूक्ष्मवायु आकाशप्रदेश पंक्तिपर स्थिर है। आकाश व्यापक है, वह स्वयं अपना आधार है स्वयं ही आधेय है, उसका दूसरा कोई आधार नहीं है। जो लोग पृथ्वी को किसी कच्छपकी पीठपर या सर्पके फणपर अथवा गौके सींगपर रक्खी हुई बतलाते हैं वे मिथ्यावादी भ्रांत पुरुष हैं, ऐसी काल्पनिक बातोंकी सिद्धि युक्ति प्रमाणसे नहीं हो सकती। लोकका आकार पुरुषाकार है, जब कमरपर दोनों हाथ रखकर पुरुष खड़ा होता है तब ठीक लोकके स्वरूपसे उसका आकार मिल जाता है। नीचे भागमें लोक वेत्रासन-मूढाके आकार हैं, बीचमें-मध्यलोक थाली के आकार है, ऊपर लोक मृदंगके आकार है। जो लोग पृथ्वीको गोल कहते हैं और उसकी तुलना गेंद या नारंगीसे करते हैं वे भ्रमशील हैं, वैसीगोलाई सिद्ध नहीं हो सकती। जो लोग उसप्रकारकी गोलाई बतलाते हैं वे लोकका स्वरूप भी बहुत छोटा केवल आर्यक्षेत्रका एक हिस्सामात्र मानते हैं। कहां तो पांचसौ छव्वीस योजन छह कला प्रमाण भरतक्षेत्रका एक छोटासा अंश और कहां चौदह राजूप्रमाण लोक ? कितना अंतर है। क्या अंदाजसे लोकव्यवस्थाका स्वरूप बतानेवाले लोकके इतने विस्तृत स्वरूपका प्रत्यक्ष कर सके हैं ? फिर उनका कहना कैसे ठीक समझा जा सकता है ? दूसरे पृथ्वीको गोल माननेसे नरक स्वर्गव्यवस्था एवं मोक्षव्यवस्था कुछ भी नहीं बन सकती। कारण नरक पृथ्वीके नीचे भागमें पृथ्वीपर ही हैं वे वर्तमान गोल दुनियांसे बाहर समझे जांयगे या भीतर ? दोनों तरहसे नहीं सिद्ध हो सकते, इसीप्रकार स्वर्ग और मोक्ष व्यवस्था भी नहीं बनती यदि इन्हें न माना जाय तो कर्मफलका भोक्ता पुरुष नहीं सिद्ध होता। इसके सिवा जो युक्तियां पृथ्वीकी गोलाईमें पाश्चात्य (अंग्रेजी) विद्वानों द्वारा दी जाती हैं वे सब प्रत्यक्षबाधित हैं जैसे कहा जाता है कि पृथ्वी गोल नहीं हो तो समुद्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में एक दो मील जानेपर जहाजका मस्तूल कमती दीखने लगता है इसलिए सिद्ध होता है कि पृथ्वी ढालू होती गई है इसीलिये जहाज उस ढालू पृथ्वीमें छिपता जाता है, यह युक्ति पृथ्वीको गोल माननेवालोंके सबसे प्रबल समझी जाती है परंतु सिवा भ्रमबुद्धिके और कुछ नहीं है, इसप्रकार मस्तूलका कमंती दीखना सीधी जमीनमें भी होता है, अन्यथा पृथ्वीको ठीक पैमाने से मापकर समतल रखकर मील दो मील दूर पर खड़े होकर देखनेसे वहां भी मस्तूलका कुछ भाग ही दृष्टिगत होता है, सब मस्तूल नहीं दीखता। इसका कारण केवल दृष्टिदोष है, दृष्टिका स्वरूप ही यह है कि वह दूर स्थित पदार्थों को यथार्थरूपमें कभी नहीं जान सकती, यदि समुद्र में पृथ्वीको ढालू मानकर ही मस्तूलका कुछ भाग दीखना माना जाय तो फिर उस जहाजका फोटो लेनेवाले पूरे जहाजका फोटो उतर आना स्वीकार करते हैं वह बात कैसे बनेगी ? कारण उनके कथनानुसार पृथ्वी ढालू होने से जहाजका बहुभाग नीचे चला जायेगा फिर फोटो पूरे जहाज का नहीं आना चाहिये परंतु वह आता है। ऐसी अवस्थामें सिवा दृष्टि-दोषके और कुछ नहीं कहा जा सकता। दूसरी युक्ति गोल माननेवालोंकी ओरसे यह दी जाती है कि मनुष्य जहांसे गमन करता है सीधा सामने चले जानेसे घूमकर वहीं आ जाता है जहांसे चला था, यदि पृथ्वी गोल न हो तो घूमकर वहीं कैसे आ सकता है ? यह भी कोरा भ्रम है जिसे सीधा घूमकर वहीं आना बताया जाता है वह सीधा गमन नहीं है किंतु वह बगलू-वक्र गमन है। यदि वह सीधा गमन हो तो क्या पृथ्वीकी प्रदक्षिणा मनुष्य पूरी कर डालता है ? क्या पृथ्वीका परिमाण कुल इतना ही है जिसे कुछ कालमें ही मनुष्य पूरा कर डालता है ? यह सब भ्रामकबुद्धि पूर्ण कल्पना है। यदि पृथ्वीको गोल भी माना जाय तो प्रश्न होता कि जिसप्रकार पाश्चात्य विद्वान् पूर्व पश्चिम घूम आना बतलाते हैं उसीप्रकार क्या कोई पुरुष आज तक उत्तर दक्षिण भी गया है ? और क्या नीचे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलभाग प्रदेशमें किसी पुरुषका गमन शक्य भी है ? यदि नहीं है तो फिर उसकी गोलाईका प्रमाण किस आधारसे सिद्ध किया जाता है ? यदि पूर्व पश्चिम थोड़ी देरके लिये गोल भी पृथ्वी मान ली जाय तो उत्तर दक्षिणमें उसे गुड़की भेली एवं थालीके समान चकरी मानी जाय तो उसका निषेध एवं गोलाईकी पुष्टि वहां किस प्रबल युक्ति अवाधित प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है सो उन गोल पृथ्वी स्वीकार करनेवालोंको थोड़ा विचार करना चाहिये। जिसप्रकार पृथ्वीकी गोलाई प्रमाणयुक्तिबाधित है उसीप्रकार उसका भ्रमण करना भी प्रमाणबाधित है। उसीप्रकार उसकी आकर्षण-शक्ति भी युक्तिबाधित है। जहां गमन होता है वहां जलस्थिति स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि जल द्रवीभूत पदार्थ है वह हिलती हुई पृथ्वी पर चारों ओर फैल जायेगा, परंतु जलस्थिति बराबर एवं एक दिशा में गमन-शील देखी जाती है, इत्यादि अनेक बातें ऐसी हैं जो पृथ्वी की गति में पूर्ण बाधक हैं इसलिये पृथ्वी स्थिर है और सूर्य चंद्र आदि ज्योतिष्चक्र ही भ्रमण-शाली हैं। पृथ्वीमें आकर्षण माननेसे भी अनेक दोष आते हैं क्या उसका आकर्षण मध्य केंद्र परमाणुओंमें माना जायेगा या सर्वत्र या किसी खास प्रदेशों में ? यदि सर्वत्र है तो ऊपर से गिरा हुआ फल वहीं क्यों नहीं रुकता वह लुढ़क कर क्यों बढ़ जाता है। यदि केंन्द्रमें ही आकर्षणता है तो वहां से आगे पृथ्वी ढालू कर देने से डाली हुई वस्तु वहां नहीं रुकती किन्तु ढालू जमीन में चली जाती है सो नहीं होना चाहिये। इसीप्रकार अधिक परमाणुओं में आकर्षणता मानने पर भी ढालू पृथ्वी में वह बाधित हो जाती है और भी अनेक युक्तियां इन भ्रामक बातों को सिद्ध नहीं होने देतीं। इसलिये लोकव्यवस्था जैसी कुछ जैनागममें कही गई है वह सर्वज्ञदेव द्वारा कही गई है वही प्रमाणभूत है, लौकिक युक्तियां उस व्यवस्थाका बाधन नहीं कर सकती हैं किन्तु जितने अंशों में ठीक ठीक खोज होती जाती है उतने अंशोंमें जैनधर्मके अनुकूल ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुव्यवस्था सिद्ध होती जाती है। जितने अंशों में जैनधर्मके सिद्धांतों से प्रतिकूलता है उतने ही अंशोंमें वह खोज अधूरी एवं विपरीत है। अभीतक पाश्चात्य विद्वान् जो कुछ खोज स्थिर करते हैं, कालांतरमें उसे स्वयं गलत बतलाते हैं, उत्तर ध्रुव आदिका कभी कुछ पता लगाना, कभी उससे भी आगे उसकी खोज बताना, ये सब बातें उनके अधूरे और पूर्वापर विरुद्ध कथनकी सूचक हैं।

लोकके बीचमें चौदह राजू लम्बी एक त्रसनाली है उसीमें त्रस पाये जाते हैं, उससे बाहर त्रसोंका जन्म नहीं होता, स्थावर उससे बाहर भी हैं। इसी त्रस नालीमें नीचे नरक और भवनवासी तथा व्यंतर देवोंके भवन हैं, मध्यमें मनुष्य तिर्यंच और कुछ व्यंतरदेव हैं। मध्य लोकमें जम्बूद्वीपसे लेकर असंख्यात द्वीप और लवण समुद्रसे लेकर असंख्यात समुद्र हैं। किन्तु मनुष्य ढाई द्वीप तक ही रहते हैं आगे किसीप्रकार जा भी नहीं सकते। तिर्यंच आगे भी रहते हैं, एकलाख योजन जम्बूद्वीप है।वह गोल है उसे वेष्टित किये हुए लवण समुद्र है, वह उससे दूना है, वह भी गोल है। उससे दूना आगेका द्वीप, उससे दूना आगेका समुद्र इसीप्रकार द्वीप समुद्र क्रम से दूने दूने होते गये हैं। ये सब असंख्यात द्वीप, समुद्र एक राजूप्रमाण हैं, त्रस नाली एक राजूप्रमाण ही चौड़ा है यहांपर योजनका परिमाण दो हजार कोसका है। जितने भी अकृत्रिम पदार्थ हैं उनका माप बड़े योजनसे लिया जाता है। कृत्रिम वस्तुओंका माप छोटे योजनसे लिया जाता है वह योजन चार कोसका होता है। जम्बूद्वीप के एकसौ नब्बे समान टुकड़े करनेपर एक टुकड़े प्रमाण भरतक्षेत्र है वह पांचसौ छब्बीस योजन और छह कला अर्थात् एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भागप्रमाण है। इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वत और गंगा सिन्धु इन दो नदियोंके कारण छह खंड हैं जिनमें पांच म्लेच्छखंड हैं और एक आर्यखंड है, आर्यखंड में ही अयोध्या नगरी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें अनादिकालसे तीर्थंकर जन्म धारण करते आये हैं और करते रहेंगे । हुंडावसर्पिणीकालदोषसे वर्तमानयुगमें कुछ तीर्थंकरोंने अन्यत्र जन्म धारण किया था । इस अयोध्याके नीचे एक स्वस्तिक चिह्न है जो सदा अंकित रहता है । श्रीसम्मेदशिखर भी इसी आर्यखंडमें हैं जहां से अनंत तीर्थंकर (चौबीसी) और अनंत केवली मोक्ष जा चुके और जाते रहेंगे, उस तीर्थराज–सम्मेदशिखरके नीचे भी स्वस्तिक का चिन्ह है, वह भी अयोध्या के समान सदा स्थायी है । वर्तमानमें अमरीका, अफ्रीका, योरुप, एशिया, आदि ये जो महाद्वीप समझे जाते हैं वे सब इसी आर्यखंडमें शामिल हैं । भारतवर्ष चीन जापान ये सब ऐशियामें गर्भित हैं । आर्योंके अनेक भेद हैं, कोई आचरणकी अपेक्षा आर्य होते हैं, कोई केवल क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य होते हैं । अमरीका योरुप आदिके रहनेवाले और भारतवर्षमें रहनेवाले मुसलमान ईसाई आदि ये लोग केवल आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा आर्य हैं बाकी इनके आचार सब म्लेच्छोंके जैसे हैं । इसप्रकार भरतक्षेत्रका छठा खंड आर्यक्षेत्र है उसीके भीतर यह सब रचना है । ऐसी अवस्थामें वर्तमान खोज बहुत तुच्छ है फिर दुनियांका माप कल्पितकर उसे गोल बताना यह सब मिथ्या कथन है । लोक अनादिनिधन है उसकी समस्त रचना ज्यों की त्यों रहती है, केवल पर्यायोंकी पलटन होती रहती है किंतु भरतक्षेत्रके कुछ हिस्सेमें छठे कालके अंतमें प्रलय हो जाता है । वह प्रलय कालके परिणमनसे स्वयं होता है किसीका किया हुआ नहीं होता । प्रलयकालमें मनुष्य विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंमें, लवणसमुद्रकी वेदिकाके नीचे आदि स्थानोंमें चले जाते हैं, कुछ स्त्रीपुरुषोंको देवगण इधर उधर रख देते हैं कुछ प्रलयमें मर भी जाते हैं, जिन्हें देव रख देते हैं और जो स्वयं चले जाते हैं वे कुछ काल पीछे जब प्रलय होना रुक जाता है तब उस क्षेत्रमें फिर आ जाते हैं । प्रलय के पीछे जो रचना होती है वह भी स्वयं होती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह रचना किसी परमात्माद्वारा की जाती हो ऐसा जैनसिद्धांत नहीं स्वीकार करता, ऐसा मानना युक्ति प्रमाणसे बाधित है और न जैनसिद्धांत समस्त पृथ्वीकी सृष्टि और प्रलय होना ही मानता है। इस प्रकार लोकका स्वरूप चिंतवन कर वस्तुव्यवस्थाका एवं जीवोंकी स्थिति क्षेत्र आदिका यथार्थ बोध करना चाहिये। धर्म भावनामें धर्मका स्वरूप चिंतवन करना चाहिये। धर्मका लक्षण आचार्योंने वस्तुस्वभाव बतलाया है; 'वत्थुसुहावो धम्मो' जो जिस वस्तुका स्वभाव है वही उसका धर्म है; आत्माका स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र आदि गुण स्वरूप है इसलिये वे गुण ही आत्मा के धर्म हैं उनके स्वरूपका सदैव चिंतवन करनेसे उनमें अभिरुचि एवं दृढ़ता होती है। दूसरा धर्मका लक्षण—"चारित्तं खलु धम्मो" चारित्रको ही धर्म कहा गया है। यह लक्षण भी आत्माका वस्तुस्वभाव है। प्राप्तव्य मार्गकी मुख्यतासे चारित्रको प्रधानतासे कहा गया है। चारित्रसे सम्यक्चारित्रका ग्रहण है। यह चारित्र ही आत्मसिद्धिमें एवं मोक्षप्राप्ति में प्रधान कारण है। विना क्रिया रूप चारित्रका धारण किए और सातवें गुणस्थानसे भावरूप चारित्र धारण किए आत्मा वीतरागी नहीं बन सकता इसलिए चारित्र ही धर्म है वही उपादेय है। चारित्र सम्यग्दर्शनके विना होता नहीं, जहां सम्यग्दर्शन होता है वहां सम्यग्ज्ञान सुतरां हो जाता है इसलिए चारित्रको धर्म कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इनका ग्रहण स्वयं सिद्ध है। धर्म भावनामें धर्म्यध्यानका स्वरूप भी बिचारना चाहिये। यह ध्यान चतुर्थ गुणस्थानसे सातवें गुणस्थानतक होता है। आज्ञाविचय; अपायविचय, विपाक विचय और संस्थानविचय ये उस धर्म्यध्यानके चार भेद है। इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है। और भी धर्मोंकेउत्तम क्षमा आदिक जो दश भेद हैं उनका भी स्वरूप विचारना चाहिये। इसप्रकार धर्मभावनाका विचार करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोधि नाम रत्नत्रयका है, इस बोधिभावनाका चिंतवन इस रूपमें करना चाहिये कि संसार में आत्मा अनेक पर्यायोंमें इधर उधर सदा घूमता रहता है। चतुर्गतियोंमें नाना कष्टोंका सहन करता रहता है, परंतु विना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके इसे आत्मीय—सच्चे सुखका लेश भी नहीं मिल पाता, इसलिए जिसप्रकार हो रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। यदि एकवार भी इस जीवात्माको बोधिलाभ हो जाता है तो नियमसे उसकी मोक्ष होती है। बोधिलाभ संज्ञी, विशुद्ध, भव्य अंतःकोटाकोटी सागरोपमकर्मस्थितिके जीव के ही होता है ऐसे जीवके भी बहुत दुर्लभ है अच्छे निमित्त और सुसमागम मिलनेपर तथा काललब्धि मिलनेपर ही होता है। बोधिलाभ ही जीवकी निधि है, उसका प्राप्त करना प्रत्येक ज्ञानीका प्रथम कर्तव्य है। संवर भावनामें कर्मोंके रोकनेका विचार करना चाहिये, जिन कारणोंसे कर्म आते हैं उनके प्रतिपक्षी गुणोंके प्रगट होनेसे कर्म रुक जाते हैं, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनसे कर्मोंका आगमन होता है इनके विपरीत गुण—सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमत्तभाव, अकषायभाव और अयोगभाव इनसे कर्म रुक जाते हैं। चतुर्थगुणस्थानमें सम्यग्दर्शनगुण प्रगट हो जाता है इसलिए वहांपर मिथ्यात्वजनित कर्म आत्मामें नहीं आ सकते, दूसरे तीसरेमें भी नहीं आते, कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय पहले गुणस्थान में रहता है इसलिए वहींपर मिथ्यात्वकर्मजनित कर्मबंध होता है पांचवें गुणस्थानमें एकदेश विरतभाव है, छठे गुणस्थानमें पूर्ण विरतभाव है इसलिए उनसे नीचे ही अविरतजनित कर्मोंका बंध होता है। छठे गुणस्थानतक ही प्रमादजनित कर्म आते हैं, सातवें गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तभाव है वहां पर प्रमादजनित कर्मबंध नहीं होता। दशवें गुणस्थान तक कषायभाव रहता है, वहांतक कषायजनित कर्मबंध होता है उससे ऊपर अकषायभाव है इसलिए वहांपर कर्मजनितबंध नहीं होता, तेरहवें गुणस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक योगभाव है इसलिए वहांतक उस जनित कर्म आते हैं आगे अयोग-केवली—चतुर्दशगुणस्थान है; वहां आत्मामें कोई कर्म नहीं आता, इसप्रकार विपक्ष आत्मीय गुणोंके सद्भावमें कर्म रुकते हैं। यही संवरभाव आत्माको संसार समुद्रसे उद्धार कर मोक्षलक्ष्मीसे उसका संबंध कर देता है। निर्जरा भावनामें कर्मोंका किसप्रकार निर्झरण होता है, किन किन उपायोंसे कर्म छिपाये जा सकते हैं, इन्हीं सब बातोंका चिंतवन करना आवश्यक है। यद्यपि सामान्यरीतिसे सभी संसारी जीवोंके कर्म अपना फल देकर समयानुसार खिरते रहते हैं वह विपाक निर्जरा कहलाती है परंतु ध्यानी मुनिगण कर्मोंको असमयमें ही खिरा देते हैं, अपने तपोबलसे जिस कर्म की स्थिति १०० वर्ष है उसे १ वर्षमें ही खिरा देते हैं, उसी कालमें कर्म को उदयावलीमें ले आते हैं, उसका जो कुछ परिपाक है उसे उसी काल में भोग लेते हैं, ऐसी असामयिक निर्जराको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसी प्रकार अविपाक करते करते योगीगण बहुत कर्मोंका भार हलका कर डालते है पश्चात् कुछ ही कालमें समस्त कर्मोंको निर्जीर्ण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं इसप्रकार इन बारह भावनाओंका चिंतवन करनेसे आत्मा परपदार्थसे हटकर अपने निजरूपमें रमण करने लगता है।

परीषह जय

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमंगमलं ॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या बधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततं।
संक्लेशमुक्तमनसा सक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ- (क्षुत्तृष्णा) क्षुधा पिपास-भूख प्यास (हिमोष्णं) शीत और गरमी (नग्नत्वं) वस्त्रादि रहित नग्न शरीर (याचना) चाहना या मांगना (अरति) किसी अनिष्ट वस्तु से अरुचि (अलाभ) आहारादि का लाभ नहीं होना (दंशो मशकादीनां) डांस मच्छर बीछू ततैया सर्प आदि द्वारा काटना (आक्रोशः)क्रोध करना(व्याधि दुखं] शरीर में किसी रोग होने से दुख होना (अंग मलम्) शरीर में मिट्टी लिपट जाय मल और पसीना आजाय (स्पर्शश्च तृणाहीनां) तिनका कांटा काँच सुई आदि चुभ जाय (अज्ञानं) बार २ बनाने समझाने पर भी ज्ञान नहीं होना (अदर्शनं) वस्तु का स्वरूप दर्शन नहीं होना [प्रज्ञा] श्रुतिज्ञान अवधि ज्ञानमनःपर्ययज्ञान होने पर भी [सत्कार पुरुस्कारः] अनेक रिद्धियां और ज्ञान बढ़ने पर भी सत्कार [आदरभाव] [शैया] कांटा पत्थर वाली जमीन में शयन करना [चर्या] चलने में कोई बाधा आ जाय [बधो] कोई मारै या बांधे या जान से मार डाले [निषधा] बैठने में कोई बाधा आ जाय [स्त्री] स्त्रियों का देखना आदि अथवा कोई स्त्री रंजायमान करे । [द्वाविंशति] बाबीस [एने परिषोडव्या परिषहाः] ये बाबीस परीषह सहन करना [सततं] निरंतर [संक्लेशयुक्तमनसा] क्लेश रहित मन से [संक्लेश निमित्त भीतेन] संक्लेश के निमित्त कारण मिलने पर उनके भय से ।

विशेषार्थ- संसारी राग द्वेषी प्राणी जिन बाईस बातों में मग्न रहता है । और उन बाईस बातों को सहन करने में असमर्थ बन जाता है और क्षुधा प्यास आदि बाधाओं के मिटाने के लिये अनेक आरंभ और उपाय करता है और उन उपायों से खोटे कर्म बांधना है । परन्तु नग्न दिगम्बर वीत रागी मुनिराज उन बाईस परिषहों को बिना खेदपूर्ण समताभाव और पूर्ण शांति से सहन करते हैं ! कोई प्रयत्न नहीं करते हैं । इसलिए वे परीषह विजयी साधु कहे जाते हैं और उन परीषहों के विजय से वे शुभोपयोग और शुद्धोपयोग से मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ बन जाते हैं ।

बाईस परीषहों का भिन्न २ उल्लेख-

क्षुधातृष्णा—मुनिराज अनेक उपवास भी करते हैं । ऐसी अथवा आहार ग्रहण करने के प्रारंभ में ही यदि अंतराय आ जाय तो आहार और जल भी ग्रहण नहीं करते हैं । ऐसी दशा में उन्हें भूख भी सताती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है प्यास भी जोर से लगती है परन्तु मुनिराज उसे कर्मोदय समझकर और उस भूख प्यास को शरीर का रोग समझकर उस भूख प्यास से थोड़ा भी खेद नहीं करते हैं। किन्तु निर्विकार भाव से उस बाधा को शांति और समाज भाव से सहन करने में ही आनंद मानते हैं। इसलिये भूख प्यास की बाधा पर विजय पाने में मुनिराज समर्थ हैं।

वास्तव में शरीर बिना भूख प्यास को दूर किये अधिक दिन ठहर नहीं सकता है। अन्न पानी का लेना अनिवार्य आवश्यक है परन्तु इंद्रिय विषयों में आनंद मानने वाले गृहस्थ दिन में रात में ५/६ बार स्वाद भोजन करते हैं। वे शरीर को पुष्ट बनाना ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। परन्तु मुनिराज भी बिना आहार लिये शरीर की रक्षा करने में असमर्थ हैं, किन्तु वे आहार शरीर पोषण के लिये नहीं करते हैं, उनका लक्ष्य धर्म साधन और रत्नत्रय की साधना है इसीलिये वे नीरस शुद्ध भोजन दिन में एक बार ही करते हैं। फिर जल भी नहीं लेते हैं। सो भी बीच २ में २/४ और अधिक दिन उपवास करते हैं।

हिम उष्ण परीषह– जब भयंकर तीव्र शीत (ठंड) पड़ती है तब पोखर तालाब का जल भी जम जाता है फिर बरफ की हवा तेज चलती है उस समय सभी मनुष्य थर–थर कंपते हैं दाँत कड़कड़ाते हैं। ऐसी असह्य सर्दी में गृहस्थ लोग ऊनी वस्त्र रुई के वस्त्र पहनते हैं। रात्रि में रुई से भरी मोटी रजाई मोटा रुई से भरा गद्दा कंबल आदि ओढ़ते बिछाते हैं। परन्तु मुनिराज उस तीव्र सर्दी में भी नग्न रहते हुए चलते हैं रात्रि में काष्ठ के पटा पर या चटाई पर लेटते हैं। और ध्यान में लीन होकर उस ठंड की बाधा को समता और शांति से सहन करते हैं। शरीर से उन्हें ममत्व नही है। इस प्रकार हिम (शीत) परीषह को वे सहन कर विजयी कहलाते हैं।

इसी प्रकार गरमी की बाधा को भी वे शांति से सहन करते हैं। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीव्र गरमी पड़ती है तब गृहस्थ लोग बिजली के पंखे चलाते हैं कूलर लगाते हैं जिससे ठंडी हवा आती है शिमला आदि ठंडे स्थानों में जाते हैं। परन्तु मुनिराज उस तीव्र गरमी में मध्यान्ह में चलते हैं। पैर झुलसते हैं वे शरीर से ममत्व नहीं करते हैं। इतना ही नहीं मध्यान्ह में पहाड़ पर भी ध्यान करते हैं इसलिये वे उष्ण परिषह विजयी कहलाते हैं।

नग्नत्व—नग्न रहना लोक में लज्जा की बात कही जाती है। इसका कारण विकार है। काम वासना है। जब बालक ६।७ वर्ष का होता है तो अपनी जनेन्द्रिय को लंगोटी धोती पजामा पहनकर ढक लेता है। किंतु ३।४ वर्ष का बालक नंगा घूमता है उसके मन में विकार या वासना नहीं है इसलिये जो संसारी मनुष्य विकारी हैं काम वासना के वशीभूत हैं वे नंगा रहने में लज्जा मानते हैं। मुनिराज सभी इंद्रियों और मन पर निर्विकारता का अंकुश लगाकर अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उनके मनमें काम वासना का रंच मात्र भी विकार नहीं है। माता भगिनी पत्नी और पर की पत्नी सबों को एक निर्विकार रूप में ये मुनिराज देखते हैं। इसलिए जैसे छोटा बालक निर्विकार रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी विशुद्ध परिणामों से आत्म साधना में लीन रहते हैं। सच बात तो यह है कि निर्विकार नग्न साधु ही पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। और इन्द्रियों पर दमन करके अपने आत्म ब्रह्म का अनुभव करते हैं। इस प्रकार नग्न परीषह विजयी मुनि कहे जाते हैं।

याचना— मुनिराज अंतरंग और बहिरंग १४ प्रकार का सभी परिग्रह का त्याग कर चुके हैं। तब वे किसी से किसी प्रकार की चाहना या मांग नहीं किया करते हैं। इसलिए वे अपने सिर दाढ़ी मूछ के केश भी बिना खेद किये अपने हाथों से उखाड़ देते हैं। यदि नाई से बाल कटवाना चाहें तो गृहस्थ से उन्हें याचना मांग करनी पड़ेगी कि नाई को बुलाओ पैसा दो, ऐसा करना मुनियों की स्वतंत्रता में बाधक है। फिर जंगल में वन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हुए वे याचना की थोड़ी भी भावना नहीं करते हैं। केशों का उखाड़ना भी एक तप है। शरीर से ममत्व हटने पर ही केश उखाड़े जा सकते हैं थोड़ा भी शरीर से ममत्व हो तो केश उपाड़ने में भारी पीड़ा का अनुभव होने लगेगा। २माह ३माह ४माह में केशों का उपाड़ना भी आवश्यक है। यदि केश बढ़ने देवे तो दोष पैदा होंगे। एक तो यह कि उनके शरीर में जुँआ (कीड़ा) पैदा हो जायेंगे। उनकी रक्षा करना भी अशक्य हैं। आहार के समय हाथ में भी वे गिर सकते हैं तब मुनिराज को अंतराय हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि केश बढ़ने से शृंगार की वासना भी हो सकती है अतः केशों का उपाड़ना भी आवश्यक है। अतः याचना परीषह विजयी साधु कहे जाते हैं।

अरति- आहार में किसी वस्तु से—चाहे तीखी हो कटु हो या अरुचि कर हो तो मुनिराज नीरस या अनुकूल कैसा भी आहार हो परन्तु शुद्ध हो तो वे उसे ग्रहण करने में किसी प्रकार की अरुचि नहीं करते हैं। या अन्य कोई बात अरुचि की हो तो भी कोई अरुचि या द्वेष वे नहीं करते है अतः अरति परीषह विजयी कहे जाते हैं।

अलाभ——अनेक उपवास करने पर भी यदि मुनियों को अंतराय रहित शुद्ध आहार की योगाई नहीं मिले तो भी वे विना आहार किये लौट कर समताभाव से सामायिक में लीन हो जाते हैं। वे आहार नहीं मिलने पर कर्मोदय समझकर बड़ी शांति से अलाभ परीषह को जीतने में समर्थ रहते हैं।

दंश मशकादि——यदि मुनियों के शरीर को डांस मच्छर चींटा विच्छू सर्पआदि काट रहे हों तो वे उन्हें दूर नहीं करते और उनके काट लेने पर उसका कोई इलाज भी नहीं करते हैं। और मन में खेद भी नहीं करते हैं। उसका मूल हेतु यही है कि वे अपने शरीर से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह नही करते हैं। अतः दशमशकादि परीषह को शांति से सहन करते हैं।

आक्रोश—यदि मुनिराज को कोई गाली देवे या उन्हें मारे पीटे या जान से भी मार डाले तो वे उस दुष्ट मनुष्य पर थोड़ा भी क्रोध नहीं करते हैं। वे समझ लेते हैं कि मेरे कर्मों का उदय ही ऐसा है। यह विचारा अज्ञानी है। इसका उदाहरण सामने है। आचार्य महावीरकीर्ति महाराज पर पुरलिया (विहार) में कई दुष्ट लोगों ने लाठियां मारीं परन्तु महाराज उपसर्ग समझ कर ध्यान में मौन से बैठ गये। दैवयोग से वहाँ पुलिस सुपरिन्टेडेन्ट कार से आरहा था। उसने अपने सिपाइयों से उन आततताइयों को पकड़वा लिया परन्तु आचार्य महाराज ने कहा कि इनका कसूर नहीं है यह मेरे कर्मों का फल है आप इन्हें छोड़ दो। उनके प्रभाव से उन्हें छोड़ना ही पड़ा।

इसी प्रकार राजा खेड़ा (धौलपुर) में चरित्र चक्रवर्त्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज और उनके संघ पर आततताइयों ने हमला किया था, नंगे साधुओं को मारो, यह कहते हुये वे लोग संघ के निकट पहुँच रहे थे, वहाँ के जैनियों ने छतों पर चढ़कर पत्थर ईटें उन पर फेंके वे भाग गये परन्तु सबों का मुखिया छिद्दा ब्राह्मण को मेरे लघु भ्राता चि० श्रीलाल जौहरी (जयपुर) छत से कूद कर अपने प्राणों की परवाह नहीं करके उसे पकड़ कर पुलिस को सौंप दिया। परम पूज्य आचार्य महाराज ने उसे छोड़ने को कहा, पुलिस सुपरिन्टेडेन्ट उसे छोड़ना नहीं चाहते थे महाराज ने कहा उसे छोड़ दो नहीं तो हम आहार नहीं लेंगे। हमारे कर्मों का ही फल यह उपसर्ग है। अंत में उसे छोड़ना ही पड़ा। मुनिराज कोई जान से भी मारे तो भी आक्रोध नहीं करते हैं। आक्रोश परीषह विजयी होते हैं।

व्याधि दुखः—कर्मोदय से मुनियों के शरीर में कोई भी व्याधि रोग हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय तो उसे वे समता भाव शांति से सहन करते हैं शरीर से ममत्व नहीं रखते हैं। अतः भयंकर व्याधि जन्य दुःख से दुखी नहीं होते हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती वैराग्य होने से मुनि बन गये किन्तु उन्हें सारे शरीर में कोढ़ हो गया। देव ने उनकी परीक्षा करने के लिये वैद्यराज बनकर उन मुनिराज से पूछा कि आपका रोग मैं दूर कर दूंगा आप इलाज कराइये। तब मुनिराज ने कहा कि आप मेरा भीतरी रोग जन्म-मरण है उसे दूर कर सकते हो तो करो। तब देव ने अपना रूप बदल कर मुनिराज के चरणों में सिर रख कर उनकी भक्ति की और मोक्षगामी सच्चे साधु रत्न हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनि व्याधि दुख को दुख नहीं मानते हैं कर्मोदय समझकर उन परीषहों को शान्ति से जीतते हैं।

अंगमलः—मुनि स्नान नहीं करते हैं इसलिए उनके शरीर में पसीना और मल धूलि मिट्टी लग जाती है उसे वे दूर नहीं करते हैं। और न ग्लानि मानते हैं अतः अंममल परीषह विजयी हैं।

स्पर्श तृणादिकोंकाः—मार्ग में चलते हुए मुनियों के पैरों में कांटा लग जाय कांच या पत्थर का टुकड़ा लग जाय तो वे उन्हें निकालते नहीं हैं और न निकलवाते है। किन्तु शान्ति से उस कष्ट को सहन करते हैं अतः कंटकादि स्पर्श विजयी बन जाते हैं।

अज्ञानः—बार२ समझाने और बताने पर भी यदि मुनिराज को ज्ञान नहीं हो पाता है तो वे उस अज्ञान से खेद नहीं करते हैं किंतु जब क्षयोपसम होगा तब ज्ञान हो जायेगा ऐसा मानकर स्वाध्याय में आनन्द मानते हैं।

वर्तमान के मुनिगण

चतुर्थ काल के और पंचम काल के मुनियों की चर्चा में उनके विशुद्ध भावों में स्थूल रूप से कोई भेद नहीं है जो २८ मूल गुण मुनियों में चतुर्थ काल में होते हैं वे ही २८ मूल गुण पंचम काल के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनियों में होते हैं परन्तु चौथे काल के मुनियों के वज्र वृषभ नाराच संघनन होता था। उससे वे घोर तपश्चरण पहाड़ों नदियों के किनारे और निर्जन वनों में सिंहादि के बीच करते थे और उसी भव से मोक्ष जाते थे। आजकल के मुनि हीन संघनन होने के कारण उतना तपश्चरण करने की सामर्थ नहीं रखते हैं और जंगलों और पहाड़ों पर भी नहीं रह सकते हैं। इसलिये पूर्वाचार्यों ने वर्तमान मुनियों को नगर में उद्यान में धर्मस्थान में मंदिर में रहने का विधान किया है। परन्तु उनकी चर्या, विशुद्ध चारित्र और निष्परिग्रह समता आदि गुण वर्तमान मुनियों में भी वे ही हैं जो चौथे काल के मुनियों में पाये जाते हैं। हीन संहनन होने के कारण उसी भव से मोक्ष जाने की सामर्थ उनमें नहीं है इसलिये वर्तमान मुनियों में शुद्धोपयोग की पूर्ण पात्रता प्राप्त करने की योग्यता और पात्रता नहीं है। फिर भी वर्तमान के मुनिराज चतुर्थ काल के मुनियों के समान ही पूज्य एवं वंदनीय है श्रावकों का यह सौभाग्य है कि ऐसे देशकाल में जो विरोधी हैं फिर भी नग्नदिगम्बर साधु निर्भय होकर सर्वत्र विहार कर रहे हैं और श्रावकों को त्याग मार्ग का उपदेश देकर उनका कल्याण कर रहे हैं। जो जैनेतर राष्ट्र के मनुष्य है उन्हें भी सन्मार्ग एवं न्यायमार्ग में लगाते हैं अनुसूचित एवं दलित वर्ग से मांस मदिरा चोरी जुआ आदि का त्याग करा कर उनका भी परम हित कर रहे हैं।

आचार्य सोमदेव ने कहा है—

काले कलौ घले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
रामचित्रं यदद्यापि जिन रुपधराः नराः ॥

अर्थ-आज कलिकाल है जिसमें धर्म से विमुख लोग शिथिलाचारी और धर्म और धार्मिकों को बाधा पहुँचाते हैं। लोगों के चित्त भी चलायमान रहते हैं जिससे दृढ़ता से धर्म नहीं पालते हैं। और शरीर भी अन्न का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीड़ा वन गया है सुबह मध्याह्न शाम तक खाने पीने में लोग लगे रहते हैं ऐसे हीन हेरा काल में भी मुनिराज जो जिनेन्द्र भगवान के लघु नंदन कहे जाते हैं निर्भय होकर निरपेक्ष वृत्ति से सर्वत्र विहार कर रहें हैं यह आश्चर्य की बात है। ऐसे हीन संहनन में क्षुधा प्यास परीषह उपसर्ग, निंदा गाली तिरस्कार सब कुछ सहन करते हुए अपने समता भाव से स्वात्म साधना में वर्तमान मुनिगण लगे हुए हैं यह महान गौरव की बात है। ऐसे परम पूज्य मुनिराजों के पूत चरणों में बड़ी श्रद्धा भक्ति से नमस्कार करना उनकी स्तुति करना उन्हें विशुद्ध आहार देना उनकी वैयावृत्ति करना प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है।

कुछ लोग अपने को दिगम्बर जैन कहते हुए भी दिगम्बर नग्न साधुओं को द्रव्यलिंगी बताते हुए उनका तिरस्कार करते हैं यह उनका तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय है। जो उन्हें दुर्गतियों में ले जायगा। जो हो होनहार भी बलवान है। जो सच्चे लाखों रुपयों के रत्न को पाकर भी उसे काँच समझ कर फेंक रहे हैं। ऐसे लोगों को कहाँ तक समझाया जाय सब समझाना ऊसर वृष्टि के समान है। यदि किसी पुण्योदय से सद्बुद्धि हो जाय तो वे अपना कल्याण कर सकते है।

मुनिधर्म गृहस्थ को भी पालना चाहिये

इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता॥ २०९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (एतत् रत्नत्रयं) यह रत्नत्रय (प्रति समयं) हर समय (विकलं अपि) एकदेशरूपसे भी (निरत्ययां) अविनश्वर (मुक्तिं अभिलषता) मुक्तिको चाहने वाले (गृहस्थेन) गृहस्थ के द्वारा (अनिशं) निरंतरं (परिपालनीयं) अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—चारित्र के पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्राप्त करना तो परमावश्यक है ही, उसके पश्चात् प्राप्त करने योग्य सम्यक्चारित्र है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीवों की क्रियात्मक प्रवृत्ति ही आत्मा को अधोगति एवं ऊर्ध्वगति में ले जाने का कारण है, इसलिये परम उपकारी श्रीजैनाचार्य ने संसार की कारणीभूत क्रियाओं का निषेद और मोक्ष की कारणीभूत क्रियाओं का विधान किया है। यह श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र भी चारित्र ग्रंथ है इसलिये इसमें मुख्यता से चारित्र का ही निरूपण किया गया है। चारित्र के दो भेद हैं एक साक्षात मोक्षसाधक, एक परंपरा मोक्षसाधक। मुनियोंका चारित्र साक्षात् मोक्षसाधक है, उसका द्वितीय नाम सकलचारित्र है। गृहस्थका चारित्र परंपरा मोक्षसाधक है, उसका द्वितीय नाम विकलचारित्र है। इस शास्त्रमें मुख्यता से गृहस्थचार-श्रावकाचार का वर्णन है अर्थात् प्रथम ३० तीस कारिकाओं (श्लोकों) में सम्यग्दर्शनका कथन. उससे आगे छह कारिकाओं में छत्तीस कारिका तक सम्यग्ज्ञानका विवेचन, पीछे एक सौ साठ कारिकाओं में श्रावकों के चारित्र का निरूपण है। अंत में १२ बारह कारिकाओं में अर्थात् एकसौ सत्तानवे कारिकासे लेकर दोसौ आठवीं कारिका तक सकलचारित्रका निरूपण हैं। यद्यपि सकलचारित्रका पालन मुनियों के लिये प्रधान है वे ही उसे पूर्णता से पाल सकते हैं, इसलिये वे ही इस संसार समुद्र को पार कर मोक्षलक्ष्मी को पा लेते है। परंतु गृहस्थ भी मोक्षलक्ष्मी की इच्छा रखता है इसलिये उसे भी इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सकलचारित्र रूप सम्यक्चारित्रको पालन करना चाहिये। यदि वह गृहस्थाश्रम में रहने के कारण बाधकनिमित्तों के रहने से पूर्णता से संयमका पालन नहीं कर सकता है तो उसका एकदेश ही पालन करना चाहिये आचार्यवर्य श्री अमृतचंद्र सूरि के इस कथन से यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि जो चारित्र मुनियों के लिये कहा गया है उसका एक देश गृहस्थ को अवश्य पालना चाहिये। कारण जितने भी मुनियों के व्रत हैं वे त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा के लिये है मुनियों द्वारा उन जीवों की पूर्ण रक्षा की जाती है और गृहस्थों द्वारा आरंभजनित हिंसा नहीं रोकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकती इसलिये वे एकदेश व्रत का पालन कर सकते हैं। इसलिये जो व्रत मुनियों के हैं वे सब एकदेश रूप से गृहस्थों को अवश्य पालना चाहिये।

गृहस्थों को मुनिपद धारण करना चाहिये

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलंब्य मुनीनां कर्तव्यं सपदि परिपूर्णं॥ २१०॥

अन्वयार्थ—[नित्यं बद्धोद्यमेन] सदा प्रयत्नशील गृहस्थ के द्वारा [बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा] रत्नत्रय की प्राप्तिका समय पाकर [च] और [मुनीनां पदं अवलंब्य] मुनियों के पद को धारण कर [सपदि] शीघ्र ही [परिपूर्णं कर्तव्यं] संपूर्ण करना चाहिये।

विशेषार्थ – गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील बने रहें उद्योग करते करते रत्नत्रय प्राप्तिका समय प्राप्त करलें, पीछे मुनिपद धारण कर उस पाये हुए रत्नत्रय को शीघ्र ही पूर्णता से प्राप्त कर लें, बिना मुनिपद धारण किये रत्नत्रय पूर्णता से नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिये मुनिपद धारण करके मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करना प्रत्येक गृहस्थ का अंतिम ध्येय होना चाहिये।

रत्नत्रय कर्मबंधका कारण नहीं है

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतोवश्यं मोक्षोपायो न बंधनोपायः॥ २११॥

अन्वयार्थ—[असमग्रं] एकदेशरूप [रत्नत्रय भावयतः] रत्नत्रयको पालन करने वाले पुरुष के [यःकर्मबंधः अस्ति] जो कर्मबंध होता है [सः विपक्षकृतः] वह रत्नत्रयके विपक्षभूत राग द्वेषका किया हुआ है तथापि (अवश्यं मोक्षोपायः) वह नियमसे मोक्षका कारण भूत है [न बंधनोपायः] बंधनका कारण नहीं है।

विशेषार्थ—जो पुरुष एकदेश रत्नत्रय को धारण करता है उसके जो शुभ कर्मोंका बंध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता किंतु कर्मबंधके कारण—कषायभावों से ही होता है, क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का गुण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्माका गुण कर्मबंध करानेमें असमर्थ है। यदि आत्मीय गुणोंसे भी कर्मबंध होता हो तो सिद्ध कभी शुद्ध नहीं रह सकते हैं। इसलिये वह बंध भी रागरूप सकषायरूप परिणामोंसे ही होता है। इतना विशेष है कि राग दो प्रकार का होता है—एक शुभराग दूसरा अशुभराग। जिस आत्मा में रत्नत्रय प्रगट हो जाता है उसके अधिकतर शुभ राग रूप प्रवृत्ति रहती है रत्नत्रयधारी पुरुषका कर्मबंध मिथ्यादृष्टि पुरुषके कर्मबंधके समान संसार का कारण नहीं है किंतु परंपरा मोक्षप्राप्तिमें सहायक होता है कारण अशुभ प्रवृत्तिके निवृत्त होनेपर रत्नत्रयधारी पुरुषकी जो शुभरूप प्रवृत्तिहै वह शुद्ध परिणतिमें कारण हो जाती है, कालांतरमें उसके विशुद्ध परिणति उत्पन्न हो जाती है। परंतु वास्तवमें तो जितनें अंशमें कर्मबंध हैं उतने अंशमें जीवात्माका संसार है और जितने अंशमें रत्नत्रय है उतने अंशमें उसकी शुद्ध अवस्था है। इसी का नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

रत्नत्रय और रागका फल

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेनतु रागस्तेनांशेनास्य बंधनंभवति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति १२४ [त्रिभिर्विषकं]

अन्वयार्थ—[येन अंशेन सुदृष्टिः] जिस अंश से आत्माके सम्यग्दर्शन है। [तेन अंशेन] उस अंश से अर्थात् उस सम्यग्दर्शन द्वारा [अस्य बंधनं नास्ति] इस आत्मा के कर्म बंध नहीं होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कर्मबंध का कारण नहीं है। [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे रागभाव है, सकषायपरिणाम है [तेन अंशे] उस अंशसे अर्थात् उस सकषायपरिणाम है। [येन अंशेन ज्ञानं] जिस अंशसे आत्मा के सम्यग्ज्ञान है [तेन अंशेन अस्य बंधनं नास्ति]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस अंशमे इस आत्माके कर्मबंध नहीं है [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे इसके राग है [तेन अंशेन अस्य बंधनं भवति] उस अंश से इसके कर्मबंध होता है। [येन अंशेन चरित्रं] जिस अंश से चरित्र है [तेन अंशेन अस्य बंधनं नास्ति] उस अंश से इस आत्माके कर्मबंध नहीं है [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे इसके राग भाव है [तेन अंशेन अस्य बंधनं भवति) उस अंशसे इसके कर्मबंध होता है।

विशेषार्थ—आत्मा अनंत गुणों का पिंड है, आठकर्मोंने आत्मा के भिन्न गुणों को आच्छादित कर रक्खा है। जितने अंश जो कर्म आत्मा से पृथक् हो जाता है अथवा उपशम रूप से बैठ जाता है उसी अंश में आत्मा का गुण प्रगट हो जाता है। जहाँ पर समस्त कर्मों का आत्मासे पृथक्करण हो जाता है वहाँ आत्मा सर्वथा विशुद्ध बन जाता है वहीं उसका मोक्ष है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि गुणों की पूर्ण प्रगटता आत्मा का पूर्ण मोक्ष अथवा पूर्ण संसारनाश है और उन गुणों की एकदेश प्रगटता आत्मा की एकदेश मोक्ष अथवा एकदेश संसारच्छेद है। गुणों का प्रगट होना संसारच्छेद अथवा मोक्षप्राप्तिका ही नियम के कारण कभी किसी अपेक्षासे नहीं हो सकता। अन्यथा यदि एकदेश गुणों की प्रगटता एकदेश कर्मबंधका कारण होगी तो उनकी सर्वथा पूर्णरूप से कर्मबंधका कारण होना चाहिये। वैसी अवस्था में सिद्धोंके पूर्ण कर्मबंध होना चाहिये, सो नहीं होता, किंतु जिसके जितना अधिक रागभाव है उसी के अधिक कर्म-बंध होता है। जिसके रागभाव की मात्रा कुछ कम है उसके कर्मबंध भी कम होता है जैसे योगीजन बहुत अंशों में कषायभावों को नष्ट कर देते हैं इसलिये उनके कर्म का भार भी बहुत हल्का हो जाता है, उसीका फल उनके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि समुन्नत गुणों को वृद्धि पाया जाता है। इससे यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि इस जीव के जितने अंशमें राग भाव है उतने ही अंशमें कर्मबंध है अर्थात् रागादि अशुद्ध परिणाम ही कर्मबंधका हेतु है। आत्मा के निजीगुण कर्मबंधके कारण नहीं हो सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि जिन आत्माओंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र आदि गुण प्रगट हो चुके हैं उन आत्माओं के कर्मबंध भी पाया जाता है, जब कि रत्नत्रय आत्मीय गुण कर्मबंधके कारण नहीं हैं तब उनके कर्मबंध क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि उन आत्माओंमें पूर्ण रत्नत्रय अभी नहीं है जहां रत्नत्रय हो जाता है वहां फिर आत्माकी तत्काल ही नियमसे मोक्ष हो जाती है। पूर्ण रत्नत्रय चतुर्दश गुणस्थान आयोगकेवली केअन्त समयमें होता है इसलिए उस गुणस्थान में कर्मबंध सर्वथा नहीं होता और अन्त समय में ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ पंचम छठे आदि गुणस्थानवर्ती जीवात्मा के एकदेशरूप से रत्नत्रय है इसलिये उसके कर्मबंध होता है। फिर यहाँ शंका होती कि जब पूर्ण रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं है तो एकदेश रत्नत्रय भी उसका कारण नहीं होना चाहिये फिर एकदेशरत्नत्रयधारी आत्माके कर्मबंध क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि जब पूर्णरत्नत्रय कर्मबंधका कारण नहीं है तो उसका एकदेश भी कर्मबंधका कारण नहीं हो सकता। जिसके सर्वदेशका जैसा स्वभाव होता है उसके एकदेशका भी वही स्वभाव होगा क्योंकि एकदेश एकदेश मिलकर ही तो सर्वदेश बनता है। परंतु जहांपर एकदेश रत्नत्रय है वहां एकदेश दूसरी वस्तु है। एकदेश कहने से ही यह बात प्रगट हो जाती है कि उस रत्नत्रयकी एकदेश ही प्रगटता अभी हो पायी है, एकदेश–अंशको अभी किसी प्रतिपक्षीने दबा रक्खा है। जो प्रतिपक्षी है उसी का नाम रागभाव है। एकदेशमें अभी रागभाव स्थान पाये हुए है। इसलिये आत्मामें रत्नत्रयधारीके जो कर्मबंध हो रहा है वह उसी रागभावका परिणाम है। अर्थात् कर्मबंध जितना भी होता है वह रागभावके उदय में ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। एकदेशरत्नत्रयधारी आत्मामें रागभाव अभी उपस्थित है इसलिये उसके उसी रागभावसे कर्मबंध होता है जितने अंशोंमें आत्मा में रत्नत्रय गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रगट हो चुका है उतने अंशोंमें आत्मामें कर्मबंध नहीं होता। इतना और विशेष है कि जो रागभाव अशुभकर्मोंका बंध करता था वह रत्नत्रय के सहवाससे शुभ करने लगता है। इससे यह भी समझना भूल है कि रत्नत्रय शुभ कर्मबंधमें कारण होता है। रत्नत्रय तो किंचिन्मात्र भी कर्मबंधमें कारण नहीं है किंतु उसके प्रगट होने से आत्माका परिणाम इतना विशुद्ध बन जाता है कि वह अशुभ प्रवृत्ति करने से हट जाता है परंतु अभीतक रागभाव उदयमें आ रहा है इसलिये वह भी अपना कार्य करता ही है। विना रत्नत्रयके वह अपना कार्य अशुभ प्रवृत्तिरूप करता था अब रत्नत्रयके एकदेश प्रगट होनेसे वह शुभमें प्रवृत्ति करने लगता है। जितने अंशों में रत्नत्रय गुणकी वृद्धि होती जाती हैं और रागभावकी कमी होती जाती है उतने अंशोंमें शुभप्रवृत्ति–शुभ कर्मबंध भी घटता जाता है विशुद्ध परिणाम बढ़ता जाता है। जहांपर रत्नत्रय बढ़ते बढ़ते पूर्ण हो जाता है, वहांपर रागभाव भी सर्वथा नष्ट हो जाता है इसलिये वहां फिर आत्मामें केवल विशुद्ध परिणाम रहता है, उस अवस्थामें कर्मबंध सर्वथा नहीं होता, इस कथनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि रागभाव ही कर्मबंध का कारण है, रत्नत्रय नहीं।

बंधका कारण

योगात् प्रदेशबंधः स्थितिबंधो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ—(योगात् प्रदेशबंधः) योगसे प्रदेशबंध (भवति) होता है (कषायात्) कषायसे (स्थितिबंधःभवति) स्थितिबंध होता है (तु) परंतु (दर्शनबोधचरित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (न योगरूपं कषायरूपं च) न तो योगरूप ही है और न कषायरूप ही है।

विशेषार्थ—बंधके चार भेद बताये गये हैं, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति,अनुभाग। जिसप्रकार नीमकी कडुवापन प्रकृति-स्वभाव है, गुड़का मीठापन प्रकृति है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इमलीका खटापन प्रकृति है, मिरचका चरपरापन कृति है। इसीप्रकार आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण कर्मकी ज्ञानको घात करनेकी प्रकृति है, अर्थात् ज्ञानको ढकनेका स्वभाव ज्ञानावरण कर्ममें है, दर्शनको ढकनेका स्वभाव दर्शनावरणमें है, दर्शनावरण कर्म आत्माके सत्तावलोकन रूप दर्शनको ही ढकता है। अव्याबाध गुणको वेदनीय कर्म ढकता है, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको मोहनीय कर्म ढकता है, अवगाहन गुणको आयुकर्म ढकता है सूक्ष्मत्व गुणको नामकर्म ढकता है; अगुरुलघु गुणको गोत्रकर्म ढकता है, और वीर्य गुणको अंतरायकर्म ढकता है। इस प्रकार प्रकृति स्वभावका नाम है भिन्न २ कर्मों में भिन्न २ गुणोंको ढकने का स्वभाव है। स्वभाव और स्वभाव वालेमें अभेद होता है इसलिये जिस कर्मकी जो प्रकृति है उसके निमित्तसे उस प्रकृतिके धारण करने वाले कर्मका भी वही नाम है। अर्थात् कर्मका स्वभाव-प्रकृति कहलाती है परन्तु कर्म भी प्रकृति के नाम से कहा जाता है। ये प्रकृतियां कार्माणवर्गणाओं में नियत हैं, जिस प्रकार का आत्मा के परिणामों में विकार का आधिक्य होता है उसी प्रकार की प्रकृति में अधिक रसदानशक्ति भी हो जाती है। इसप्रकार भिन्न भिन्न आठ कर्मों का बंध करना प्रकृतिबंध कहलाता है। प्रदेशबंध वह वह कहा जाता है कि आत्मा के समस्त-असंख्यात प्रदेशों में जो अनंतानंत कार्माणवर्गणाओं का कर्मपर्याय-रूप परिणमन होकर संबंधविशेष-आत्मप्रदेश और कर्मप्रदेष इन दोनों का एकक्षेत्रावगाहित्व हो जाता है अर्थात् अनंतानंत संख्या में जिन कर्मप्रदेशों का आत्मा के साथ संबंध हो जाता है वही प्रदेशबंध के नाम से कहा जाता है। ये दोनों प्रकार के बंध प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योगों से होते हैं, मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इनमें से किसी एक वर्गणा केअवलंबन से जो आत्मा के देशों के हलन चलन होता है वही योग कहलाता है। जिस समय उक्त तीनों वर्गणाओं में से अन्यतम किसी एक वर्गणाके आश्रय से आत्मप्रदेशों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में हलन चलन होता हैउसी समय संसार में सर्वत्र भरे हुए और आत्मा के साथ संबंधित कर्मों के प्रत्येक परमाणुके साथ विना बंधके लगे हुए अनंतानंत कर्माणवर्गणाओं रूप परमाणुसमूह (विस्त्रसोपचय) आत्मा के साथ बंधकको प्राप्त हो जाते हैं, तभी उन कार्माणवर्गणाओं की कर्मपर्याय होजाती है, विना बंधके कर्मपर्याय नहीं होती। श्लोकमें योग से केवल देशबंध कहा गया है, परन्तु वह उपलक्षण है। प्रदेशके कहने से प्रकृतिबंध भी गृहीत होता है जैसा कि श्री गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह आदि शास्त्रों में कहा गया है—"जोगा पयडि-पदेसा" अर्थात् योगों से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। स्थितिबंध वह कहा जाता है कि जो अपनी अपनी समय-मर्यादा को लेकर कर्म आत्मामें ठहरते हैं, जिन कर्मों की स्थिति पूर्ण हो जाती है वे आत्मा से संबंध छोड़ देते हैं उसी को कर्मका नाश कहते हैं। कारण कि कर्मपर्याय तभीतक रहती है जबतक कि उन परमाणुओं का आत्मासे संबंध है, संबंध हटनेपर कर्म-संज्ञा अथवा कर्मपर्याय नष्ट होकर कार्माण संज्ञा हो जाती है, अन्यथा पर्याय को छोड़कर मूलनाश किसीका नहीं होता है। कर्मोंमें दर्शनमोहनीय-कर्मकी स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरप्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति है इससे बढ़कर किसी कर्म की स्थिति नहीं पड़ती। चारित्रमोहनीय की चालीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। गोत्रकर्म की बीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मोंकी—प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। नामकर्मकी स्थिति बीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। आयुकर्मकी स्थिति केवल तेतीस सागर-प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति की मर्यादा है। जघन्य—कमसे कमवेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी—प्रत्येक की आठ मुहूर्त है, बाकीके समस्त कर्मोंकी जघन्य स्थिति एक अंतर्मुहूर्तकी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभागबंध वह कहा जाता है जो कर्मों में विपाक अर्थात् उनमें रस देने की शक्ति की तीव्रता या मंदताका होना है। शुभपरिणामों से कर्मों में शुभ विपाक होता है। और अशुभपरिणामोंसे अशुभविपाक होता है। कर्मोंके दो भेद हैं—एक घातियाकर्म, अघातियाकर्म। ज्ञानावरण. दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म घातिया हैं अर्थात् आत्माके सत्तात्मक गुणों का घात करते हैं इनमें जो उदयकाल में फलदान शक्ति का विकाश होता है वह अशुभरूपसे ही होता है और उसका परिणाम आत्मामें क्रमसे लता दारु अस्थि और शैल रूप से होता है। जिसप्रकार लता काष्ठ हड्डी और पाषाणमें उत्तरोत्तर कठोरता बढ़ी हुई है उसीप्रकार घातिया प्रकृतियोंमें—देशघातिक और सर्वघातिक प्रकृतियोंमें क्रमसे गुणघातकी शक्तिबढ़ती गई है। अघातिया कर्मोंमें शुभ अशुभके भेदसे प्रकृतियोंके दो भेद हैं। अशुभ प्रकृतियोंमें क्रमसे मंदता तीव्रता के भेदसे नीम, कांजीर; विष और हलाहलके समान भेद हो जाते हैं कुछ परमाणु नीमकी कटुकताके समान कटुक फल देते हैं, । कोई उससे अधिक कटुक कांजीरके समान फल देते हैं; कोई उससे भी अधिक विषके समान आत्माके गुणोंका घात करते हैं और कुछ कर्मपरमाणु इतना अधिक रस देते हैं जैसे कि हलाहल (जहर) सेवन करते ही मरण कर देता है उसी प्रकार वे कर्मपरमाणु आत्मीय गुणोंका सर्वथा घात कर देते हैं। शुभ प्रकृतियोंमें गुड़, खांड़ शर्करा और अमृत इनके समान चार प्रकार का विपाक होता है। जिसप्रकार गुड़से अधिक मिठास और स्वाद खांडमें उससे अधिक शक्करमें उससे अधिक अमृतमें होता है उसीप्रकार अघातिया कर्मोंके कुछ कर्मपरमाणु गुड़के समान हलका शुभफल देते हैं कुछ खांडके समान और कुछ शर्कराके समान मीठा और उत्तम फल देते हैं कुछ कर्मपरमाणु अत्यंत मधुर फल देते हैं। नामकर्मके शुभ भेदोंमें तीर्थंकर प्रकृति आदि अमृतके समान विपाकमें फल देनेवाले हैं। स्थितिबंध और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभागबंध दोनों कषायसे होते हैं। श्लोकमें केवल स्थितिबंधको ही कषाय से बतलाया है परंतु वह केवल उपलक्षण है स्थितिबंधसे अनुभागबंधका भी ग्रहण समझना चाहिये इसप्रकार जब चारोंप्रकारके बंधोंका कारण योग और कषाय है तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न तो योगरूप ही हैं और न कषायरूप ही हैं इसलिये वे बंधके कारण किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते हैं। जिसका जो कारण है उसीसे वह कार्य हो सकता है। जैसे कपड़ा तंतुसे ही बन सकता है, मिट्टीसे नहीं। इसीप्रकार कषाय और योग ही बंधके कारण हैं उन्हींसे बंधरूप कार्य हो सकता है, सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे नहीं।

रत्नत्रयसे बंध क्यों नहीं होता ?

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रंकुत एतेभ्यो भवति बंधः ॥२१६॥

अन्वयार्थ—[दर्शनं] सम्यग्दर्शन [आत्मविनिश्चितिः] आत्माकी प्रतीति [इष्यते] कहा जाता है। [आत्मपरिज्ञानं] आत्माका सम्यक्प्रकार ज्ञान करना [बोधः] बोध सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। [आत्मनेस्थितः] आत्मामें स्थिर होना लवलीन होना, [चारित्रं] सम्यक्चारित्र कहा जाता है। [एतेभ्यः कृतः बंधो भवति] इनसे बंध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

विशेषार्थ—आत्मामें ही अपनी प्रतीति-दृढ़ता, आत्मामें ही अपना ज्ञान और आत्मामें ही अपनी चर्या अर्थात् लीनता जहांपर होती है, वह निश्चय रत्नत्रय होता है। अर्थात् जिससमय आत्मीयगुण सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र प्रगट हो जाते हैं उससमय निश्चय रत्नत्रय कहलाता है। गुण आत्मासे अभिन्न है इसलिये उसका स्वरूप आत्मामें ही व्यक्त होता है। ऐसी अवस्थामें उनसे (रत्नत्रयसे) कर्मबंध कभी नहीं हो सकता। यदि आत्माके गुणोंसे ही बंध होने लगेगा तो फिर आत्माकी मुक्ति असंभव हो जायेगी। अथवा मुक्तात्माओंके भी बंध होने लगेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर आत्माको संसारसे छुड़ानेका एवं मोह जाल त्यागने आदिका सब उपदेश व्यर्थ ही पड़ेगा इसलिये बंधके कारण योग और कषाय ही है रत्नत्रय नहीं।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों का भी बंधक नहीं है

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बंधः।
योप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोपि दोषाय ॥ २१७॥

अन्वयार्थ—[सम्यक्त्वचरिताभ्यां] सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे [तीर्थंकराहारकर्मणो बंधः] तीर्थंकर और आहारक कर्मोंका बंध होता है [यः अपि समये उपदिष्टः] जो यह भी शास्त्र में उपदेश किया गया है [सोपि] वह भी [नयविदां] नयों के जाननेवालोंको [नदोषाय] दोष दायक नहीं है।

विशेषार्थ—शास्त्रों में यह कथन भी तो पाया जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे तीर्थंकर तथा आहारक कर्मोंका बंध होता है फिर ऊपर का यह कथन कि रत्नत्रयसे कर्मबंध नहीं होता विरुद्ध पड़ता है। ऐसी अवस्थामें कौनसा कथन ठीक समझा जाय? जिनकी ऐसी शंका है उनके लिए यह समझ लेना चाहिये कि जैनशास्त्रोंका जितना भी कथन है सब सापेक्ष है, जो अपेक्षा को समझते हैं उन्हें जैनशास्त्रोंमें कहीं विरोध प्रतीत नहीं होता है इसप्रकार अज्ञानतावश विरोध समझनेवालोंको शास्त्रोंका रहस्य समझनेकी चेष्टा करना चाहिये। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारकप्रकृतिका बंध होता है इस शास्त्रकथनमें क्या अपेक्षा है; अर्थात् ऐसा कथन किस अपेक्षा से किया गया है? इसका स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वयं नीचे करते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबंधकौ भवतः।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासोनमः ॥२१८॥

अन्वयार्थ – [सम्यक्त्वचरित्रे सति] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके रहने पर [योगकषायौ] योग और कषाय [तीर्थंकराहारबंधकौ भवतः] तीर्थंकर और आहारक प्रकृतियोंके बंधक होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं [तस्मात्] इसलिये [तत्पुनः] वे फिर [अस्मिन्] इस बंध के विषयमें [उदासीनं] उदासीन हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र जिस समय आत्मामें प्रकट हो जाते हैं, उस समय आत्माकी परिणति विशुद्ध हो जाती है। तथा अशुभ से निवृत्त होकर शुभमें प्रवृत्त होकर शुभमें प्रवृत्त हो जाती है और प्रवृत्ति मात्र बंधका कारण है ही। मन बचन काय जनित व्यापारका नाम ही प्रवृत्ति हैं। वही कर्मों के आस्रवका कारण है। प्रवृत्तिरूप व्यापारके हुए बिना कर्मोंका आस्रव नहीं हो सकता, कारण जिससमय आत्मा मन वचन काय इनमेंसे किसी वर्गणाका अवलंबन लेकर हलन चलन रूप किया करता है, उसी समय कर्मोंका आस्रव होता है। इसलिए आस्रव का कारण योग है तथा आत्मामें उदयमें आये हुए जो रागद्वेषरूप सकषाय परिणाम हैं वे ही आये हुये कर्मों के बंधक हैं इसीलिये कर्मों का बंध दसवें गुणस्थान तक ही होता है। आगे कषायभाव नहीं है इसीलिये कर्म ठहरते नहीं हैं। बंध करनेकी शक्ति कषायमें ही है परन्तु कर्मोंका आगमन तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान तक होता है। कारण कि वहाँ तक योगोंकी प्रवृत्ति रहती है परंतु चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानमें वह भी नहीं है इसलिये वहाँ कर्मोंका आना भी रुक जाता है, इससे भली भांति सिद्ध है कि कर्मों के बंधमें कारण योग और कषायभाव है।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र कर्मबंधमें कारण नहीं हैं, फिर उनके रहने पर तीर्थंकर आहारक प्रकृतियोंका बंध क्यों होता है इसका स्पष्टीकरण यही है कि जिससमय सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र गुण आत्मामें प्रकट नहीं होते हैं उससमय भी योग कषाय कर्मबंध करते रहते हैं तथा उनके प्रगट हो जानेपरभी योग कषाय कर्मबंध करते रहते हैं। इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र गुणके प्रगट हो जानेसे आत्माकी अशुभ प्रवृत्ति दूर होजाती है, शुभ प्रवृत्ति होने लगती है अर्थात् आत्मा अधर्म को छोड़कर धर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। इसीलिये शुभ प्रवृत्ति होनेके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण शुभ प्रवृत्ति-तीर्थंकर आहारक आदि का बंध होने लगता है। यह पहले कहा जा चुका है कि शुभप्रवृत्तिसे–शुभ योगोंसे एवं प्रशस्त रागसे शुभबंध होता है और अशुभ प्रवृत्तिसे–अशुभ योगोंसे एवं अप्रशस्त रागसे अशुभबंध होता है। शुभ अशुभ दोनोंका बंध करनेवाले योग कषाय ही हैं। रत्नत्रय बंधके विषयमें सर्वथा उदासीन है। भावार्थ–जिस प्रकार नलसे पानी बराबर आता रहता है, परंतु जिससमय उस नलपर छन्ना (शोधनवस्त्र–पानी छानने का कपड़ा) लगा दिया जाता है तो उस समय भी पानी तो आता है परंतु गदला और जीवजंतुसहित पानीका आना रुक जाता है, साफ उज्ज्वल पानी आने लगता है। यहांपर पानी छानने का वस्त्र पानी आनेमें कारण नहीं है, पानी आनेमें तो वह उदासीन है, पानी आनेमें कारण तो पानी छोड़नेका समय और नलकी टोंटीका खुला रहना है। यदि पानी आनेका समय नहीं है और टोंटी बन्द है तो छन्ना लगाने या हटानेसे वह पानी रुक भी नहीं सकता है। इसलिये छन्ना पानीके आने में तो उदासीन है परन्तु उसके रहनेसे जो पानी आता है वह साफ मिट्टी तृण आदिसे रहित उज्ज्वल आता है उसके बिना मलिन आता है इसलिए छन्ना उज्ज्वलतामें साधक हो जाता है, परन्तु पानीके आनेमें नहीं। उसी प्रकार रत्नत्रय आत्मामें प्रगट हो जाय तो भी योगकषायोंके रहते हुए कर्मबंध अवश्य होता है और उनके नहीं प्रगट होनेपर भी योगकषायोंके रहते हुए कर्मबंध अवश्य होता है। योगकषायोंके अभाव में रत्नत्रयके रहते हुए भी कर्मबंध नहीं होता इसलिये रत्नत्रय कर्मबंध के विषयमें तो पानीके आनेमें छन्नाके समान उदासीन है परंतु रत्नत्रयके रहते हुए योग-कषाय शुभ एवं प्रशस्त हो जाते हैं इसलिए उनसे तीर्थंकर आहारक आदि शुभ प्रकृतियोंका बंध होने लगता है। रत्नत्रयके रहते हुए योगोंके शुभ होनेसे शुभबंध होता है इसी अपेक्षासे रत्नत्रयको तीर्थंकर आहारक प्रकृतियोंका बंधक कह दिया गया है। वास्तवमें वह बंधका कारण नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है प्रत्युतः बंधका रोकनेवाला है। क्योंकि बंधका कारण मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र हैं उन्हींसे अनंत संसारका बंध होता है। सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रके प्रगट हो जानेपर उन मिथ्या भावोंका अभाव हो जाता है फिर अनन्त संसारका बंध आत्मामें नहीं होता। जो कषाय बाकी रह जाते हैं वे ही कर्मबंध करते रहते हैं। ज्यों ज्यों चारित्र गुणको आत्मामें प्रकर्षता बढ़ती जाती है त्यों त्यों वे कषाय भी घटते जाते हैं इसलिए कर्म बंध भी हलका होने लगता है। जिससमय पूर्ण चारित्रगुण प्रगट हो जाता है उससमय कषायभाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वैसी अवस्था में फिर कर्मबंध नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्दर्शनने मिथ्यात्वजनित कर्मबंध को रोक दिया और सम्यक्चारित्रने कषायजनित कर्मबंधको रोक दिया इसलिए रत्नत्रय कर्मबंधका रोकनेवाला है, उसे कर्मबंध करनेवाला ठीक नहीं।

फिर सम्यक्त्वको देवायुका कारण क्यों कहा गया ?

ननु कथमेवं सिद्धयतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबंधः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां॥ २१९॥

अन्वयार्थ--(ननु) शंका होती है कि (रत्नत्रयधारिणां) रत्नत्रय धारण करनेवाले (मुनिवराणां) मुनिवरोंके (सकलजनसुप्रसिद्धः) समस्तजनोंमें प्रसिद्ध (देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबंधः) देवायुको आदि लेकर शुभ प्रकृतियोंका बंध (एवं कथं सिद्धयतु) इसप्रकार कैसे सिद्ध होगा ?

विशेषार्थ--शास्त्रों में यह बताया गया है कि सम्यग्दर्शनसे देवायुका बंध होता है जैसा कि श्री तत्त्वार्थमहाशास्त्रका सूत्र है कि "सम्यक्त्वं च" इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन देवायुके बंधका कारण है। तथा रत्नत्रयधारक मुनियोंके शुभप्रकृतियोंका बंध होता है ऐसा भी शास्त्रोंमें कहा गया है यह बात सभी पुरुष जानते हैं; जब कि ऊपरके कथनानुसार रत्नत्रय बंधना कारण नहीं है तो फिर देवायु आदिका बंध उससे होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ? अर्थात् देवायु आदिका बंध रत्नत्रय से सिद्ध नहीं होगा परन्तु शास्त्रों में बतलाया गया है सो कैसे ?

उत्तर .

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोयमपराधः ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ—[इह] इस लोकमें अथवा इस आत्मामें [रत्नत्रयं निर्वाणस्य एवं हेतुः] रत्नत्रय निर्वाणका ही कारण [भवति] होता है [अन्यस्य न] और किसीका-बंधका नहीं [तु] फिर [यत् पुण्यं आस्रवति] जो पुण्य का आस्रव होता है (अयं अपराधः शुभोपयोगः) यह अपराध शुभ उपयोगका है ।

विशेषार्थ—रत्नत्रय मोक्षका ही कारण है । रत्नत्रय कर्मबंध करनेमें कारण सर्वथा नहीं है । यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है फिर जो पुण्य प्रकृतियोंका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका ही अपराध है । अर्थात् शुभोपयोग ही बंधका कारण है ।

भिन्न भिन्न कारणोंसे भिन्न भिन्न कार्य होते हैं

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोपि रूढिमितः॥२२१॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (एकस्मिन्) एक आत्मामें (समवायात्) समवाय होनेसे (अत्यंतविरुद्धकार्ययोः अपि) अत्यंत विरुद्ध कार्य करनेवालोंमें भी (यथा घृतं दहति) जिस प्रकार घृत जलाता है (इति व्यवहारः] यह व्यवहार होता है [अपि तादृशः व्यवहारः] उसीप्रकार वैसा व्यवहार [रूढिं इतः] प्रसिद्ध हुआ है ।

विशेषार्थ—जहांपर दो विरुद्ध पदार्थोंका भी संबंध विशेष हो जाता है । वहांपर एकके कार्यको दूसरेका कार्य कह दिया जाता है प्रायः ऐसा व्यवहार लोकमें देखा जाता हैं । जैसे घृतका स्वभाव शीतल है, उसके लगाने से शरीरमें शांति आती है । फिर भी जिस समय उसे अग्निमें तपा दिया जाता है और अग्नि तथा घृतके परमाणुओंका एकमएक हो जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससमय अग्निका कार्य जलाना होने पर और घृतका कार्य शीतलता होनेपर भी अग्निका संपर्क होनेसे यह कह दिया जाता है कि घृत जलाता है। यद्यपि अग्निका कार्य जलाना है घीका नहीं है तथापि अग्नि के संबंधसे घीको भी जलाने वाला कहा जाता है, उसीप्रकार एक आत्मामें रत्नत्रय भी प्रगट हो चुका है, और शुद्धोपयोगके नहीं प्रगट होने तक जो शुभोपयोगका कार्य है उसे रत्नत्रयका कार्य कह दिया जाता है। इसी व्यवहारके कारण शुभोपयोगसे होनेवाले पुण्यबंधको रत्नत्रयका कार्य कहा जाता है। वास्तवमें रत्नत्रय घीकी शीतलताके समान केवल मोक्षका ही कारण है।

रत्नत्रय मोक्षलाभ कराता है

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषं ॥२२॥

अन्वयार्थ—[सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र लक्षण (इति एषः मोक्षमार्गः) इसप्रकार त्रितयात्मक यह मोक्षमार्ग (मुख्योपचाररूपः) मुख्य और उपचार स्वरूप (पुरुषं) पुरुष-आत्माको [परं पदं] उत्कृष्ट पदको [प्रापयति] प्राप्त करा देता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है यह रत्नत्रय दो भेदोंमें बंटा हुआ है एक निश्चयरत्नत्रय, दूसरा व्यवहाररत्नत्रय। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षका साधक है। वह आत्मा प्रतीति, आत्मबोध और आत्मतत्परतारूप है और व्यवहाररत्नत्रय निश्चय का साधक है वह भी परंपरा मोक्षका कारण है। व्यवहाररत्नत्रय जीवादि तत्त्वोंमें यथार्थ प्रतीत करनेसे, उनका यथार्थ ज्ञान करनेसे और व्रतसमिति गुप्ति धर्म, आदि सदाचरण व्रताचरण पालन करनेने होता है। व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि प्रवृत्तिस्वरूप है फिर भी निवृत्तिका पूर्णसाधक है, निश्चय रत्नत्रय तो निवृत्तिस्वरुप है ही। यह दोनोंप्रकारका ही रत्नत्रय इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्माको परमात्मा पदपर पहुंचा देता है।

परमात्माकी मोक्षावस्था

नित्यमपि निरुपशेषः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरित विशदतमः ॥२२३॥

अन्वयार्थ—(नित्यं अपि) सदा ही (निरुपलेषः) कर्मरजसे रहित (स्वरूपसमवस्थितः) अपने निजरूपमें भलेप्रकार ठहरा हुआ (निरुपघातः) उपघातरहित—अर्थात् जो किसीसे घाता न जाय (विशदतमः) अत्यंत निर्मल ऐसा (परमपुरुषः) उत्कृष्ट पुरुष—परमात्मा (गगनमिव) आकाशके समान (परमपदे) उत्कृष्ट पद में—लोक शिखरके अग्रतम स्थानमें अथवा उत्कृष्ट स्थान—निजस्वरूपके पूर्ण विकाशमें (स्फुरति) स्फुरायमाण होता है।

विशेषार्थ—जब आत्मा एकबार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब वह सदाके लिये कर्मरजसे मुक्त हो जाता है फिर भी उसपर कोई उपलेप—रज नहीं लगा सकता है। कारणकि कर्मरज रागद्वेषसे लगता है, शुद्ध आत्मा में रागद्वेषकी संभावना कभी नहीं हो सकती, इसलिए रागद्वेषविहीन शुद्धात्मामें फिर कभी कर्मरज नहीं लग सकता। शुद्धात्मा—परमात्मा समस्त बाह्यविकारोंसे हटकर अपने निजस्वरूपमें स्थिर हो जाता है। कर्मों-में सर्वथा रहित आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप अमूर्तस्वभावमें आ जाता है इसलिये उसका फिर किसी पदार्थसे घात नहीं हो सकता। समस्त कर्मों से रहित आत्मा अत्यंत विशुद्ध आकाशके समान निर्मल हो जाता है। ऐसा परम विशुद्ध परमात्मा लोकशिखरके अग्रभागमें विराजमान हो जाता है फिर वहांसे उसका कभी आवागमन अथवा किसीप्रकारकी अशुद्धता किसी भी निमित्तसे तीनकालमें नहीं हो सकती।

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानंदनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ—(परमात्मा) कर्मरजसे सर्वथा विमुक्त शुद्धात्मा (परमपदे) उत्कृष्ट निज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपरूप पदमें (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होकर ठहरता है (सकलविषयात्मा) समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला बन जाता है (परमानंदनिमग्नः) परमानंदमें निमग्नहो जाता है। (ज्ञानमयः) ज्ञानस्वरूप उसका निजरूप है ऐसा वह परमात्मा (सदैव नंदति) सदैव आनंदरूपसे रहता है।

विशेषार्थ—परमात्माका स्वरूप यही है कि वह जिससमय परमात्मपदमें पहुँच जाता है उससमय कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उस अवस्था में उसे कोई कार्य करनेके लिये बाकी नहीं है। सब कुछ कर चुका। यह कृतकृत्य अवस्था भी परमात्माको क्यों प्राप्त होती है ? वह क्यों नहीं कुछ कार्य करता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है, कार्य किया जाता है इच्छा से और आवश्यकता आदि कारणोंसे, परमात्माके न इच्छा है और न किसी वस्तुकी आवश्यकता आदि ही उसे है। संसारमें जो कोई भी कुछ कार्य करता है वह किसी वस्तुकी चाहनासे ही करता है, दूसरे करनेवालेके रागद्वेष होता है। ईश्वर इन दोनों बातोंसे रहित है। इच्छाको—चाहनाको लोभकी पर्याय माना गया है। परमात्मा क्रोध मान माया लोभ इन सब प्रकारके कषायभावोंसे विरक्त है। और न उसे कोई कार्य करना बाकी है, वह तो सब झंझटोंसे मुक्त होकर अपने आत्मीय स्वरूपमें तल्लीन रहता है। इसलिए जो लोग परमात्माका स्वरूप जगत्कर्तृत्व कल्पना करते हैं वे उसके स्वरूप का विपर्यास करते हैं जगतकर्तृत्व परमात्माका स्वरूप नहीं बन सकता। जगत् सदा अनादि निधन स्वयंसिद्ध है, उसे कोई नहीं बनाता। दूसरे परमात्मा लोक अलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करता है। परमात्माका प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे नहीं होता किंतु आत्मासे साक्षात् होता है। जो ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है वह अधूरा मलिन परोक्ष होता है। इसलिए परमात्मा सकल पदार्थोंका ज्ञान साक्षात् अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा करता है। परमात्मा सांसारिक वासनाओंसे और उनसे होनेवाले सुख दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो चुका है इसलिए वह सदा आत्माके निजगुण निजरसनिर्भर आनंदमें निमग्न रहता है। आत्माका निज सुख सांसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न है। वह आत्माका ही स्वरूप है। आत्मा परमात्मपदमें पहुँचकर उसी आत्मीय सुखमें निमग्न होता हुआ सदा वीतराग ज्ञानमय चैतन्य भावोंका आनंद प्राप्त करता रहता है। उस आनंदमें इच्छा नहीं है, सरागबुद्धि कहीं है किसीप्रकारका विकारभाव नहीं है, किंतु वीतरागभाव औदासीन्य एवं स्वस्वरूपावलोकन है।

जैन नीति अथवा अपेक्षाविवेचना

एकेनाकर्षंती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी ॥ २२५॥

अन्वयार्थ—(मंथानेत्रं) दही मथनेकी नेती को (गोपी इव) ग्वालिनके समान [जैनी नीतिः] जिनेंद्रभगवानकी कही हुई नय विवक्षा [वस्तु तत्वं] वस्तुस्वरूपको [एकेन आकर्षंती] एक से खींचती हुई [इतरेण श्लथयंती] दूसरीसे शिथिल करती हुई [अंतेन जयति] अंतिमसे अर्थात् दोनोंकी सापेक्षतासे जयवती होती है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार ग्वालिन दहीको बिलोती हुई एक रस्सीको अपनी ओर खींचती है दूसरी रस्सीको ढीली करती है, यद्यपि रस्सी एक होनेपर भी रईमें लिपटी हुई रहनेके कारण दो भागोंमें बट जाती है, उसे गोपिका दोनों हाथोंमें पकड़कर दही बिलोती है उस समय वह एक हाथ से एक ओरकी रस्सीको अपनी ओर खीचती है उसीसमय दूसरी हाथकी रस्सी को ढीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बढ़ा देती है, इसप्रकार परस्पर एकको खीचनेसे दूसरीको ढीली करनेसे वह मक्खन (लोनी) निकाल लेती है। श्लोकमें आये हुये नेत्र शब्दका नोंती अर्थ है। नोंती उसी रस्सी को कहते हैं जिससे वह मक्खन निकालता है। ठीक गोपीकी नोंतीका दृष्टांत जैनेनिति अर्थात् जैनधर्मकथितनयवाद—अपेक्षाकथनपर लागू होता है। जैनधर्म प्रत्येक वस्तुका प्रतिपादन अपेक्षासे करता है। अपेक्षासे प्रतिपादन करनेका नाम ही नयवाद है। जैनसिद्धांतानुसार एक अपेक्षा दूसरी अपेक्षाकी सहयोगितासे ही ठीक वस्तु विचार कर सकती है अन्यथा नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनसिद्धांतमें दो अपेक्षाऐं मूलभूत हैं जिनसे कि वस्तुका यथार्थ बोध किया जाता है। एक द्रव्यार्थिकनय, दूसरी पर्यायार्थिकनय। पहली नय द्रव्यको विषय करती है. पर्यायको गौणदृष्टिसे देखती है। दूसरी पर्यायको मुख्यतासे विषय करती है, द्रव्यको गौणदृष्टिसे देखती है। जिस समय पदार्थका विवेचन द्रव्यार्थिकनयसे किया जाता है उस समय नित्यताकी प्रधानता रहती है, अनित्यताकी गौणता रहती है। जिस समय पर्यायार्थिक-नयसे विवेचन किया जाता है उस समय अनित्यताकी मुख्यता हो जाती है, नित्यताकी गौणता हो जाती है। वस्तु द्रव्यपर्याय स्वरूप है। इसका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण कोई न कोई परिणाम धारण करती रहती है ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका प्रतिक्षण परिणाम न हो और ऐसा कोई समय नहीं जिसमें प्रतिक्षण वस्तुमें परिणाम न हो परंतु किसी वस्तुका मूल नाश कभी नहीं होता। कोई भी वस्तु अपनी वस्तुता को कभी नहीं छोड़ती। केवल उसकी अवस्था बदलती रहती है। जैसे जीवद्रव्य तो सदा रहता है, देवपर्याय, नरकपर्याय, तिर्यंचपर्याय मनुष्यपर्याय सभी पर्यायोंमें एक ही जीवद्रव्य घूमता फिरता है, उसकी पर्याय बदलती रहती है परंतु जीवद्रव्य एक ही रहता है। अंतमें मुक्त अवस्थामें भी वही जीवद्रव्य पहुँचकर सदाके लिये स्वरूपमें लीन हो जाता है। इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यमें वस्तुताका नाश नहीं होता, पर्यायें नष्ट हो जाती हैं। जैसे एक वृक्षके परमाणु जलकर भस्म होनेपर भस्मस्वरूप हो जाते हैं, पश्चात् वे ही परमाणु फिर खातका स्वरूप धारणकर वृक्षरूप परिणत हो जाते हैं अथवा जलके परमाणु वृक्षमें पहुँचकर वृक्षरूप हो जाते हैं। जो दियासलाई पृथ्वीरूप कही जाती है वही घिसनेपर अग्निरूप परिणित हो जाती है। इसलिये वस्तुओंकी पर्याय तो नष्ट होती रहती है परंतु वस्तुका मूलनाश कभी नहीं होता है। जीवद्रव्य सदा जीवरूप ही रहता है, वह कभी जीव-स्वरूपको नहीं छोड़ सकता। पुद्गल सदा पुद्गलरूप ही रहता है वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने स्वरूपको कभी छोड़ नहीं सकता। इसीप्रकार सभी द्रव्योंकी व्यवस्था है। जब वस्तुकी इसप्रकार व्यवस्था है तब उसका विवेचन भी उसी रूप से किया जाता है जिस रूपसे कि वह है। द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही वस्तुके अंश हैं। दोनों अंशस्वरूप ही वस्तु हैं परंतु दोनों अंशोंका विवेचन युगपत् नहीं किया जा सकता। एकसमयमें एकही अंशका विवेचन हो सकता है। इसलिए एकसमयमें द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे विवेचन किया जाता है और एकसमयमें पर्यायदृष्टिसे अनित्यताकी मुख्यतासे विवेचन किया जाता है, परंतु इतना विशेष है कि जिससमय द्रव्यदृष्टिसे विवेचन होता है उससमय पर्यायका लक्ष्य छूट नहीं जाता है किंतु गौणरूपसे किया जाता है और जिस समय पर्यायदृष्टिसे विवेचन होता है उससमय द्रव्य का लक्ष्य छूट नहीं जाता है किंतु गौणरूपसे किया जाता है। यदि एक नयके विवेचनमें दूसरा नय सर्वथा छोड़ दिया जाय तो वस्तुका यथार्थ कथन हो ही नहीं सकता है क्योंकि वस्तु उभयस्वरूप है इसलिए एक दृष्टिके कथनमें दूसरी दृष्टिकी सापेक्षता अवश्य रक्खी जाती है। जहाँ एक दृष्टिके कथनसे दूसरी दृष्टिकी सापेक्षता नहीं रक्खी जाती वहाँ वह एकांत दृष्टि कहलाती है, ऐसा एकांत कथन मिथ्या है, उससे वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन नहीं होता। इसलिए जिसप्रकार कपड़ेमें अनेक तंतु परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुये ही कपड़ोंकी सिद्धिमें समर्थ होते हैं विना परस्पर की अपेक्षा रक्खे निरपेक्ष तंतु कपड़ेरूप कार्यकी सिद्धि नही कर सकते, इसीप्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नय परस्पर एक दूसरेकी सापेक्षता रखती हुई वक्ताका विवक्षानुसार एक मुख्य और दूसरी गौण हो जाती है। इसी परस्पर सापेक्षताको छोड़ देनेसे एवं एकांत पक्षपर आरूढ़ रहनेसे सर्वथा अनित्यताको माननेवाला बौद्धदर्शन तथा नित्यताको मानने वाला सांख्यदर्शन, सर्वथा एक माननेवाला वेदांतदर्शन आदि अनेक जैन दर्शनसे भिन्न दर्शन वस्तु की यथार्थता के विवेचक नहीं कहे जा सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके सर्वथा नित्यता अनित्यता आदि सिद्धांतोंका निर्मूल उच्छेद प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुव्यवस्थासे स्वयं हो जाता है जब कि वह द्रव्यपर्यायात्मक रूपमें प्रत्येक बुद्धिमानके अनुभवमें आती है इसलिये परस्पर सापेक्षता रखनेवाले नयों द्वारा वस्तुविवेचन करनेवाला तथा प्रमाणद्वारा दोनों अंशोंको विषय करनेवाला जैनसिद्धांत ही जगत्में अबाध अखंड–युक्तिप्रमाणसिद्ध सदा जयशाली है इसी जैनधर्म की प्रमाणतासे वस्तु कंथचित् नित्य, कंथचित् अनित्य, कंथचित् एक, कंथचित् अनेक रूप है। उसे सर्वथा नित्य अथवा अनित्य आदि रूपमें कहना वस्तुकी वस्तुताका अलाप करना है। वैसा एकांतकथन युक्तिप्रमाणसे बाधित हो जाता है। इसलिये अनेकांत रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करने वाली जैनी नीति–श्रीजिनेंद्रदेव द्वारा प्रतिपादन की गई जैनसिद्धान्तकी अनेकांत विवक्षा जगत्में सदा निर्बाध रूपसे जय शाली प्रवर्तित है।

ग्रन्थ समाप्त करते हुये आचार्य अपनी लघुता बतलाते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥२२६॥

अन्वयार्थ—[चित्रैः] अनेक प्रकारके–स्वर व्यंजन [वर्णैः] वर्णोंसे–अक्षरोंसे [पदानि कृतानि] पद किये गये हैं (तु) और (पदैः) पदोंसे (वाक्यानि कृतानि) वाक्य किये गए हैं [वाक्यैः] वाक्यों से [इदं पवित्रं शास्त्रं कृतं] यह पवित्र शास्त्र किया गया है। [पुनः अस्माभिः न] फिर हमने कुछ नहीं किया है।

विशेषार्थ—श्रीमान् परमपूज्य आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि महाराज इस महान् ग्रंथ श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायको समाप्त करते हुए अपनी लघुता बताते हुए कहते हैं कि इस शास्त्रके बनानेमें मैंने कुछ नहीं किया है। जो कुछ इस शास्त्रमें श्लोक है वे सब मेरी निजकी कुछ संपत्ति नहीं है, श्लोकोंकी सब सामग्री जगत्में उपस्थित है। उसीका संग्रह यह श्लोकनिबद्ध शास्त्ररचना है। जगत्में स्वर अ आ इ ई आदि अनादिसिद्ध उपस्थित ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं तथा व्यंजन भी क ख ग घ आदि भी अनादिसिद्ध उपस्थित हैं। जैसा कि श्रीदिगम्बर जैनाचार्यप्रणीत श्रीकातन्त्ररूपमालामें "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" इस प्रथम सूत्रद्वारा वर्णोंको अनादि सिद्ध बताया गया है। इसलिए स्वर व्यंजनरूप अक्षर तो जगत्में अक्षर (अविनश्वर) हैं ही। ये अक्षर पुद्गलकी पर्यायरूप हैं। इन्हीं भिन्न भिन्न अक्षरों का समुदाय मिलकर जब विभक्त्यंत बन जाता है तब उस विभक्त्यंत समुदायकी पदसंज्ञा कही जाती है। जिस वर्णसमुदायके अंतमें सुप् अथवा तिङ् रूप विभक्ति अंतमें लगा दी जाती है वह पद कहलाता है। तथा जिन पदों के साथ अर्थ सम्बन्ध की पूर्णतासूचक क्रिया का समावेश किया जाता है वह वाक्य कहा जाता है। तथा वाक्योंके समुदायसे अनुष्टुप्, आर्या, स्रग्धरा, वसंततिलका, शिखरिणी आदि श्लोकोंकी रचना हो जाती है और उन्हीं श्लोकों का समूह अर्थात २२६ दो सौ छब्बीस श्लोकों की संख्यामें इस परम पवित्र शास्त्रकी रचना हो गई है। इस रचनामें मूल तत्व वर्ण हैं, वे लोकमें प्रसिद्ध एवं अनादि सिद्ध हैं। अवशिष्ट पद वाक्य श्लोक आदि सब उन्हीं का समुदाय है, ऐसी अवस्थामें इस पवित्र शास्त्रकी रचनामें मेरी निजकी कुछ संम्पत्ति नहीं है। अर्थात् संसार इसे मेरी कृति समझकर मुझे महत्व नहीं दे। यहां पर स्वामी अमृतचन्द्र सूरिके अगाध रहस्यपूर्ण शास्त्रों के रसास्वाद करनेवाले पाठकों को यह बताना व्यर्थ है कि उक्त आचार्य किस कोटिके आचार्य हैं, इनकी गणना महान् उद्भट आचार्योंमें परिगणित है। विशेषता यह है कि इनकी कृतिमें जो द्रव्यनिरूपणा, नयविवेचना, अनेकांतनिदर्शना; शुद्धात्मप्रदर्शना आदि अनुपम सुधारसकी छटा है वह एक निराली ही है। इनकी कृतिका पाठ करनेवाला इनकी अपूर्व सुन्दर शब्दरचना एवं तत्त्वगांभीर्यपूर्ण भावभंगीको देखकर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष विना ग्रंथकारका नाम देखे ही कह सकता है कि यह परमपूज्य स्वामी श्री अमृतचंद्रसूरिकी कृति है। इन्होंने जिन श्रीपंचाध्यायी, तत्त्वार्थसार, समय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारकलश; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि शास्त्रोंका प्रणयन किया है वे महा-शास्त्र आज विद्वज्जनता में कितनी आदरपूर्ण दृष्टिसे देखे जाते हैं यह बात किसीसे छिपी नहीं है, फिर ऐसे महान् आचार्य कहाँ तक अपनी लघुता प्रगट करते हैं ? इस लघुतासे पाठकों एवं श्रोताओंके हृदयपर कितना उच्च प्रभाव पड़ता है ? यह बात इनके ग्रंथों के स्वाध्याय करनेवाले स्वयं अनुभव करते हैं ।

जो लोग थोड़ेसे साक्षर बनकर अपनेको उद्भट विद्वान् प्रगट करनेकी चेष्टा करते हैं; जो अपनी नगण्य कृतिको बड़ा रूप देना चाहते हैं, जो ग्रंथोंके समझनेतककी अजानकारी रखते हुए भी आर्षग्रंथोंमें त्रुटियां देखने तकका दुःस्वप्न देखते हैं एवं जो महर्षियोंके अनुभवपूर्ण आगमानुसार शास्त्रोंके अभिप्रायोंसे प्रतिकूल–स्वतंत्र रचना करनेका विद्वन्निंद्य दुःसाहस करते हैं उन सबोंका परमपूज्य आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि महाराजके परम सरल शुद्ध भावोंके दिग्दर्शनसे केवल लज्जित ही होकर नहीं रह जाना चाहिये किंतु उनकी अत्यंत महनीय सरलता को परम उच्चादर्श मानकर उनके बताये हुए आदेशको सर्वज्ञ-आज्ञा समझकर उसपर मन वचन कायकी दृढतापूर्वक गमन करना चाहिये ।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिन प्रवचनरहस्यकोषकी वादीभकेशरी न्यायालङ्कार पं० मक्खनलालशास्त्री कृत भव्यप्रबोधिनी नामक हिन्दीटीका समाप्त हुई ॥

समाप्तश्चायं ग्रंथः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org